Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हिन्दी नवजागरण और जातीय गद्य परम्परा

कर्मेन्दु शिशिर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हमारी भाषा के यशस्वी कथाकार श्री कर्मेन्दु शिशिर ने जिस प्रकार अपनी कहानियों और उपन्यासों के जरिए भारतीय जन, विशेषकर हिन्दी जनपद की वास्तविकता और अस्मिता के सर्वथा नए रूपों को प्रतिष्ठा दी है, उसी प्रकार ज्ञान और चिंतन के क्षेत्र में हिन्दी जनपद का जो गौरवशाली आसन्न अतीत है, उसका भी उत्खनन किया है तथा नवजागरण को एक असमाप्त अध्याय मानते हुए बाद के बिखरे-विच्छिन पृष्ठों को एकत्र करने तथा उस अध्याय का एक नया स्वर्णिम पाठ संयोजित करने का अत्यंत महत्त्वपूर्ण यत्न किया है। यह पुस्तक उसी यत्न का सुफल है।

कर्मेन्दु शिशिर ने नवजागरण की मुख्य अवधारणा को रेखांकित करते हुए उसके विकास एवं प्रसार को समझने का एक नया उपक्रम किया है। उनके अनुसार नवजागरण के मुख्य अवयव थे— हिन्दू-मुसलमान की एकता, धार्मिक रूढ़ियों-पाखंडों का पर्दाफाश, भारतीय भाषाओं के वर्चस्व का आंदोलन, किसानों, देशी उद्योगों और कारीगरों का पक्ष पोषण, साम्राज्यवादी शोषण और लूट का विरोध, स्त्रियों-दलितों का उत्थान, सामाजिक जड़ता के विरुद्ध प्रगतिशील और आधुनिक विचारों का वरण एवं विज्ञान, नई तकनीक और नए उद्योगों को आमंत्रण। साथ ही साथ भारतीय इतिहास की गरिमा की प्रतिष्ठा, व्यापक सार्वजनिक शिक्षा, भारतीय ज्ञान-विज्ञान की मीमांसा और औपनिवेशिक संस्कृति का विरोध। इससे लगता है कि सचमुच ही नवजागरण का कार्यभार आज भी शेष है। नवजागरण के संदर्भ में हिन्दी जातीयता के निर्माण और इस जातीयता के उद्‌गारस्वरूप विकसित हो रहे गद्य का विवेचना करते हुए कर्मेन्दु शिशिर कहते हैं कि 'हिन्दी जातीयता का निर्माण सामंत विरोधी था और इसकी गद्य परम्परा का स्वरूप साम्राज्य विरोधी।' इस गद्य को वह 'आत्मा की आंख' मानते हैं एक ऐसी आंख जो हिन्दी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

G.M. College of Education
Raipur, Bantalab
Jammu.
Acc No. 4282
Dated 14.12.2023

आत्मीय अग्निशेखर के लिए

अप्रैल 2008
पटना

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हिन्दी नवजागरण और जातीय गद्य परम्परा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हिन्दी नवजागरण और जातीय गद्य परम्परा

अग्निशेखर और क्षमा कौल
द्वारा यह
पुस्तक सप्रेम भेंट

कर्मेन्दु शिशिर

आधार प्रकाशन
पंचकूला (हरियाणा)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ISBN : 978-81-7675-208-4

मूल्य	:	300 रुपये
सर्वाधिकार	:	लेखक
प्रथम संस्करण	:	2008
प्रकाशक	:	आधार प्रकाशन प्रा. लि. एस.सी.एफ. 267, सेक्टर-16 पंचकूला-134 113 (हरियाणा) E-mail : aadhar_prakashan@yahoo.com
आवरण	:	प्रियंका
मुद्रक	:	बी.के. आफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली

Hindi Navjagran Aur Jaatiya Gadya Pramapra
Ed. by Karmendu Shishir
Price : Rs. 300.00

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रकाश चन्द्रायन के लिए

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कलाकार अपने देश तथा वर्ग का संवेदनशील ग्रहणकर्त्ता है—उसके कान, आंख तथा हृदय है। वह अपने युग की आवाज है। उसका कर्त्तव्य है कि जितना कुछ जान सकता हो, जाने और अतीत को वह जितना भली-भांति जानेगा, वर्तमान को उतना ही अधिक तरह समझेगा और उतनी ही गहराई और सूक्ष्मता से वह हमारे समय की सर्वव्यापी क्रांतिकारी तथा उसके कार्यभारों की व्यापकता को बोधगम्य कर सकेगा।

— म. गोर्की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अग्निशेखर और क्षमा कौल
द्वारा यह
पुस्तक सप्रेम भेंट

अनुक्रम

अपनी बात	9
हिन्दी जातीयता और गद्य परंपरा	17
हिन्दी नवजागरण	38
नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चंद्र	65
हिन्दी नवजागरण और प्रेमघन का गद्य	74
हिन्दी नवजागरण और राधाचरण गोस्वामी	98
हिन्दी नवजागरण और माखनलाल चतुर्वेदी	117
नवजागरण के सिपाही मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव	135
जातीय गद्यकार आचार्य शिवपूजन सहाय	146
नवजागरण के होलटाइमर सत्यभक्त	152
एक आंदोलन थे रामवृक्ष बेनीपुरी	174
सांस्कृतिक शिल्पकार जगदीशचन्द्र माथुर	180
एक फकीर जननायक पीर मुहम्मद मूनिस	193
बिहार की नदियों के भगीरथ हवलदार त्रिपाठी सहृदय	202
नलिन विलोचन शर्मा	209
डॉ. रामविलास शर्मा का हिन्दी नवजागरण : पक्ष-विपक्ष	214
मुक्तिबोध का गद्य	225
जातीय परम्परा के क्लासिक कवि केदारनाथ अग्रवाल	244
लोकजन का सजल मन नागार्जुन	248
त्रिलोचन का गद्य	255
रेणु की ग्रामीण संवेदना	259

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अपनी बात

जब कोई समाज या देश लंबे समय तक पराधीन रहता है तो उसमें जड़ता आ जाती है और धीरे-धीरे उसका क्षय शुरू हो जाता है। इसलिए मुक्ति या स्वाधीनता का सवाल उसके लिए सबसे मूल्यवान होता है। पराधीन समाज या देश का पतन विभिन्न स्तरों पर होता है, विभिन्न रूपों में होता है। बहुत कुछ यह पराधीन करने वाली ताकतों की शक्ति और प्रकृति पर भी निर्भर करता है। अगर विजातीय समाज का शासन हो तो पतन के स्वरूप और स्तर भी भिन्न होंगे। अगर अपनी जाति का हो तो उसका असर भिन्न होगा। भारतीय समाज की यह विडंबना रही कि एक ओर वह जहां देशी सामंतों की पराधीनता में रहा तो दूसरी ओर विजातीय ब्रिटिश साम्राज्यवादी अधीनता रही। जाहिर था इस दोहरे दबाव में भारतीय समाज की स्थिति लगातार दयनीय और दुखद होती गई। लेकिन समाज कोई जड़ और स्थिर इकाई नहीं होती। हर समाज को अपनी गतिशीलता में इतिहास मौका देता है और ऐसा दौर आता है, जब उसकी जड़ता टूटती है। लंबे समय की पराधीनता में ठहरे और पिछड़े समाज में हलचल शुरू होती है, वह नई करवटें लेता है और विभिन्न क्षेत्रों में जागरूकता फैल जाती है। तब परिवर्तन के नए अंकुर फूटते हैं और बदलाव की प्रक्रिया आगे बढ़ती है। यही परिघटना उस समाज के लिए नवजागरण है जिसे वह युग परिवर्तन के रूप में याद करता है। कोई समाज या देश जब अपनी अस्मिता पहचान लेता है और वह उठ खड़ा हो संघर्ष करता है तो बड़ी से बड़ी ताकत को उसका हक वापस करना पड़ता है।

हम भक्तिकाल को लोकजागरण के रूप में याद करते हैं। ऐसा काल-खंड जिसमें घोर अंधकार के बावजूद स्त्रियों, निम्न वर्गों और दलित जातियों तक से अनेक संत निकलकर आए। इन सबने गहन नैराश्य में नए जीवन को स्वर दिया। ध्यान देने वाली बात यह है कि जब समाज एक विजातीय शासक की गुलामी में था और राजनीतिक स्तर पर पराजित था-तब इस समाज ने सांस्कृतिक स्तर पर अपना चरमोत्कर्ष अर्जित किया था। इसलिए नवजागरण की उपस्थिति हर क्षेत्र

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

में समान हो— यह कोई जरूरी नहीं। हम किसी एक या एक से अधिक क्षेत्रों में पिछड़े भी रह सकते हैं। दरअसल उत्कर्ष-अपकर्ष की इस असमानता के कारण उस समाज की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिकता और सांस्कृतिक अवस्थाओं पर निर्भर होते हैं। साथ ही उस समाज के स्वभाव, संस्कार और समझ की भी अपनी भूमिका होती है। विडंबना यह रही कि सांस्कृतिक चरमोत्कर्ष के बावजूद न सिर्फ हमें राजनीतिक मुक्ति मिली बल्कि, भक्तिकाल से आधुनिक काल तक के लंबे काल-खंड तक समाज में सुप्तावस्था कायम रही। बहुत बाद में 19वीं शताब्दी के आसपास आदिवासियों के क्षेत्रीय विद्रोहों और कुछ धार्मिक सुधारवादी आंदोलनों से सुगबुगाहट शुरू हुई लेकिन उसका निर्णायक असर नहीं हुआ। पहली बार सन् 1857 के स्वाधीनता संग्राम में हमारे समाज का पौरुष पूरे वैभव के साथ प्रभावशाली रूप में सामने आया और सशस्त्र विद्रोह का सिलसिला लगातार दो वर्षों तक चलता रहा। असफलता के बावजूद यह हमारे समाज में प्रेरणा का एक अमर अध्याय बन गया। समाज में मुक्ति की आकांक्षा पलने लगी और उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियों में परिवर्तन की कसमसाहटें उजागर होने लगीं। तब से अंग्रेजी शासन के समाप्त होने तक इस संग्राम की प्रेरणादायी अनुगूंजें बनी रहीं। सन् 1857 का स्वप्न भिन्न रूप में ही सही लेकिन सन् 1947 में साकार हुआ। अब इन लगभग सौ वर्षों के विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न मोर्चों पर हमारे समाज ने जो संघर्ष किया, वह सपाट और इकहरा नहीं था। हिन्दी नवजागरण का जो स्वरूप सन् 1857 में था, वही सन् 1947 तक नहीं रहा। उसमें वैविध्य और विस्तार आया। इस सबका जीवित साक्ष्य ही नवजागरण साहित्य है।

हिन्दी नवजागरण हमारे निकटतम अतीत का आईना है। पराधीनता के समय हमारी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था कैसी थी? उसमें किस तरह बदलाव आते गए? हम कितनी तरह की पराधीनता भुगत रहे थे और उनसे मुक्ति की हमारी क्या कोशिशें थीं? किन-किन स्तरों पर हमारा शोषण हो रहा था और हम उससे किस तरह जूझ रहे थे? हमारे भीतर जागरूकता कैसे पैदा हुई, विकसित हुई, हम किस तरह संगठित हुए और अंततः हमने किस तरह विभिन्न मोर्चों पर संघर्ष किया? हमारे संघर्ष के स्वरूप में कितना वैविध्य था, कितनी भिन्नता थी, अलग-अलग मोर्चों पर किन लोगों ने नेतृत्व किया और किन तरीकों से लड़े, उन सबका निजी और सामूहिक योगदान क्या था— ये तमाम साक्ष्य ही हिन्दी नवजागरण का साहित्य है।

संभव है आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता और वैश्वीकरण के दौर में हिन्दी नवजागरण की चर्चा भी लोगों को अटपटी लगे, कुछ को ना-गवार भी लग

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सकती है क्योंकि आज हिन्दी नवजागरण और उनके सेनानियों के प्रति उपेक्षा, आक्रमण और उपहास के भाव-स्तर अक्सर सुनाई दे जाते हैं। हिन्दी समुदाय की बात तो दूर, अधिकांश हिन्दी लेखकों के लिए भी हिन्दी नवजागरण एक समाप्त अध्याय है— एक गुजरा अतीत। इसके बारे में हिन्दी ने आखिरी बहस पूरी कर इसे इतिहास में यथास्थान रख दिया है। मौजूदा समय में इस पर विचार की कोई गुंजाइश नहीं। बावजूद कोई पिछड़ी मानसिकता का हठी इसकी चर्चा पर आमादा है तो इससे उन हिन्दी लेखकों की चिंतन-भंगिमा पर कोई फर्क नहीं पड़ता। बेशक इनमें से कई हिन्दी लेखकों की उदासीनता या चुप्पी का कारण संभव है— अनभिज्ञता या सरोकार का अभाव हो। अन्यथा वैचारिक स्तर पर नवजागरण के प्रति उनका रुख भी सकारात्मक है। मगर जो उपेक्षा, आक्रमण और उपहास के भाव-स्वर व्यक्त कर रहे हैं वे लोग ऐसे नहीं हैं। वे हिन्दी नवजागरण के साक्ष्यों से गहरे परिचित हैं, जो सोच-समझकर सायास ऐसा कर रहे हैं। ये अपनी मानसिक बनावट और प्रकृति में ही हिन्दी के लिए विजातीय हैं— बाहरी घुसपैठिए! ये लोग हिन्दी नवजागरण के वजूद पर ही प्रश्नचिन्ह खड़ा कर इसे विवादग्रस्त कर देना चाहते हैं, नकार देना चाहते हैं, अथवा बहस को भ्रमित कर देना चाहते हैं। दरअसल इनकी नीयत संदिग्ध है। ये लोग तथ्यों को समय-संदर्भ से अलग, इच्छित तरीके और तर्कों से इस अवधारणा को ही क्षतिग्रस्त कर देना चाहते हैं। यह बात समझने वाली है कि आखिर ऐसे लोग ऊर्जवसित निकटतम अतीत से हमें क्यों विमुख करना चाहते हैं? ये उससे अलग कर समकालीनता में हमें निहत्था कर देना चाहते हैं। नवजागरण से वंचित हो हिन्दी समाज का वैचारिक धरातल इतना सपाट और समतल हो जाए कि उत्तर-आधुनिकता और वैश्वीकरण के वृक्षों को निर्विघ्न रोपा जा सके। संभव है मौजूदा समय में इन घातक वृक्षों के प्रति इनका तेवर बहुत उग्र दिखे लेकिन इनके नाभि-नाल रिश्ते की पहचान आसानी से की जा सकती है। इसलिए हिन्दी नवजागरण को लेकर एक विवेकसम्मत सजगता, जागरूकता और संस्कार बनाए रखना ही पर्याप्त नहीं है। इतना तो किसी हिन्दी रचनाकार की पहली नागरिक शर्त होनी चाहिए। जरूरत इस नवजागरण के असमाप्त संघर्ष को लक्ष्य तक ले जाने की है। इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाने की है। बिना सार्थक और सकर्मक संवाद के हम हिन्दी नवजागरण के महत्त्व को महसूस नहीं कर सकते।

हिन्दी नवजागरण भी कोई स्थिर इकाई नहीं रही है। इसमें भी परिवर्तनकामी गतिशीलता रही है जिसे क्रमशः विस्तार और विकास की शक्ल में आगे तक देखा जा सकता है। बेशक गहन छानबीन की जरूरत पड़े, इसके स्वरूप में

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संशोधन, परिमार्जन और संवर्द्धन भी करना पड़े लेकिन इसे नकारने का अपराध तो भाषा और समाज के लिए अक्षम्य है। आखिर इसके प्रति हमारा क्या रुख हो? यह कैसे तय हो? यह होगा हमारे आज के समय, समझ और सरोकारों के आधार पर! बिना ऐसा किए हिन्दी नवजागरण से सार्थक रिश्ता कायम नहीं हो सकता। हिन्दी नवजागरण कोई पाठ्यक्रम नहीं है। उससे सचेत और सार्थक संवाद के लिए अपने समय की गहरी जरूरतों का एहसास होना आवश्यक है। इसी से हिन्दी नवजागरण के प्रति हमारा सलूक तय होगा। इधर वास्तविकता यह है कि अभी तक हिन्दी नवजागरण पर बुनियादी काम तक नहीं हुए। इसकी जानकारी तक नहीं कि हिन्दी नवजागरण की जो विपुल सामग्री ओट में है— वह क्या है? दुःखद स्थिति यह है कि उसमें कितना नष्ट हो चुका, कितना नष्ट हो रहा है और कितना विनाश के कगार पर है। काफी कुछ तो हमारे लिए विस्मृत हो चुका है। पहले उन सबको बचाने का उपक्रम करना ज्यादा जरूरी काम है।

जो लोग हिन्दी नवजागरण के स्वरूप पर सवाल उठाते रहे हैं, वे कुछ परम्पराओं को तो स्वीकार करते हैं, कुछ को नकारते हैं, कुछ नई परम्पराओं के संकेत देते हैं, तो कुछ में बदलाव की अपेक्षा व्यक्त करते हैं— ऐसे लोग हिन्दी नवजागरण की अवधारणा और बहस को न सिर्फ समृद्ध करते हैं बल्कि इसे आगे बढ़ा रहे हैं क्योंकि वे समकालीनता में इसकी प्रासंगिकता को ज्यादा सार्थक और सकर्मक नजरिए से समझने की कोशिश करते हैं। सांप्रदायिकता, दलित और स्त्री विषयक मामलों में अधिकांश बहसों को इसी रूप में देखा जा सकता है। इसलिए भी नवजागरण की सामग्री को उपलब्ध किए जाने की जरूरत है। इसमें और तेजी से व्यवस्थित रूप में योजनाबद्ध होकर काम करने की जरूरत है क्योंकि इसका बड़ा हिस्सा लोकभाषाओं का विशाल वाङ्मय है, जो विचार-परिधि में अभी तक शामिल नहीं हो सका है। हिन्दी की लोकभाषाओं के नवजागरण साहित्य की बिना छानबीन से हम हिन्दी भाषी जनता की भूमिका को रेखांकित नहीं कर सकते। हमारे जनपदों में नवजागरण किन रूपों में किस तरह मौजूद था— इसके लिए हमें लोकभाषाओं के समीप जाना होगा। हिन्दी के विभिन्न जनपदों में नवजागरण सेनानियों की मौजूदगी रही है और उनकी गाथाएं वहां के लोगों की स्मृतियों में अमर हैं। लोकगीतों, लोकगाथाओं से किंवदंतियों तक विभिन्न रूपों में वे उसे स्मरण करते आए हैं। कई जनपदों में उनकी लोकभाषा में उनके जननायकों की तत्कालीन हलचलों को महसूस किया जा सकता है। उर्दू साहित्य में उर्दू भाषी समाज में नवजागरण की तलाश और मूल्यांकन का कार्य भी पता नहीं किस हालत में है? सिर्फ हिन्दी-उर्दू की साझी संस्कृति के विचार-कथन से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

काम नहीं चल सकता— जरूरत इसे सिद्ध करने वाली सामग्री को सामने लाने की है जिससे दोनों भाषाओं में हुए चिंतन के अभेद पक्षों को सामने लाया जा सके। जब तक हम इसकी सामूहिक जिम्मेदारी नहीं समझते, तब तक यह किसी एक या दो के बूते से संभव नहीं है।

हिन्दी नवजागरण से जुड़ा ही जातीय परम्परा का सवाल भी कम जटिल नहीं है। लोग सवाल उठा रहे हैं कि हिन्दी जातीयता की जो वैचारिक अवधारणा खड़ी की गई है, वह तो राजनीतिक या सांस्कृतिक स्तर पर वास्तविक रूप में मौजूद ही नहीं है। ऐसी स्थिति में तब क्या इसे हम काल्पनिक मान लें? अगर अवधारणा की वास्तविक उपस्थिति को ही आधार मानें तो मार्क्सवादी और गांधीवादी अवधारणा भी काल्पनिक माननी होगी क्योंकि दोनों वास्तविक रूप से मौजूद नहीं हैं। फिर आज देश में जिस तरह भारतीय वैविध्य को समाप्त कर एकरूपता लाई जा रही है और इसके वास्तविक प्रमाण भी मौजूद हैं तो क्या हमें इसे स्वीकार कर लेना चाहिए? दरअसल किसी अवधारणा को यथार्थ में बदलना ही मुख्य कार्यभार होता है। विचारणीय प्रश्न यह है कि आखिर ऐसा क्यों नहीं हो पा रहा है? इसलिए हमें ऐतिहासिक विकास क्रम में बाधक और साधक शक्तियों पर विचार करना होगा। इस अवधारणा के यथार्थ होने में आने वाले अवरोधों को समझना होगा और उसके अनुरूप संघर्ष की दिशा तय करनी होगी।

अगर हम हिन्दीभाषी क्षेत्रों में विभिन्न जनबोलियों की इकाई पर ध्यान केन्द्रित करें तो हमारे सामने नया कार्यभार दिखाई देगा। प्रत्येक जनबोली का अपना जातीय स्वभाव, संस्कार और सोच मिलेगी। फिर उनकी स्वायत्त जातीयता का ऐसा विकास करना होगा जो समवेत रूप में हिन्दी जातीयता में अपना योगदान दे सके। क्योंकि हमारी जातीय अवधारणा की मूल प्रकृति ही राष्ट्रीय और विश्व-बंधुत्व की है। इतना ही नहीं, हमें हिन्दी-उर्दू की साझी जातीय अवधारणा के विकास में भी मौजूद गतिरोधों को इसी दृष्टिकोण से बदलना होगा। अब हम अगर हिन्दी और उसकी जनबोलियों तथा उर्दू के साथ संपर्क, सलूक और संवाद की बदलती स्थितियों पर गौर करें, उसे प्रभावित करने वाली नीतियों, व्यवहारों और विचारों का आकलन करें तो बहुत सारे कारण स्पष्ट होंगे कि आखिर हिन्दी जातीयता का वास्तविक स्वरूप क्यों नहीं उभर सका? हमारी अंदरूनी और बाहरी अवस्था की इसमें क्या भूमिका रही?

हिन्दी जातीयता का संघर्ष हिन्दी समाज में मौजूदा अंदरूनी और बाह्य अंतर्विरोधों और दबावों की अनदेखी करके नहीं चल सकता। हिन्दी जातीयता कोई संकीर्ण अवधारणा नहीं है और न ही यह संकीर्णता से विकसित हो सकती

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है। बहुतों का ख्याल है कि हिन्दी नवजागरण की सोच जातीयता और राष्ट्रीयता की संकीर्णता तक सीमित है जबकि ऐसा समझने वालों के पास तो आधुनिक विश्व दृष्टि है। नवजागरण सेनानी तो कम पढ़े-लिखे थे और इनके पास तो समर्थ आधुनिक पांडित्य है लेकिन जो लोग नवजागरण की मूल स्रोत सामग्री से परिचित हैं वे ऐसा नहीं सोच सकते। हिन्दी नवजागरण के अधिकांश सेनानी अपने समय के अत्यन्त सक्रिय और जागरूक पाठक थे। वे कई भारतीय भाषाओं के साथ पाश्चात्य साहित्य को मूल में पढ़ते थे। उनके अध्ययन का क्षेत्र भी व्यापक और विस्तृत था। तत्कालीन विश्व की बौद्धिक समकालीनता से वे गहरे परिचित थे। दुनिया की विभिन्न हलचलों और उथल-पुथल को वे बारीकी और विस्तार से समझते थे। साथ ही उसके राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय प्रभावों की सघन छानबीन कर अपने समय के अनुरूप विचारों को पूरे सामर्थ्य से रखते थे। ज्ञान और सभ्यता के विविध विकास ने बेशक हमें समय में आगे खड़ा कर बहुत सारी नेमतें सौंप दी हैं और हम उनके प्रति निर्णायक तेवर अपनाने की सुविधा में हैं। लेकिन जो बातें उन्हें विशिष्ट बनाती हैं, उसमें एक है उनका अपने समय-समाज से सकर्मक सरोकार और उसकी अपेक्षाओं के अनुरूप संघर्ष और समर्पण! यही नैतिक बल और अनुभव उन्हें विशिष्ट और मूल्यवान बनाता है।

प्रस्तुत लेखों में एकरूपता को लेकर थोड़े असमंजस के भाव उठ सकते हैं। लेकिन थोड़ी सहानुभूति से देखने पर ये अकारण या अतार्किक नहीं लगेंगे। इनमें जो रचनाकार प्रत्यक्ष रूप से नवजगरण की गोद में पले-पनपे उनमें कुछ सुज्ञात, कुछ अल्पख्यात तो एक-दो ऐसे भी हैं जो क्षेत्रीय परिधि से बाहर तक पहुंच की हैसियत नहीं रखते। बावजूद इन्हें शामिल करने के पीछे समझ यह है कि नवजागरण को सरजमीं पर उतारने वालों की भी एक लंबी कतार रही है, जिन्हें अंतिम रूप से विस्मृत नहीं कर देना चाहिए। इतिहास में किसी अवधारणा को यथार्थ में बदलने वालों की कतार में गौण की भूमिका भी मूल्यवान होती है। उन्हें इतिहास से लगातार ओझल करते जाने से समकालीन संघर्ष में शामिल लोगों की प्रेरणा भी प्रभावित होती है। इसलिए इन्हें इसी कतार के प्रतिनिधि-प्रतीक के रूप में लिया जाना चाहिए। दूसरी बात यह कि इनमें कुछ पर किंचित विस्तार से चर्चा है तो कुछ के सीमित पक्षों को ही लिया गया है। सामग्री और संसाधन के अभाव से हम अपना बचाव करना नहीं चाहेंगे। कोई भी काम आखिरी नहीं होता, इसलिए संक्षिप्त और सीमित होने के बावजूद इन्हें इस अपेक्षा से शामिल किया गया कि आने वाले सुधीजन आधे-अधूरे कामों को अपेक्षित रूप में पूरा करेंगे। निःसंदेह यह कड़ी बहुत लंबी है, जिस पर काम करने की महती जरूरत है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नवजागरण के कई रचनाकारों को लेकर कुछ काम हुए भी हैं लेकिन जो बिल्कुल उपेक्षित हैं उन पर समय रहते यथाशीघ्र काम होना चाहिए। कम से कम अमृत लाल चक्रवर्ती, लक्ष्मीनारायण, माधवराव सप्रे, रमाशंकर अवस्थी, काशीप्रसाद, जायसवाल, विजयसिंह पथिक, संतराम बी.ए., सत्यदेव परिव्राजक, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, स्वामी भवानीदयाल संन्यासी— ये ऐसे नाम हैं जिनके बारे में थोड़ी-बहुत जानकारी उपलब्ध है। ऐसा बिल्कुल संभव है कि अगर नवजागरण की समग्र सामग्री की छानबीन हो तो यह नामावली और लंबी हो सकती है। ऐसे भी लोग मौजूद हैं जो अपने अनुभव और अध्ययन से इसमें और नाम सुझाएं।

जहां तक मूनिस जी या सहृदय जी जैसे अल्पख्यात या क्षेत्रीय लोगों का प्रसंग है, इसमें उनके कार्य और योगदान के आधार पर ही चयन-विवेक से निर्णय लेना होगा। शेखर पाठक ने पहाड़ के माध्यम से इस दिशा में स्तुत्य कार्य किया है। ग्वालियर के इतिहासकार हरिहर द्विवेदी के प्रति वहां की प्रलेस इकाई ने कभी ध्यान आकृष्ट किया था। इसके अलावा एक बड़ा क्षेत्र जनपदों के इतिहास का है। इस दिशा में भी कुछ कार्य हुए हैं। अभी सुधीर विद्यार्थी ने 'बीसलपुर' को लेकर एक नायाब काम किया है। उन्होंने क्रांतिकारियों के लेखन और योगदान को लेकर जो कार्य किए हैं, उससे लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। उन्होंने अपने लेखन से नवजागरण में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका को इस तरह से रखा है कि आज के संघर्ष में उनकी प्रासंगिकता सिद्ध हो सके। डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र ने नवजागरण की मूल-स्रोत सामग्री से गुजरकर जो कुछ किया है, उसे आधार बनाकर इस दिशा में आगे का रास्ता सुगम हो सकता है। काम को लेकर सच्ची लगन हो तो ऐसे लोगों का महत्त्व और उपयोग आसानी से समझ में आ सकता है। डॉ. धीरेन्द्रनाथ सिंह (खडगविलास प्रेस की भूमिका), डॉ. भगवतीप्रसाद शर्मा (नवजागरण और प्रतापनारायण मिश्र), डॉ. मधुकर भट्ट (बालकृष्ण भट्ट : व्यक्तित्व और कृतित्व) जैसे अकादमिक क्षेत्रों में काम करने वालों की परम्परा भी मौजूद रही है। डॉ. मनोहरलाल ने चन्द्रधर शर्मा गुलेरी को लेकर जो बुनियादी कार्य किया, वह एक मूल्यवान योगदान के रूप में लिया जाना चाहिए। हमें अपने काम और उद्देश्य के अनुरूप अपेक्षित लोगों को सम्मान देने, सरोकार बनाने और सहयोग लेने का स्वभाव और संस्कार विकसित करना होगा। इनके करीब जाने में हिचकना नहीं चाहिए। सामग्री, संसाधन और सामर्थ्य की मेरी सीमा रही अन्यथा मेरा इरादा भोजपुरी जनकवि भिखारी ठाकुर पर भी काम करने का था, जिससे इस पक्ष का प्रतिनिधित्व भी हो सके। यह संतोष की बात है कि डॉ. कपिल तिवारी ने म.प्र.आदिवासी लोककला परिषद् की ओर से काफी कुछ ऐसा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

किया है, जो आगे काम करने वालों के लिए मूल्यवान आधार-स्रोत साबित होंगे।

आधुनिक रचनाकारों संबंधी लेखों को शामिल करने की बात भी पहली नजर में बेमेल लग सकती है क्योंकि ये नवजागरण से प्रत्यक्ष जुड़े नहीं रहे। लेकिन नवजागरण की चेतना को आधुनिक रूप में विकसित करना, उसका संवहन करना और अपने समय में विभिन्न तरीकों से उनको आगे बढ़ाने, विस्तार देने में इनका उल्लेखनीय योगदान रहा है। यही तो रचनकार का कार्यभार होता है, जिसे वह अपने समय में संभव करता है। अपनी परम्परा से जुड़कर, उसे आधुनिक रूप में विकसित कर अपने समय और समाज को बदलने में योगदान देना ही तो रचनाकार की बड़ी सार्थकता है। इन सबके बीच सबसे जबरदस्त कड़ी है जातीय एकता की। इस कड़ी में हमारा आज का समकालीन भी गूंथा जाता है। इसलिए बोध के स्तर पर रचनाशीलता की परम्परा को इसी निरंतरता में देखा जाना चाहिए। शामिल लेखों में इनके समग्र पक्षों की अपेक्षा व्यर्थ है क्योंकि समकालीन होने के कारण ये विचार की परिधि में शामिल रहे हैं। इनके विभिन्न पक्षों को लेकर काफी काम हुए भी हैं— आगे भी होंगे।

इस संकलन में शामिल अधिकांश लेख स्वतंत्र रूप से लिखे और छपे हैं लेकिन इन सबका प्रायः पुनर्लेखन हुआ है। संशोधन-परिमार्जन में कम या अधिक रद्दोबदल भी हुए हैं— इसलिए इसी रूप में ये मेरे लिए प्रामाणिक हैं। कई ऐसे लेख जो आधुनिक रचनाकारों पर ही केन्द्रित थे लेकिन भिन्न नजरिए से लिखे होने के कारण शामिल नहीं किए गए। इस सबके बावजूद अपने तरीके से एतराज करने का हक सभी को हासिल है। पाठकों की हर तरह की राय या सलूक के प्रति मेरा विनम्र भाव है।

इस पूरे कार्य में सुप्रसिद्ध कवि अरुण कमल ने मेरी जबरदस्त मदद की है। प्रत्येक लेख को पढ़ना, चयन से अंतर्वस्तु तक अपनी राय देना, सुझाव देना और सबसे बड़ी बात ब्लर्ब लिखना— ये ऐसी सहायताएं हैं, जिसे हम सिर्फ औपचारिक कहकर नहीं टाल सकते। अरुण कमल उन लोगों में हैं जो हिन्दी की हर सार्थक और सकर्मक रचनाशीलता के प्रति सकारात्मक आचरण करते हैं। उन्होंने यह कार्य सोच और व्यवहार दोनों स्तरों पर दायित्व भाव से किया, जिसके लिए मैं उनका खास तौर से विनम्र और कृतज्ञ हूं। देश निर्मोही ने जिस तत्परता से इसका प्रकाशन किया, उसके पीछे नवजागरण के प्रति उनकी भावना भी रही— इस बात से मुझे प्रीतिकर आह्लाद हुआ। दरअसल ऐसा कोई भी कार्य हम सबकी सामूहिक जिम्मेदारी ही है, जिसे सामूहिक भागीदारी से ही संभव किया जा सकता है।

— कर्मेन्दु शिशिर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हिन्दी जातीयता और गद्य परम्परा

इसमें विवाद नहीं कि भारत की जनता और संस्कृति मूलतः अनेक जातियों के समवेत समिश्रण से विकसित हुई है। यहां की मूल जाति 'नेग्रिटो' जो वस्तुतः पृथ्वी के आदिकालीन निवासियों के सदृश रही, वह कालांतर में विलुप्त हो गई या दूसरी जातियों में घुल-मिल गई। आगे चलकर कोल, नाग, द्रविड़ और आर्य जातियां आईं जो वस्तुतः देश की जनता और संस्कृति की मूलाधार बनीं। यानी भारत की कोई जाति बाहर जाकर नहीं बसी, यहीं दूसरी जातियां बाहर से आकर बसीं। ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा में घुमन्तू कबीलों के बीच ही सामाजिक और भाषायी संपर्क की प्रक्रिया घटित मानी जाती है। जो क्रमशः पशुपालन और कृषि-यंत्र के साथ सामंतवाद और व्यापारिक पूंजीवाद की अवस्थाओं के क्रम में विकसित होकर ठोस स्वरूप ग्रहण करती है। दस्तकारी कौशल-निर्माण, छोटे-छोटे उत्पादन-तंत्र, बाजार और विनिमय के साथ शहरों का स्वरूप सामने आते-जाते जातीय विभाजन की अवस्था भी मूर्त्त रूप ग्रहण करने लगी।

भारत के प्राचीन इतिहास में जनपदों का विकास और उनके आपसी संबंधों को लेकर प्रभूत कार्य हुए हैं। आज के हिन्दी जातीय क्षेत्र में आने वाले तमाम जनपदों में मगध, काशी, कोसल और कुरु ये चार मुख्य थे। अगर इन जनपदों के आपसी तनावों, युद्धों, विजित-पराजित संधियों, कूटनीतिक संपर्कों और वैवाहिक संबंधों को व्यापारिक पूंजीवाद के विकास के आसंग में आकलित करें तो इनके बीच स्पष्टतः अंतःसंबंधों की निर्माण-प्रक्रिया मौजूद मिलेगी। गुप्तकाल के अंतिम दौर में सामंती विघटन से उत्पन्न संक्रमण काल में तुर्की आक्रमण सफल होते ही सामाजिक और भाषायी परिवर्तन में गुणात्मक फर्क आता है। इस फर्क को थोड़ा-सा पीछे जाकर भाषायी परिवर्तन के आसंग में देखने पर सहूलियत होगी।

लेनिन ने कहा था कि भाषा मानवीय संपर्क का महत्त्वपूर्ण साधन है। यानी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मानवीय संपर्क की उपेक्षा करके भाषा विकास को समझना दुष्कर है। हिंदी में इस युगांतकारी चिन्तन के जनक आचार्य किशोरीदास वाजपेयी थे जिन्होंने कहा, भाषा-परिवार कोई स्थिर और जड़ इकाई नहीं है, बल्कि वह गतिशील है। डॉ. रामविलास शर्मा ने इस सूत्र को गंभीरता से विवेचित किया और अनेक मौलिक उद्भावनाएं कीं। कौन समाज, किस समाज से किस रूप में मिला और उसके संबंधों की विकास-प्रक्रिया में भाषा का किस तरह विकास हुआ— यह बात सामने आई।

तमाम भाषा परिवारों में आर्य भाषा का 3500 वर्षों का जैसा व्यवस्थित इतिहास सुलभ है, उससे उसकी प्राचीनता, प्रभुत्व और महत्ता पर संदेह नहीं। डॉ. शर्मा ने इसके अन्य भाषा परिवारों से संपर्कों और प्रभावों पर विचार किया है। समस्या उन लोगों ने पैदा की जिन्होंने इसे देवताओं की भाषा माना और इसे सृष्टि की आदि भाषा घोषित किया। मनुष्य और समाज ने इसे विकसित नहीं किया। प्रश्न यह है कि अगर संस्कृत को ईश्वर ने नहीं बनाया तो निःसंदेह इसके पूर्व कोई परम्परा रही होगी। एकाएक विकसित रूप में यह अवतरित तो नहीं हुई। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने इसका निर्माण तत्कालीन प्रचलित जनभाषाओं से माना जिसे डॉ. शर्मा ने अपने विस्तृत अनुसंधान और विश्लेषण से सिद्ध किया है।

अधिकांश भाषाएं अपना संबंध संस्कृत से जोड़ती हैं, यह इसके विस्तार और विकास का प्रमाण है। लेकिन हिंदी जातीय क्षेत्र में मगध जनपद ने इसके प्रभुत्व को पहली चुनौती दी। जैन और बौद्ध धर्म ने इसका निषेध कर प्रचलित जनभाषाओं को ग्रहण किया। आप पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की अवस्था पर जब भी विचार करते हैं आपको निरंतर बोलियों के विभाजन और विकास की स्थिति देखने को मिलती है। इस विभाजन के निरन्तर विकास के समानान्तर आप ऐतिहासिक विकास को देखें तो व्यापारिक पूंजीवाद एक मुख्य कारण था जिससे भारत सोने की चिड़िया समझा जाता रहा। विदेशी आक्रमण होते रहे और बार-बार लुटकर अमीर रह जाने के पीछे इसकी ठोस स्थितियां ही रहीं। यानी जातीय निर्माण और भाषायी परिवर्तन की गति में निरंतर विकास और तेजी कायम रही।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के सूत्रों को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी का नाभिनाल-संबंध संस्कृत से नहीं बल्कि जनता की बोलियों से रहा है। लिखते हैं— 'हिन्दी की पद्धति संस्कृत से भी अधिक कलात्मक तथा वैज्ञानिक है।' वे इसका कारण मानते हैं— जीवित मानवीय संपर्क! इसी कारण वे विदेशी प्रभावों से आए शब्दों को हिन्दी की संपदा मानते हैं। भाषाशास्त्रियों ने फारसी के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

3500, अरबी के 2500, तुर्की के 125 और पश्तो के 50 शब्द गिनाए हैं। यानी लगभग 6000 शब्दों को हिन्दी से बाहर निकालना वैसी ही कार्यवाही है— जैसी हिन्दी प्रदेश से गैर हिन्दुओं को बाहर करना।

तुर्कों के संपर्क के साथ भाषायी परिवर्तन में हिन्दी रेख्ता या खड़ी बोली की शुरुआत होती है और इसी के साथ उर्दू का सवाल सामने आता है। उर्दू तुर्की शब्द है, जिसका सीधा अर्थ है 'शाही पड़ाव'। अनुमान कर सकते हैं कि शाही सेना के पड़ाव वाले क्षेत्र की स्थानीय जनता के संपर्क से इसकी शुरुआत हुई होगी। पड़ाव वाला क्षेत्र 'उर्दू बाजार' कहा जाता था। उर्दू को जन्म देने वाली जनता बाहर से नहीं आई थी। लाखों या करोड़ों की संख्या में मुसलमान भारत नहीं आए थे। भय और लोभ से रातों-रात धर्म बदल लेने वाली जनता की भाषा रातों-रात नहीं बदल सकती थी। बंगाल या बांग्लादेश के मुसलमान साक्षी हैं कि उर्दू का धर्म से शुरुआती रिश्ता नहीं रहा है। मिश्रित जनभाषा के रूप में रेख्ता या खड़ी बोली विकसित हुई जिसमें विलक्षण ग्राह्य शक्ति थी। इसका प्रयोग हिन्दू-मुसलमान दोनों करते थे। अंग्रेजी भाषा नीति और उनके उकसाने पर रूढ़िवादी तत्वों ने इस फर्क को लंबा किया। आप उर्दू का गहरा संबंध पूर्व में लोकभाषाओं से पाएंगे। 'हिन्दुत्व खतरे में है और इस्लाम खतरे में है' के साथ एक ने अपना संबंध संस्कृत से जोड़ा और दूसरे ने अरबी-फारसी से। दोनों जनता से भाषा को काटकर तत्सम के करीब ले जाने की कोशिश करते रहे। भाषा के साथ सबसे बुरा सलूक सांप्रदायिकों की ओर से हुआ। अगर आप इंशा अल्ला खां की भाषा को आदर्श मानें तो वह नि:संदेह मानक जनभाषा थी हालांकि उसकी व्याकरणिक बुनावट फारसी प्रभावित थी। ध्यातव्य है कि इंशा अल्ला खां आन-संपन्न रचनाकार थे जिन्होंने भाषा के सवाल पर राजशाही का बहिष्कार किया। स्पष्टता, सरलता और प्रवाहमयता उनके गद्य की विशिष्टता है जो आपको सदल मिश्र प्रभृति गद्यकारों में नहीं मिलेगी।

हिन्दी जातीय गद्य की चर्चा प्रारंभ करने के पूर्व हम इसके जातीय स्वरूप के निर्माण की पहली भूमिका लें। पहली बार हिन्दी जातीय स्वरूप ठोस शक्ल में भक्ति आंदोलन से शुरू होता है। मुगल शासक अपने पूर्व मुस्लिम लुटेरों की तरह नहीं थे। वे यहां का माल लूटकर कहीं ले नहीं जा रहे थे। वे यहां की जातियों में मिलने की कोशिश कर रहे थे। यहां की संस्कृति से एकाकार हुए थे। निम्न जातियों को सामाजिक समानता की अपील पर आकर्षित कर रहे थे। भक्ति का जो आंदोलन हुआ उसे लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामविलास शर्मा या मुक्तिबोध में जो मत वैभिन्नय हो— उसके

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
जनांदोलन होने और सामंतविरोधी स्वरूप को लेकर लगभग मतैक्य है। इसमें दस्तकार, कारीगर, निम्न जातियों सहित किसानों का काफी बड़ा समाज शामिल था। ध्यान देने की बात यह है कि यह आंदोलन गैर हिन्दी जातीय प्रदेश से शुरू हुआ लेकिन क्षेत्रीयता को लेकर कभी कोई मतभेद नहीं हुए। जबकि राजनीतिक स्तर पर ऐसी बात नहीं थी। राजनीतिक स्तर पर अंधकार युग होने के बावजूद सांस्कृतिक स्तर पर यह स्वर्णकाल था। यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें हिन्दी प्रदेश की पूर्व भक्ति परम्परा भी शामिल होकर नए रूप में विकसित हुई, जिसमें सवर्ण-दलित हिन्दू और मुसलमान सभी भागीदार बने। आप देखेंगे, हिन्दी की तमाम अंतरजातीयताओं ने मिलकर हिन्दी प्रदेश की जातीयता को एक मुकम्मल आकार दिया। एक भक्त कवि की रचना, दूसरे क्षेत्र में बिना किसी विरोध के प्रसारित हुई और हिन्दी का इतिहास निर्मित हुआ।

अब हम अपना ध्यान हिन्दी जातीय गद्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर केन्द्रित करें। आप पाएंगे प्रारंभिक दौर से ही हिन्दी विभिन्न समाजों और अपने क्षेत्र की विभिन्न बोलियों को समेटती अपने स्वरूप को विकसित कर रही थी, जन्म से ही इसमें इतना कुछ विविध समेटने की क्षमता दिखाई पड़ती है- जिस गुण से इसके विकास की गति तीव्र हुई। हिन्दी जातीय क्षेत्र के मजदूरों ने कलकत्ता, बंबई जैसे औद्योगिक नगरों में जाकर भिन्न जातीयताओं के क्षेत्र में इसका सघन संपर्क स्थापित किया और इंग्लैंड, फीजी, गायना या मॉरिशस जैसे सुदूर देशों तक व्यापक विस्तार में अतुलनीय योगदान दिया। इस भाषा की विलक्षण क्षमता का अंदाज उन पत्रों से करें जो मजदूर अपने घरों को और उनकी पत्नियां उन्हें लिखती हैं। आपको आश्चर्य होगा, व्याकरण की पूरी अनुपस्थिति के बावजूद भावों की अभिव्यक्ति और संप्रेषण में तनिक भी बाधा नहीं होगी।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि हिन्दी जातीयता का निर्माण सामंत-विरोधी था और इसकी गद्य परम्परा का स्वरूप साम्राज्यवाद विरोधी। अंग्रेजों ने इस देश में अपना साम्राज्य कायम करते हुए सबसे कठिन संघर्ष हिन्दी प्रदेश में किए और सबसे अंत में इसे ही पराजित किया। उनके संस्मरण प्रमाण हैं कि हिन्दी प्रदेश का संघर्ष सबसे अधिक दुष्कर रहा। लगभग सौ वर्षों के संचित विद्रोह का 1857 ई. में जो विस्फोट हुआ, वह हिन्दी जातीयता का पहला सशस्त्र संग्राम था, जिसकी पृष्ठभूमि में हिन्दी जातीय गद्य परम्परा का जन्म हुआ। इस संग्राम ने अंग्रेजों द्वारा अफगानिस्तान और रूस तक साम्राज्य विस्तार को रोका तो दूसरी ओर निर्मम दमन की पुनरावृत्ति को असंभव किया। इस संदर्भ में राधाचरण गोस्वामी की एक महत्त्वपूर्ण रपट 'भारतेन्दु' पत्रिका में छपी थी। लगातार प्रतिरोध

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

का ही सुफल था कि अंग्रेज भारत को अफ्रीकी गुलामों की दुर्दशा में नहीं ले जा सके। जब हिन्दी को भारतेन्दु 1873 ई. में नए चाल में ढली मानते हैं तो वह भाषा की ही नहीं, विचारों की नई करवट की भी बात करते हैं। कंपनी के हाथों से ब्रिटिश रानी के हाथों में आई सत्ता और सुधारवादी परिवर्तनों की पोल 1866 ई. के बंगाल और मद्रास के अकाल ने खोल दी। जो लोग भारतेन्दु युग के लेखकों में अंग्रेजी राज की प्रशस्ति को बार-बार रेखांकित करते हैं— उन्हें कंपनी के हाथों से ब्रिटिश रानी के हाथों आई सत्ता के बाद घोषित सुधारवादी योजनाओं को देखना चाहिए। साथ ही 1866 ई. के भीषण अकाल के बाद उन्हीं रचनाकारों के बदलते तेवर की भी पहचान करनी चाहिए। इन सबका समाहार इस 'नई चाल' में ढलने से संकेतित है।

'आलोचना-79' के संपादकीय में डॉ. नामवर सिंह ने भारतेन्दु युग के बारे में कुछ नए सवाल उठाए हैं। उन सवालों पर विचार करना शायद विषयांतर न हो। डॉ. नामवर सिंह भारतेन्दु युग के नवजागरण में सन् सत्तावन की राजक्रांति का बीज नहीं मानते बल्कि बंगाल के नवजागरण को मुख्य प्रेरणा-स्रोत मानते हैं। उनका यह भी कहना है कि यह संघर्ष राजनीतिक कम, सांस्कृतिक ज्यादा था। उनका एक तर्क राजक्रांति के असांप्रदायिक पक्ष के संदेश का भारतेन्दु युग में अभाव पाने से भी है। उन्हें भारतेन्दु में वैष्णव भावुकता के तत्व कहीं अधिक मिलते हैं। प्रखर बुद्धिवाद का अभाव भी दिखाई पड़ता है। इसी अंक में प्रकाशित बच्चन सिंह के आलेख में अंतर्विरोधों का प्रश्न भी उठाया गया है। ध्यातव्य है कि ये सारे सवाल डॉ. रामविलास शर्मा के निष्कर्षों के विपरीत हैं। एक आलोचक ने तो निजी बातचीत में यहां तक कहा कि दरअसल इसमें भारतेन्दु युग का कम, डॉ. शर्मा का विरोध ही मुख्य कारण है। डॉ. रामविलास शर्मा ने भारतेन्दु विषयक अपने निष्कर्ष 1942 में प्रकाशित 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' नामक पहली पुस्तक में ही दिए थे। आश्चर्य है कि इतने लंबे अंतराल तक भारतेन्दु पर जो भी सामग्री सामने आई लगभग सभी ने मूल सामग्री डॉ. शर्मा द्वारा उपलब्ध कराए उद्धरणों से ही ली। किसी ने नई मूल सामग्री का उपयोग नहीं किया। नागरी प्रचारिणी सभा ने भारतेन्दु ग्रन्थावली के जो तीन खंड प्रकाशित किए उसकी भूमिका में यह बात कही गई है कि अभी अनेक सामग्री असंकलित है जो आगे प्रकाशित होगी। दुर्भाग्य से वह आज तक नहीं छपी। भारतेन्दु और उनके युग के अन्य रचनाकारों द्वारा संपादित पत्रिकाओं में ऐसी विपुल सामग्री अभी भी मौजूद है, जो पुस्तकाकार रूप में संकलित नहीं हुई। ऐसी सामग्री के एक हिस्से का उपयोग डॉ. शर्मा ने किया है। ऐसी असंकलित सामग्री ज्यादातर राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

विषयों पर लिखी गई है। अगर भारतेन्दु युग की पत्रिकाओं की गहरी छानबीन कर सारी सामग्री देखी जाए तो उस युग के राजनीतिक पक्ष पर विशेष रोशनी पड़ सकती है।

डॉ. रामविलास शर्मा अकारण राजक्रांति से इस युग को नहीं जोड़ते। वह ठोस तर्कों और तथ्यों के साथ अपनी बात रखते हैं। डॉ. नामवर सिंह ने विरोध के लिए विरोध करने के कारण बिना उन तथ्यों और तर्कों को उद्धरित किए, भिन्न तथ्य-तर्क से अपने सवालों को रखा है। डॉ. शर्मा ने सन् सत्तावन के छपे इश्तहार को उद्धृत करते हुए उसकी सामग्री और भारतेन्दु के लेखन से उद्धरण आमने-सामने रखकर दोनों की समानता तलाश की है। राजक्रांति में शामिल सैनिकों की ग्रामीण किसान पृष्ठभूमि को रेखांकित कर इसे सामंतों का संघर्ष सिद्ध करने की मक्कारी का पर्दाफाश किया है। भारतेन्दु युग में सांप्रदायिक लेखन नहीं हुआ तो भी आरोप है कि उसके बाद सांप्रदायिक पक्ष उभरकर सामने आया तो इसमें दोष भारतेन्दु युग के लेखन का कैसे सिद्ध हुआ? साम्यवाद की निरंतर सक्रियता के बावजूद प्रतिगामी पक्ष मजबूत हुआ तो इसमें साम्यवादी चिंतन का क्या दोष? देखना यह है कि भारतेन्दु युग के रचनाकार सांप्रदायिक थे या नहीं। भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, बद्री नारायण प्रेमघन के जीवन और लेखन की मीमांसा करके यह बात आसानी से स्वीकार करनी होगी कि उनका दृष्टिकोण सांप्रदायिकता-विरोधी था। धार्मिक या वैष्णव होना सांप्रदायिक होना है तो ईसाई और इस्लाम मानने वाले लेखकों का एक विशाल वर्ग सांप्रदायिक हो जाएगा। उस समय सांप्रदायिकता का तनाव या प्रसार भी ऐसा नहीं था कि इस पक्ष को आज की निगाह से देखा जाए। भारतेन्दु की वैष्णवी भावुकता को भी तत्कालीन ईसाई प्रचार-प्रसार के सापेक्ष देखा जाना चाहिए। यह ध्यान में रखने वाली बात है कि अंग्रेज शासकों का अपना धर्म ईसाई था। वे इसके प्रसार में राजसत्ता का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष भरपूर इस्तेमाल भी कर रहे थे। धार्मिक होना प्रगतिशीलता के प्रतिकूल होगा तो प्रगतिशीलों की परम्परा तलाश करनी मुश्किल हो जाएगी। बुद्धिवाद के अभाव का आरोप तो विशुद्ध जबरदस्ती है। यह अज्ञानवश है या जानबूझ कर, लेकिन है अतिरेक! भारतेन्दु युग के लेखन में बुद्धिवाद की उपस्थिति आश्चर्यजनक है। भारतेन्दु तथा अन्य लेखकों ने जितना राजनीतिक, धार्मिक रूढ़ियों के विरोध, सामाजिक और आर्थिक सवालों पर लिखा— उसमें भावुकता नहीं, बुद्धिवादिता ही है और भारतेन्दु ने तो गणित पुस्तक की समीक्षा लिखते हुए उन हिन्दी-विरोधियों की तीव्र भर्त्सना की थी जो हिन्दी में बुद्धिवादी और तर्कपूर्ण लेखन की संभावना नकारते हैं। रही बात अंतर्विरोधों की तो यह

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

समझने की बात नहीं रह गई कि हर बड़े रचनाकार में अपने-अपने तरीके से अंतर्विरोध होते हैं और यह स्वाभाविक और मानवीय बात है। समय के भी अपने अंतर्विरोध होते हैं। भारतेन्दु के अंतर्विरोधों पर विचार करते समय, समय के क्रमिक विकास या अंतर को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए। भारतेन्दु या उनके युग के अंतर्विरोध स्थिर, एकांगी और इकहरे नहीं हैं। वैष्णवी भावुकता वाले भारतेन्दु ने ही पांच-सात वर्ष की उम्र में तर्पण करते पिता को देखकर कहा था— 'पानी में पानी मिलाने से क्या फायदा? इसी भारतेन्दु ने 'तहकीकात पुरी' और 'तहकीकात पुरी की तहकीकात' लिखी। उस युग की पुस्तक-समीक्षा या रचनाकारों पर लिखे लेखों की तर्क पद्धति पर ध्यान देना चाहिए। जरूरत इस बात की है कि भारतेन्दुयुगीन लेखकों की सामग्री का सुसंपादित संकलन सामने आए और उसकी गंभीरता से समय-सापेक्ष मीमांसा की जाए। डॉ. शर्मा ने जो आधार तैयार किया है— जरूरत इस बात की है कि नई सामग्री, नई सोच और समझ से उसे और समृद्ध किया जाए। व्यर्थ के वितंडावाद से हिन्दी का विकास भी अवरुद्ध होगा। 1942 ई. के पीछे बहस को ले जाने से हिन्दी का कोई भला नहीं होगा। बंगाल के नवजागरण में भारतेन्दु का नवजागरण गतांक नहीं है। हिन्दीभाषी क्षेत्रों में बंगाल, महाराष्ट्र या मद्रास की तरह न तो कोई बंदरगाह थी, न ही अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार-प्रसार। न ही इस क्षेत्र ने अंग्रेजों के सामने आसानी से आत्मसमर्पण किया था। बावजूद इन क्षेत्रों में छोटे-बड़े पैमाने पर लगातार राजनीतिक और सामाजिक आंदोलन हुए जो अब नए अनुसंधानों से सामने आ रहे हैं। हिन्दी भाषी क्षेत्र के लेखन की अपनी विशिष्टताएं थीं। भारतेन्दुयुगीन लेखन की मांग सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की तरह सुविधाभोगी मध्यवर्ग की नौकरशाही में हिस्सा मांगने या सामाजिक परिवर्तन तक ही सीमित नहीं थी। उसमें राजनीतिक आशय भी था।

16 फरवरी 1874 ई. को भारतेन्दु ने लिखा है— 'हे देशवासियों! इस निद्रा से चौंको। इनके (अंग्रेज के) न्याय के भरोसे मत फूले रहो। ये विद्या (अंग्रेजी शिक्षा) कुछ काम न आएगी। यदि तुम हाथ के व्यापार सीखोगे तो तुम्हें कभी दैन्य न होगा। नहीं तो अंत में यहां का सब धन विलायत चला जाएगा और तुम मुंह-बाये रह जाओगे।' 18 मई 1874 ई. को लिखा— 'जब अंग्रेज विलायत से आते हैं तो प्रायः कैसे दरिद्र होते हैं और जब हिन्दुस्तान से विलायत को जाते हैं तब कुबेर बन जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि रोग और दुष्काल इन दोनों के मुख्य कारण अंग्रेज ही हैं।'

8 जून 1874 ई. को लिखा— 'चुंगी और टैक्स की निष्ठुरता को भी आपकी क्रूरता मात करती है। हम जैसे कंगालों पर तो तुम इतना जोर जुल्म प्रकट

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

करते हो पर अमीरों और साहेब लोगों के थरम्यन्टीडोर और खस की टट्टियों पर तुम्हारा वश नहीं चलता।' इसी अंक में यहां तक लिखा— 'भाइयों! अब तो सन्नद्ध हो जाओ और ताल ठोंक के इनके सामने खड़े तो हो जाओ, देखो भारतवर्ष का धन जिससे जाने न पावे, वह उपाय करो।'

6 जुलाई 1874 ई. को लिखा— 'बीस करोड़ भारतवासियों पर पचास हजार अंग्रेज शासन करते हैं। वे प्रायः शिक्षित और सभ्य हैं परन्तु इन्हीं लोगों के अत्याचार से सब भारतवर्षीगण दुखी रहते हैं।' भारतेन्दु ने इसी अंक में अपनी इच्छा इन शब्दों में व्यक्त की है— 'जिस प्रकार अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वाधीन हुआ वैसे ही भारतवर्ष भी स्वाधीनता लाभ कर सकता है।' ऐसी इच्छा का इजहार राजाराम मोहनराय के साहित्य में नहीं मिलता। यह बात दूसरी है कि उनकी भूमिका अलग थी। भारतेन्दु समझते थे—

कठिन सिपाही द्रोह अनल-सा जल बल नासी।
जिन भय सिर न हिलाय सकत कहुं भारतवासी॥

ऐसी स्थिति में जिस रणनीति और दूरदर्शिता की उम्मीद एक रचनाकार से हो सकती है— भारतेन्दुयुगीन लेखकों की रचनाओं, पत्रिकाओं और अन्य सक्रियताओं को देखें तो सच्चाई यही है कि इन लोगों ने अपेक्षा से अधिक कर दिखाया।

भारतेन्दु ने जिस जातीय गद्य की शुरुआत की उसका पहला स्वर था— ब्रिटिश साम्राज्यवाद का पूर्ण निषेध और राष्ट्रीय चेतना का विकास। उन्होंने अंग्रेजी नीतियों की गहरी छानबीन कर दैन्य और दमन के मूल कारणों को पहचाना। 'कवि वचनसुधा' के एक संपादकीय में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार, स्वदेशी वस्तुओं के अपनाने की जोरदार अपील की। महात्मा गांधी के स्वदेशी आंदोलन के पचास वर्ष पूर्व उन्होंने सिर्फ़ अपील ही नहीं की थी बल्कि 'तदीय समाज' की स्थापना की जिसकी अनिवार्य शर्त थी— स्वदेशी का हर हालत में इस्तेमाल। देशी उद्योगों के हालात पर चिंता प्रकट करते हुए लिखा कि— 'हम एक माचिस तक खुद नहीं बनाते।' राष्ट्रीय चेतना के विकास में प्राचीन सांस्कृतिक विरासत की याद दिलाते हुए अशिक्षा, पिछड़ेपन, रूढ़ियों और कुरीतियों पर तीखा प्रहार किया। एक ओर वह हिन्दी जातीयता में नवीन चेतना का संचार कर रहे थे तो दूसरी ओर उदारता से बंगला, मराठी जैसी अन्य जातीयताओं को आगे बढ़कर अपना रहे थे। लिखा— 'बंगाली, मराठा, पंजाबी, वैदिक, जैन, ब्रह्मों, मुसलमान— सब एक का हाथ एक पकड़ो।' उनकी जीवनी और पत्रों को पढ़कर उनके राष्ट्रीय संपर्क को जाना जा सकता है। उनकी जातीयता का दूसरा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पक्ष था— व्यापक जनता से सघन जुड़ाव और उसकी सांस्कृतिक चिंता। उन्होंने 'जातीय संगीत' में इस मूल्य को आकलित किया। उन्होंने लोगों का आह्वान किया कि वे लोकभाषा में गीत रचें, लोकगीतों का संकलन करें, उन्हें भेजें, वह प्रकाशित करेंगे। स्वयं लोकप्रचलित कथाओं को नाटकों का विषय बनाया और समसामयिक चिन्ताओं से जोड़ा। इतिहास के द्वारा जातीय मूल्यों को सामने किया। पुरबी, कजली, बसंत, होली, बारहमासा, ग़ज़ल, कव्वाली स्वयं लिखी और लिखने को प्रेरित भी किया। हिन्दी जातीय प्रदेश की सुदूर यात्राएं कीं, पिछड़े गांवों में जाकर खटकिनों की गाली, सराय और खटमलों का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर जनजीवन से एकाकार हुए। उनके यात्रा संस्मरणों में ये अनुभव अत्यंत सजीव होकर सामने आते हैं। उनकी जातीयता के तीसरे सूत्र में सांप्रदायिक एकता को लें तो अब तक के इतिहास में हिन्दी-उर्दू का तीन दिनों तक चला अहर्निश कवि सम्मेलन एक अनोखी मिसाल है। धार्मिक कुरीतियों पर उनके व्यंग्य की नवीनता जातीय चेतना का परिष्कार करती दिखाई पड़ती है। उनके गद्य को देखें तो आपको पहला स्पर्श मिलेगा आत्मीय■ जीवन्तता का। असीम करुणा के साथ जिन्दादिली का दुर्लभ संयोग उनके जातीय गद्य को प्राणवान बनाता है जिसकी भाषा में तत्सम, तद्भव के साथ फारसी शब्दों का संतुलित और प्रवाहमय प्रयोग मिलेगा। उनके गद्य के जातीय गुणों में व्यंग्य भी एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। अगर आप 'अंग्रेज स्त्रोतम' को लें तो उनके व्यंग्य की भंगिमा के जातीय सूत्र स्पष्ट होंगे। जिस तीव्रता से भारतेन्दु आधुनिक विचारों को अपना रहे थे, उसी सावधानी से वह जातीय परम्परा से उन विचारों का सामंजस्य भी जोड़ रहे थे। इसलिए आपको भारतेन्दु के लेखन में क्रमिक विकास और एक तर्कसंगत पूर्णता मिलेगी। रीति-विरोधी चेतना के साथ भक्ति-काल का जो प्रभाव दिखाई पड़ता है उसमें ध्यान देने वाली बात यह है कि वह भक्ति को राष्ट्रभक्ति से जोड़ रहे थे— 'कहां करुणानिधि केशव सोए, जागत नाहिं अनेक जतन कर भारतवासी रोए।' यह भक्ति का एक सर्वथा अभिनव रूप था। उनके गद्य की भाषा में आत्मीयता खास तौर से इसलिए आकर्षित करती है कि उसका स्वरूप बोलचाल के करीब है। बात करने वाले ढंग के कारण ही उनका गद्य हमारी संवेदना को आज भी छूता है। भारतेन्दु युग के गद्य की जातीयता राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख थी, यह उसकी मुख्य विशेषता थी क्योंकि यही भविष्य की दिशा सिद्ध हुई। दूसरी उपलब्धि थी— हिन्दी की अंतर्जातीयताओं का समवेत विकास! भारतेन्दु काशी जनपद के, राधाचरण गोस्वामी ब्रज के, प्रतापनारायण मिश्र अवध के, बालकृष्ण भट्ट कौशाम्बी के, अयोध्याप्रसाद खत्री बज्जिका के— भिन्न क्षेत्रों के इन तमाम

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गद्यकारों ने किस दक्षता से समवेत विकास की दिशा में हिन्दी को भविष्य की ओर बढ़ाया, यह उनके साहित्य को आकलित करते हुए स्पष्ट देखा जा सकता है। भारतेन्दु युग के गद्य की तीसरी उपलब्धि ऐसी भाषा थी जिसमें शब्दों को पचाने की प्रबल ग्राह्य शक्ति थी।

'सार सुधानिधि' संपादक पं. सदानाथ मिश्र ने भारतेन्दु के जातीय संकल्पों को जिस प्रखरता और राजनीतिक जागरूकता से विकसित किया, वह इस पत्रिका की पुरानी फाइलों में दबा पड़ा है। 1885 ई. में भारतेन्दु के निधन के बाद साम्राज्य विरोधी नेतृत्व गैर-हिन्दी प्रदेशों में था। उस समय हिन्दी प्रदेश में जातीयता के राष्ट्रीय विकास का दायित्व ऐसे ही पत्रकार लेखकों के हिस्से था जिनका साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। जो उपलब्ध है उसके आधार पर इतना विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि बाद के गद्यकारों में विरोध का स्वर निरन्तर तीव्र होता गया और भाषा जनता के बोलचाल के और समीप आती गई। विभिन्न बोलियों के शब्दों तथा नए शब्दों का प्रयोग बढ़ा। नि:संदेह सबकी अपनी निजताएं थीं, जिनका आकलन अभी नहीं हुआ है। प्रतापनारायण मिश्र गहरी समझ के बावजूद तरंग वाले भावुक फक्कड़ गद्यकार थे। लापरवाही और बेफिक्री के कारण उनमें मस्ती तो है मगर भाषा को लेकर एक हद तक असावधानी भी मिलती है। 'यहां वालों का सिद्धांत है अपना भला हो, देश चाहे चूल्हे में जाए, यद्यपि जब देश चूल्हे में जाएगा तो हम बचे न रहेंगे। पर समझना तो मुश्किल काम है ना! सो भाइयों, यह तो तुम्हारे ही मतलब की बात है। आखिर कपड़ा पहनोगे ही, एक बार हमारे कहने से एक-एक जोड़ा देशी कपड़ा बनवा डालो। यदि कुछ सुभीता बन पड़े तो मानना, दाम कुछ दूने न लगेंगे, चलेगा तिगुने से अधिक समय। देशी लक्ष्मी और देशी शिल्प के उद्धार का फल सेंतमेंत। यदि अब भी न चेतो तो तुमसे ज्यादा भकुआ कौन ?' आप पाएंगे इसमें एक ग्रामीण सरलता और आत्मीय भंगिमा के साथ निर्भीकता भी है। दरअसल निर्भीकता हिन्दी के उन तमाम गद्यकारों की जातीय विशेषता है जिन्होंने इसके व्यक्तित्व का निर्माण किया। जातीय गद्य की जो नींव भारतेन्दु युग में पड़ी उसकी एक पहचान खुलेपन की है। आपको किसी जातीय गद्यकार में कहीं बोझिलता, अस्पष्टता, छुपाव या काईयांपन दिखाई नहीं पड़ेगा। अपनी बात पर सीधे जोर देकर कहने की भाव-भंगिमा दिखाई पड़ेगी।

परन्तु प्रतापनारायण मिश्र के विचारों में भारतेन्दु की तुलना में एक हद तक पिछड़ेपन का भी प्रमाण मिलता है। वे विधवा-विवाह, स्त्री शिक्षा और विदेश यात्रा को लेकर उस हद तक प्रगतिशील नहीं थे जैसे राधाचरण गोस्वामी थे।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गोस्वामी जी को ठीक ही डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने युग में सबसे अधिक प्रखर राजनैतिक चिंतन वाला लेखक माना है। उन्होंने रूढ़िवादियों से इसके लिए घोर संघर्ष किया और इसके पक्ष में परम्परासम्मत तथ्यों के साथ तर्क दिए। यहां ध्यान देने वाली बात है कि भारतेन्दु युग के तमाम लेखक भरसक अपनी जातीय प्रगतिशीलता को जहां जरूरी समझते थे आधुनिक विचारों को अपनाने में तनिक हिचकते भी न थे, भले ही उनके विचार पश्चिम-प्रभावित क्यों न हों ? यह उनके विचार, भाषा और गद्य में देखा जा सकता है। वे विदेश जाकर नवीन विचार सीखने, वैज्ञानिक विकास से परिचित होने और देशी जनता को आधुनिकता और प्रगतिशीलता से लैस करने के प्रबल पक्षधर थे। गोस्वामी जी बहुत ही सरल लेकिन प्रखर, आधुनिक और जनभाषा की तरह गद्य लिखते थे मगर खत्री जी के साथ खड़ी बोली के विवाद में ब्रजभाषा को लेकर एक हद तक वह संकीर्ण भी हो गए थे। उनकी स्वयं की भाषा में आप फारसी और अंग्रेजी के शब्द यानी बोलचाल वाला गद्य-रूप पाएंगे। गोस्वामी जी की व्यंग्य रचनाओं में जो आधुनिकता मिलती है, आप विश्वास करें, उसके सूत्र हरिशंकर परसाई के व्यंग्य तक से भी जोड़े जा सकते हैं। खासतौर से 'बूटस्तोत्रम' व्यंग्य रचना उल्लेखनीय है। इसमें बूट के माध्यम से गोस्वामी जी ने अफसरशाही पर जितने तीखे और गहरे प्रहार किए हैं— उसके पीछे की राजनीतिक प्रखरता उस काल में निःसंदेह आश्चर्यजनक है। अपनी जातीय परम्परा को छोड़कर पाश्चात्य परम्परा में रमने वाले छद्‌म और जनता का दमन करने वाले इस वर्ग पर इतना करारा प्रहार उस समय की किसी दूसरी रचना में देखने को नहीं मिलता है। 'यमलोक की यात्रा' में धर्म पर तिलमिला देने वाला जैसा व्यंग्य गोस्वामी जी ने किया है, वह स्पष्ट प्रमाण है कि हिन्दी जातीय गद्य परम्परा धर्म की रूढ़ियों को बिलकुल छिन्न-भिन्न कर एक स्वस्थ और मुक्त समाज के संकल्प से विकसित हो रही थी। यह विकास राष्ट्रीय आंदोलन की तुलना में कहीं ज्यादा आगे बढ़ा हुआ था। अगर आज हिन्दी के रचनाकार अपने समकालीन राजनीतिक चिंतन से कहीं ज्यादा विकसित हैं तो यह उनकी परम्परा में है और हिन्दी जातीय गद्य परम्परा में यह बात शामिल है।

भारतेन्दु युगीन लेखक अपनी अंतर्जातीयताओं और निजी वैशिष्ट्य के कारण भिन्न गद्य और भाषा वाले जरूर थे, मगर उनकी जातीय चेतना का मूल-राष्ट्रीय स्वर लगभग एक था। सभी धीरे-धीरे भारतेन्दु के जातीय आधार का विस्तार कर रहे थे और देश तथा जनता के हितों से प्रतिबद्ध होने के साथ निरंतर सक्रिय रहे। समय के साथ उनके गद्य में निखार और विविधताएं आ रही थीं। इसे हम बालकृष्ण भट्ट में सबसे अधिक स्पष्ट रूप में पाते हैं। उनकी भाषा भी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

व्यावहारिक बोलचाल की भाषा थी। वह भी तत्सम, देशज और उर्दू शब्दों का प्रयोग करते थे, अंग्रेजी शब्दों से परहेज भी न था। उनके वाक्य गठन में चुस्ती और सघनता थी। संभवत: वह अपने युग के तमाम गद्यकारों में ज्यादा परिष्कृत गद्य लिखते थे। मुहावरों का वह सबसे सुंदर प्रयोग करते थे। 'कोई चुटीली बात आ गई हंस पड़े तो मुस्कुराहट से ओंठों का केवल फड़क उठना ही इस हंसी की अंतिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य अपने सुनने वालों के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग है। इसमें स्पीच की वह सब संजीदगी बेकदर हो धक्के खाती फिरती है।' रोचकता, सजीवता और आत्मीयता इनके गद्य को प्राणवंत करती है। उनके विचार निरन्तर आधुनिक प्रखर और कट्टर देशभक्ति की ओर विकसित हुए।

अपेक्षाकृत कम राजनीतिक प्रखरता वाले चौधरी बद्रीनारायण प्रेमघन राधाकृष्णदास, ठाकुर जगमोहन और गोविन्द नारायण मिश्र थे। प्रेमघन का गद्य तत्सम से कुछ ज्यादा प्रभावित और अव्यावहारिक सा है। उनमें कलात्मक आलंकारिकता भी है मगर राधाकृष्ण जी भाषा तो सरल लिखते थे फिर भी उनके गद्य में आत्मीयता और प्रवाहमयता नहीं है। न ही गंभीरता और सघनता है। वह सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर भी विशेष रूप से जागरूक लेखक नहीं थे। गोविन्द नारायण मिश्र संभवत: उस युग में सबसे अधिक बोझिल और दुरूह सामासिकता वाले गद्यकार थे जिन्हें विद्वान मांस के लोथड़े की तरह भाषा लिखने वाले गद्यकार मानते हैं। ठाकुर जगन्मोहन सिंह को आप छायावादी तत्वों वाला गद्यकार कह सकते हैं। वह बड़ी आत्मीयता और मार्मिकता से भरे सजल गद्यकार थे। 'श्यामा स्वप्न' उनका जटिल शिल्प-विधान वाला अपने तरह का अनोखा उपन्यास है— उन पर शोध करने वाले एक शोधार्थी ने उसे फंतासी का पहला पूर्वरूप वाला उपन्यास सिद्ध किया है। उनके गद्य में कलात्मक गुण अधिक है।

इस तरह भारतेन्दु युग के गद्यकारों में राधाचरण गोस्वामी और बालकृष्ण भट्ट की एक नवीन देन वैचारिक गद्य निर्माण की दिशा में हुई। भट्ट जी ने तो जातीय गद्य परम्परा में समीक्षात्मक लेखन की वस्तुत: नींव ही रखी।

भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के संधिकाल में बालमुकुंद गुप्त जातीय गद्य परम्परा के अत्यन्त प्रखर और शीर्ष गद्यकार हैं। उन्हें जिन्दादिली भारतेन्दु से विरासत में मिली थी और उनके व्यंग्य में इतना पैनापन भरा था, जिसकी मार तिलमिला देने वाली थी। उनके गद्य में जनभाषा का परिष्कृत साहित्यिक रूप था। वाक्य असाधारण रूप से गठित, ठोस और सघन तो थे ही, उनमें मारक शक्ति

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बड़ी गजब की थी। उन्होंने राजनैतिक प्रखरता में गोस्वामी जी का विकास किया था और उनके व्यंग्य में नवीनता थी। वह ज्यादा निखरा हुआ गद्य लिखते थे। हिन्दी–उर्दू को एक मानने के कारण उनके गद्य में देशीपन भी ज्यादा था। वह जातीय परम्परा को आधुनिक दृष्टि देने वाले महान गद्यकार थे। जबकि उनके समकालीन माधवप्रसाद मिश्र की भाषा में हम तत्सम प्रभाव ज्यादा पाते हैं। इनमें फारसी और अंग्रेजी शब्दों का प्राय: अभाव मिलता है। उनमें हिन्दूवादी तत्वों की ओर झुकाव था, बावजूद मिश्र जी नि:संदेह कट्टर देशभक्त थे।

इस समय के गद्य में जनता से संवाद करने की ही नहीं, जनता की ओर से लड़ने की शक्ति का विकास भी दिखाई पड़ता है, जो एक बड़ी उपलब्धि थी। हिन्दी प्रदेश से बाहर स्वाधीनता संघर्ष के नेतृत्व का ध्यान रखकर हिन्दी जातीयता की ओर से संघर्ष करने वाले इन गद्यकारों ने अपने दायित्व का भरपूर निर्वाह किया।

इस काल के गद्यकारों के क्रम में देवकीनंदन खत्री की उपेक्षा संभव नहीं। उन्होंने एक ऐसे व्यावहारिक गद्य का प्रयोग किया जिसमें मुहावरों की प्रवाहमयता के साथ सहज संवाद की अपनी विशिष्टताएं हैं। तत्सम, देशज और फारसी शब्दों का ऐसा घुला-मिला प्रयोग और प्रवाह प्रेमचन्द को छोड़कर किसी अन्य कथाकार में नहीं मिलता। राजेन्द्र यादव और प्रदीप सक्सेना के 'आलोचना' में छपे आलेखों से इनके महत्त्व को लेकर झिझक मिटी है। जरूरत इस बात की है कि नए लेखक कल्पना, संयोजन और पठनीयता जैसे अनेक तत्वों को, भाषा को इनसे सीखें। प्रेमचन्द के पूर्व ऐसी जनपठनीयता किसी दूसरे गद्यकार में नहीं थी।

आप देखेंगे शताब्दी के पहले और दूसरे दशक में कांग्रेस के गरमपंथी और नरमपंथी विवाद पूरी तरह उभर कर सामने आ गए थे। एक के नेता तिलक और दूसरे के गोखले थे। हिन्दू जातीयता का संबंध अपने स्वभाव के अनुकूल पहले से जुड़ा और आप 'सरस्वती' की सामग्री को सरसरी तौर पर भी उलट कर देख सकते हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी के विचार तिलक के साथ गहरे जुड़ कर भी कई प्रसंगों में वह उनसे आगे निकल जाते हैं। रीतिकालीन रूढ़ियों, सामंती मूल्यों और साम्राज्यवादी नीतियों से उनका तीखा विरोध था। उनके चिंतन और उनकी तर्क पद्धति में मौलिक राष्ट्रीय चेतना का जो स्वरूप 'संपत्तिशास्त्र' में मिलता है उसकी विस्तार से चर्चा डॉ. रामविलास शर्मा ने की है। उन्होंने जातीय चेतना को ऐतिहासिक आधार दिया, अतीत की भारतीय परम्परा की प्रगतिशील व्याख्या की। उपेक्षित नारियों के सवाल को उठाया और इस दृष्टि से अतीत का पुनर्मूल्यांकन किया। उन्होंने आगे बढ़कर आधुनिकता और वैज्ञानिकता को अपनाया मराठी,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
बंगाली सहित दूसरी जातीयताओं की गौरवमयी परम्पराओं पर लिखा और राष्ट्रीयता से जोड़कर व्यापक चेतना का विस्तार किया। उन्होंने गद्य और भाषा की मानकी में सरलता, साफगोई और दो टूकपन पर बल दिया। भाषा को जमीन पर उतार कर जनता से सीधे जोड़ने के पीछे देश और जनता के प्रति उनकी अटूट आस्था और निष्ठा थी। निष्ठा के कारण उनमें जो रूक्ष कठोरता मिलती है, ठीक उसके भीतर एक तरल सहजता भी, जो उनके स्वभाव में शामिल थी। हिन्दी जातीय गद्य में कहीं भी लेखक के व्यक्तित्व का द्वैत नहीं मिलता। उनकी भाषा में तत्सम का कहीं दबाव नहीं, देशज रूप का बाहुल्य है और उर्दू तथा फारसी की बोलचाल का परिष्कृत रूप भी। वह एक शब्द का वाक्य तक लिखते थे, जिससे उनके गद्य में असाधारण चुस्ती है। फिर भी यह सच है कि उनका गद्य भारतेन्दु युग के लेखकों जैसा प्राणवंत नहीं था। एक खास तरह की शुष्कता थी। इस युग में गद्य के दो विशिष्ट नमूने सरदार पूर्ण सिंह और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी में मिलते हैं। सरदार पूर्ण सिंह में गद्य का परिष्कार तो द्विवेदी जी जैसा है ही उनमें कलात्मक संयम ज्यादा है क्योंकि द्विवेदी जी में प्रवाहमयता तथा भावव्यंजकता का अपेक्षाकृत अभाव है जब कि सरदार पूर्ण सिंह में ऐसा नहीं है। उनके व्यंग्य और विचार की बारीकियों में गद्य का निखार देखते बनता है। उर्दू मिश्रित देशज रूप के साथ सहज तत्सम प्रयोग भी है, मगर कहीं बोझिलपन और अस्पष्टता नहीं मिलती। दरअसल तमाम जातीय गद्यकारों में ही स्पष्टता रहती है। पूर्ण सिंह का गद्य सामान्यजन के प्रति उनकी सहानुभूति से अपने समकालीनों में उन्हें विरल जगह दिलाता है। गुलेरी के पुरातात्विक लेखों को छोड़ भी दें तो 'मारेसि मोहि कुठांव' जैसे उनके पास ऐसे कुछ निबंध हैं, जिसकी सघन बुनावट और सजल भाव उन्हें अपने समय से आगे ले जाता है। आज भी उनका गद्य तरोताजा लगता है। उनके व्यंग्य में असाधारण बारीकी और गहराई है। 'उसने कहा था' में ही जातीय तत्वों से भरपूर जीवंत भाषा मिलती है, जो आज भी उतनी ही आधुनिक लगती है। द्विवेदी युग में गुलेरी का गद्य अपनी कलात्मकता के कारण असाधारण महत्त्व अर्जित करता है।

हिन्दी नवजागरण में अपने उग्र और कठोर विचारों के कारण राधामोहन गोकुल सबसे अधिक उल्लेखनीय गद्यकार हैं। उनके जैसे क्रांतिकारी विचार पूरे नवजागरण में किसी दूसरे लेखक में नहीं मिलते। वे बुद्धिवादी थे और तर्क तथा विज्ञान में उनकी अटूट आस्था थी। नारी अधिकारों और समानता के वे प्रबल पक्षधर थे। वे क्रांतिकारी कार्यों में लगे रहते और कई बार जेल हो आए थे। चन्द्रशेखर आजाद और भगत सिंह के वे घनिष्ठ तो थे ही, कई क्रांतिकारियों के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रेरणा-स्रोत भी रहे। उनका गद्य विचारपूर्ण होते हुए भी प्रांजल होता था। उनमें कहावतों, मुहावरों के प्रयोग और ठेठपन का ठाट देखते बनता है। आवेग और क्रोध में पाजीपन, बेहूदगी, नालायकी जैसे कठोरतम शब्द प्रयोगों में उनका विद्रोही तेवर चमत्कृत कर देता है। उनके गद्य का एक अलग अंदाज है। उर्दू-फारसी और तत्सम शब्दों के साथ उनके देशज प्रयोग गहरे प्रभावित करते हैं। खास तौर से जाति और धर्म की रूढ़ियों पर प्रहार करते समय उनकी आक्रामक भाषा का असर देखते बनता है। वह हिन्दी में अपनी तरह के अकेले लेखक हैं, जिन्होंने 'ईश्वर का बहिष्कार' जैसे अत्यन्त क्रांतिकारी लेख लिखे। माधवराव सप्रे भी उस युग के प्रबुद्ध और विशिष्ट गद्यकार थे। उनकी भाषा सरल और विचारपूर्ण है। भाषा में सोच-विचार का पक्ष प्रबल होने से उनमें प्रांजलता नहीं मिलती, मुहावरों और कहावतों का प्रयोग भी नगण्य है। उनके गद्य में सादगी और विचार के साथ सहज प्रवाह भी है।

चौथा दशक महात्मा गांधी के आंदोलन और साम्यवाद की स्थापना का है। रूस की सफल क्रांति के तप्त समाचार स्वाधीनता आंदोलन को प्रतिपल गर्म कर रहे थे और समाजवादी विचारों को लेकर एक जबरदस्त आकर्षण बढ़ा था। साम्यवाद को लेकर हम विचार करें तो उसमें स्पष्टत: दो भिन्न दृष्टियों की टकराहट प्रारंभ से ही दीख पड़ती है। एक पक्ष जातीयता के राष्ट्रीय स्वरूप को साम्यवादी दिशा देने में विश्वास करता था तो दूसरा सिद्धांतों की अंतरराष्ट्रीयता को सीधे लागू करना चाहता था। ऐसे लोग 1857 ई. की क्रांति को प्रतिगामी गदर मानते थे और जातीय चेतना को नकारते थे। यह एम.एन. राय के सोच से प्रभावित विचारधारा थी, जिसे हिन्दी में रोपने के लिए कई अंग्रेजीदां मार्क्सवादी लगे रहे। आप भगतसिंह के प्रकशित दस्तावेजों के सापेक्ष एम.एम. राय के विचारों को रखकर एक की जातीयता को दूसरे की अंतरराष्ट्रीयता से तुलना करें तो दोनों का फर्क आसानी से जाना जा सकता है। इस फर्क के साथ राधामोहन गोकुल, माधवराव सप्रे, रमाशंकर अवस्थी, जनार्दन भट्ट, सत्यभक्त, विजयसिंह पथिक बाबूराव तिष्णुराव पराड़कर, लक्ष्मीनारायण गर्दे, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, अमृतलाल चक्रवर्ती, गणेशशंकर विद्यार्थी, रामवृक्ष बेनीपुरी और माखनलाल चतुर्वेदी के लेखन को तत्कालीन समय में रखकर देखा जाना चाहिए। विचारों और भावों की दृष्टि से स्वाधीनता के बहुआयामी जनसंघर्षों को स्वर देने का अत्यन्त मूल्यवान कार्य इन लेखकों-पत्रकारों ने किया। जातीय ओज और संघर्ष का जैसा ताप इनके गद्य में है, हिन्दी जातीय गद्य का जैसा क्रांतिकारी तेवर इनमें दिखाई पड़ता है, वह हिन्दी में फिर देखने को नहीं मिला। यह स्वाधीनता संघर्ष

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के उत्कर्ष का काल है, जिसका ताप इस दशक के गद्य में महसूस किया जा सकता है। इसे प्रताप जैसे पत्रों को उलटते हुए देखा जा सकता है।

अब मैं जातीय गद्य के दो महान पुरोधाओं की ओर संकेत करना चाहूंगा, जिनके गद्य में अपेक्षित गरिमा और पूर्णता मिलती है। प्रेमचन्द के जातीय गद्य की मीमासा संक्षेप में संभव नहीं। वह हिन्दी जाति की ओर से भारत का नेतृत्व करते दिखाई पड़ते हैं। आप उनकी तुलना शरदचन्द्र से करें, बी. सत्य नारायण या कुवेम्पु से— इनमें कोई उनकी बराबरी नहीं कर पाता तो इसका कारण उनमें अपनी जातीयताओं के अतिक्रमण का अभाव है। प्रेमचन्द हिन्दी जातीय जीवन की आत्मा को संपूर्ण भारतीय आसंग में उठाते हैं, वह गौ की परंपरित भारतीय लालसा में किसान जीवन की कठोर त्रासदी का यथार्थ अंकन करते हैं। मनुष्य और समाज की बनावट से उनके सरोकार व्यापक और गहरी दृष्टि संपन्नता के साथ हैं। होरी की करुणा और व्यथा के मार्मिक चित्रण का गद्यांश तो वस्तुतः हिन्दी जातीय गद्य का सर्वोत्तम अंश है। उनकी भाषा जीवन की प्रामाणिक अनुभूति की भाषा है। मुहावरों के प्रयोग तो प्रेमचन्द के गद्य में ही पूर्णता पा सके हों जैसे! ऐसी मुहावरेदार भाषा और किसी ने नहीं लिखी। व्यंग्य की मुद्राएं और करुणा के जैसे मार्मिक स्थल उनके गद्य में हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। उनके गद्य में कथन भंगिमा जीवन के गहरे और गहन मर्म जल से जुड़कर अत्यन्त सजीव और प्राणवंत होती हैं। उनके गद्य में आत्मा की आंख हैं। उनके जातीय चिंतन को 'विविध प्रसंग' के लेखों और टिप्पणियों में देखा जा सकता है जिसमें उनकी सतर्कता, गंभीरता, नैतिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता, सक्रियता और जागरूकता के प्रमाण मिलते हैं।

अपने चिंतनपरक वैचारिक गद्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अंग्रेजी प्रभुत्व हिन्दू तथा इस्लामी रूढ़ियों के खतरों को पहचान लिया था। इन तमाम अतिवादों के बीच से उन्होंने हिन्दी में मौलिक चिंतन की लोकवादी परम्परा को जन्म दिया और समीक्षा में हिन्दी की मूल जातीय प्रकृति को आकलित करने की कोशिश की। उनके समीक्षात्मक लेखों के गद्य में निर्लिप्त रंगशून्यता न थी। उनका बौद्धिक चिंतन स्तरीय होते हुए भी अनुभूतिसिक्त है। तत्सम प्रभाव के बावजूद वह सामासिकता से बचे और कथन की सौंदर्य भंगिमा को कहीं खंडित नहीं होने दिया। उनमें तद्भव शब्दों के प्रति अनिच्छा के भाव नहीं थे और उनमें उर्दू शब्दों के अत्यंत सफाई और दक्षता से किए प्रयोग भी मिलते हैं। मुहावरों के सटीक प्रयोग की पटुता, व्यंग्य और विनोद में उनके जातीय रंगों का प्रभाव, खास तौर से रीतिकालीन कवियों की समीक्षा में साफ उभर कर आता है। सुगठित गद्य के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
घनत्व में वह विस्तार को समेटते समय भी, कहीं उलझाव नहीं आने देते। सुबोधता, स्पष्टता, गंभीरता और सजलता उनके गद्य की पहचान है। कहीं-कहीं सामासिकता का आकर्षण जरूर है मगर उनकी भाषा वैचारिकता और व्यंजकता से कहीं च्युत नहीं। मानक अर्थगर्भत्वपूर्ण समीक्षात्मक शब्द हमारी हिन्दी की जातीय समीक्षा में उनकी विशिष्ट देन है।

छायावादी गद्यकार विचारों तथा अन्य रचनात्मक मान्यताओं की दृष्टि से भारतेन्दु युग से ज्यादा जुड़ते हैं। प्रसाद जी में भिन्न जातीयताओं का समवेत राष्ट्रीय स्वर निःसंदेह विकसित है मगर उनकी भाषा विशेष रूप से प्रांजल, अलंकृत और काव्यात्मक है। आलंकारिक और माधुर्यपूर्ण होने के कारण तद्भव प्रयोगों और मुहावरों का अपेक्षाकृत अभाव है। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'तितली' के गद्य को लेकर उसे यथार्थवाद से जोड़ा है मगर उनकी भाषा में एक दूरी- उनकी मौलिकता में ही मौजूद है। उनमें जिस तरह जातीय अवधारणा का विकास मिलता है शायद उस तरह जातीय गद्य का नहीं। जबकि महादेवी वर्मा अपने गद्य में संवेदना, सजलता, करुणा और दुर्लभ मार्मिकता से जातीय गद्य की परम्परा को एक सर्वथा अभिनव विस्तार देती हैं। उनमें जीवन की असीम ललक है— यह जातीय परम्परा से जुड़ती है। पीड़ित जन के प्रति महादेवी का आत्मीय लगाव, जीवन के मर्मस्पर्शी चित्र, जातीय जीवन के प्रति उनके अंतरंग रिश्ते को सामने लाता है। निराला का गद्य छायावादी सीमाओं का अतिक्रमण कर यथार्थवादी प्रगतिशीलता की ठोस पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। उनके गद्य में अक्खड़ता, पौरुष और रूखापन है। अन्त्यज शब्द और मुहावरे अपनी भंगिमा से इतर विशेष प्रभावोत्पादक बनते हैं। चतुरी चमार, बिल्लेसुर बकरिहा या चोटी की पकड़ का गद्य उनके स्वयं के ही पूर्व गद्य लेखन का अतिक्रमण करता है। छायावादी गद्यकारों में विशेष रूप से उल्लेखनीय आचार्य शिवपूजन सहाय, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, रामवृक्ष बेनीपुरी, रामनाथ लाल सुमन और विनोदशंकर व्यास जैसे गद्यकार हैं। शिवपूजन सहाय के गद्य में विविधताएं हैं। वह कलात्मक, प्रांजल और तत्सम-बहुल गद्य लिख सकते थे तो दूसरी ओर पूरी सिद्धहस्तता से फारसी उर्दू मिश्रित गद्य भी। ठेठ भोजपुरी जीवन के जातीय गद्य के लिए आप 'मेरा जीवन' का पहला अध्याय देखें। मुहावरों का प्रयोग तो प्रेमचन्द के बाद उन-सा किसी दूसरे गद्यकार में नहीं मिलता। जातीय जीवन की प्राणवंत लोकलय का राग 'देहाती दुनिया' में लें। 'वे दिन वे लोग' में उनके जीवन के अंतिम दौर का अत्यन्त परिष्कृत और मार्मिक गद्य मिलता है, जिसे देखकर भारतेन्दु युग के गद्य से उनके गद्य तक की यात्रा समझी जा सकती है। भाषा की सजगता ऐसी जो

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

शायद कम हिन्दी लेखकों में मिले। बेनीपुरी धुनी हुई रूई की तरह साफ लेकिन चटक रंगों वाले अनोखे गद्यकार थे। उनके गद्य में चपलता है। इसके ठीक विपरीत उग्र विस्फोटक रचनाकार हैं। वह बेहद मनमानी करने वाले निरंकुश लेखक थे लेकिन उनके गद्य में लगातार परिष्कार होता गया और 'अपनी खबर' तक आते-आते उनके गद्य में खासतौर से पूर्णता आ गई। वह लगातार ज्यादा सघन और ठोस रचते रहे। उनमें ओज तो था लेकिन आपको उनमें एक छापामार भंगिमा मिलेगी जो बकौल हरिशंकर परसाई सुचिंतित विचारधारा के अभाव के कारण उन्हें अराजकता की ओर ले गई। विनोदशंकर व्यास के गद्य में एक चुलबुलापन है लेकिन उनकी भाषा में जबरदस्त रवानगी है जबकि रामनाथलाल सुमन थिर गद्य लिखते थे, साफ और संवेदनाप्रवण। उनके गद्य में संयम था। छायावादी गद्यकारों में मैं एक अन्य बनारसी रंगबाज का भी उल्लेख करूं जिनकी शोख, जिंदादिली मस्ती और फक्कड़पन को बिसराना संभव नहीं है। वह हैं— बहती गंगा के अमर गद्यकार रुद्र काशिकेय! मैं हजारी प्रसाद द्विवेदी से शब्द उधार लूं तो हिन्दी जातीय गद्य में काशी घराना का मामला बारह आने और चार आने का बैठेगा।

मार्क्सवादी नहीं होते हुए भी अपने लेखन में प्रगतिशील और विचारों से राष्ट्रवादी अमृतलाल नागर अप्रतिम गद्यकार हैं। शहरों में बसे विभिन्न जातीय जीवन को जिस प्राणवंत गद्य में उन्होंने अंकित किया है— वैसा यशपाल सा समर्थ लेखक न कर सका। वैसे यशपाल मध्यवर्गीय आधुनिक जीवन के समर्थ कथाकार थे। उनकी तुलना में भगवतीचरण वर्मा का गद्य ज्यादा जातीय है। लेकिन नागर जी के गद्य में मुहावरेदानी और लोकपरक शब्दों का अद्‌भुत प्रयोग है। मुझे लगता है कि अंतर-जातीयताओं को समवेत रूप में आकलित करने वाले संभवत: वह अकेले कथाकार हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के गद्य की जातीय श्रेष्ठता असंदिग्ध है। अभी हम सिर्फ चारू चन्द्रलेख की चन्द्रलेखा के उस व्याख्यान को याद करें, जिसमें जातीय एकता और गौरव का जागरण संदेश है। संस्कृत के रूढ़िवादी जिस तरह हिन्दी को उससे जोड़कर अपना पक्ष मजबूत कर रहे थे, उनका नकार आसान नहीं था। एक ही रास्ता था संस्कृत को हिन्दी अधिकतम पचाकर विकसित हो। द्विवेदी जी की यह महान देन है। उन्होंने जातीय प्रदेश की गौरवपूर्ण सांस्कृतिक संपदा को सुलभ कर दिया। तत्सम शब्द ही नहीं, तत्समी अभिजात्य लोकजीवन से संपृक्त हुआ। उन्होंने जातीय जीवन को एक ऐसी परम्परा से जोड़ दिया जिसमें अक्षय संभावनाएं थीं। उन्होंने ऐसा आधार सौंपा जिससे हिन्दी जातीयता का माथा कहीं भी तन सके। कबीर में गद्य

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। उनके गद्य में संस्कृत की गरिमा और अभिजात्य तथा भोजपुरी की ठेठ जातीय आत्मीयता और निश्छलता का अपूर्व समन्वय है। उनका गद्य एक ऐसी चुनौती है जिसके विकास की संभावना किसी समकालीन में नहीं दीख पड़ती। शोध, आलोचना, निबंध से उपन्यास तक गद्य की अनेक छवियां आचार्य द्विवेदी को एक अप्रतिम गद्यकार के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं।

जातीय चिंतन के साम्यवादी विचारक डॉ. रामविलास शर्मा का गद्य हिन्दी की एक बड़ी उपलब्धि है। उनके विपुल लेखन में गद्य की विविध छवियां हैं। उनके ठेठ जातीय गद्य के विरल उदाहरण हम 'निराला की साहित्य-साधना' के जीवनी-खंड और 'घर की बात' में पाते हैं। वह हमारी जातीय परम्परा के मूर्त्त साक्ष्य हैं क्योंकि उन्होंने जातीय बोध को विश्व-दृष्टि से जोड़कर एक विकासशील आधार दिया। यानी जातीयता के विकास की दिशा उनके निरंतर रैशनल होने में है। डॉ. नामवर सिंह में वैचारिक प्रखरता और कलात्मक संयम का समवेत रूप मिलता है, जो जातीय गद्य की आधुनिक प्रौढ़ि हैं। उनके विरोध, तर्क व्यंग्य और कथन-भंगिमा में हम आसानी से जातीय तत्त्व ढूंढ सकते हैं। अत्यन्त चुस्त, स्पष्ट और सघन बुनावट वाला गद्य जो परम्परा से जुड़कर भी बिलकुल आधुनिक हो— डॉ. नामवर सिंह को विशिष्ट गद्यकार बनाता है। लेकिन जातीय गद्य का ऐसा विकास जो अपने सहज अंदरूनी परिवर्तन में आधुनिक हुआ हो— इसका उदाहरण मुक्तिबोध का गद्य है। उनके गद्य का उत्कर्ष हमें तब देखने को मिलता है जब उनका चिंतन ऊंचाई छूता है। मौलिक चिंतन ने उनके गद्य को मूल्यवान बना दिया है। उनके चिंतन का गद्य उनके निजी प्रतिमानों के अनुरूप ही ज्ञान और संवेदना के दुर्लभ संयोग से बना है। विचार और चिंतन की आधुनिकता के बावजूद उनका गद्य मूल बनावट में ही जातीय है। रांगेय राघव, नागार्जुन, कृष्णा सोबती और भीष्म साहनी ऐसे गद्यकार हैं जो हिन्दी की अंतर-जातीयताओं के जीवन राग को उसकी निजता में सामने लाते हैं। भीष्म साहनी में आधुनिकता के बावजूद जन सहानुभूति से जातीय तत्त्व कायम रह जाते हैं।

हिन्दी में जातीय चेतना से अलग आधुनिकता के प्रबल दावेदार के रूप में अज्ञेय जी का नाम सबसे ऊपर है। उनका जुड़ाव जन से नहीं, अस्तित्ववादी दर्शन से हुआ— जिस तरह जैनेन्द्र कुमार का फ्रायड के मनोविज्ञान से। जिनका जुड़ाव सिर्फ मार्क्सवाद से हुआ— उनके साहित्य में भी जन अनुपस्थित रहा। इनके यहां चरित्र इनकी अवधारणाओं के अनुकूल होते हैं। उनका अपना प्रकृत रूप नहीं आता। ऐसे गद्यकारों में बौद्धिक गंभीरता, कलात्मक निखार या सघनता जो भी हो लेकिन सामान्य जनजीवन यथार्थ की अनुपस्थिति के कारण उनकी भाषा में

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जातीय तत्त्वों का अपेक्षाकृत अभाव रहता है। कुलीनता के प्रति आग्रह के कारण इनके गद्य में जनजीवन की सांस पैदा नहीं हो पाती। इनके गद्य में एक संशय भरा ठंडापन मिलेगा, जो जातीय गद्य परम्परा की उष्मा के विपरीत है। आप मुक्तिबोध और शमशेर के गद्य में पौरुष, आवेग, बेचैनी और ललक पाएंगे। दोनों में जीवन की सघन उष्मा मिलेगी। इनके गद्य से आप अभिजात्य के फर्क को आसानी से पहचान लेंगे। आप विद्यानिवास मिश्र के गद्य को देखें— उसमें तत्सम और देशज के साथ पांडित्य है मगर उनमें प्रवाहमयता भी है। अगर उनके बौद्धिक अभिजात्य की थोड़ी अनदेखी की जाए तो उनके गद्य में आकर्षण है।

पश्चिमी ज्ञान और आयातित आधुनिकता के साथ अपनी चमक कायम रखने वाले निर्मल वर्मा और श्रीकांत वर्मा असाधारण प्रतिभाशाली गद्यकार रहे। इनके गद्य में एक अजीब तरह का सम्मोहन भी है लेकिन इनकी आधुनिकता के सूत्र देश से बाहर जुड़ते हैं। इनके गद्य में भारत से सायास जुड़ाव की जो कोशिश है— उसमें यहां का समाज और जनजीवन नहीं है। ये धार्मिक संस्कृति और दार्शनिक कुहेलिकाओं में विचरते हुए जड़हीन भारतीयता की तलाश करते हैं। वैसे ये अंतरराष्ट्रीयतावाद के प्रबल प्रवक्ता हैं। यह अकारण नहीं कि इनके गद्य में जनजीवन की न तो करुणा मिलती है, न ही उल्लास। ये भद्रलोक के अभिजात्य बौद्धिक शिखर हैं। अतीत उत्सव को जीवित देख पाने की जैसी ललक इनके गद्य में है— अगर उसमें जनजीवन के दैन्य और दमन की विकल पीड़ा होती तो निःसंदेह उनका गद्य श्रेष्ठ होता। मगर अंतर्वस्तु के बिना वह सिर्फ यायावरी दृश्य दर्शन भर कर पाते हैं जिसे पढ़ते हुए पल भर को मुग्ध भले हुआ जा सके, उनके लिखे के साथ रमा नहीं जा सकता। उस अभिजात्य के साथ आत्मीयता जोड़ पाना संभव नहीं। लेकिन रेणु, अमरकांत, मोहन राकेश, भीष्म साहनी, शेखर जोशी, राही मासूम रजा, शानी या शिवप्रसाद सिंह के साथ यह बात नहीं। रेणु की सजल गीतात्मक संवेदना अपनी आत्मीयता से भर देती है। ये सभी कथाकार अपने भूगोल में पलने वाले लोकजीवन से गहरे जुड़े रहे और उसकी अभिव्यक्ति में प्राणवंत गद्य रचकर हिन्दी की जातीयता का अभिनव और बहुआयामी विस्तार किये। जहां श्रीकांत वर्मा की बहसबाजी से भरे गद्य की प्रखरता अंतिम प्रभाव में क्रियाहीन रह जाती है वहीं विजयदेव नारायण साही, नेमिचन्द्र जैन और मलयज जैसे आधुनिक गद्यकारों ने अपनी मर्मभेदी अंतर्दृष्टि और संवेदना से आत्मीय गद्य का अभिनव रूप रचा। अपनी वैचारिक निजताओं के साथ इनके गद्य के सूत्र तात्विक रूप से जातीय बोध और देश की संस्कृति से अविछिन्न जुड़ते हैं।

धीरे-धीरे आधुनिकता के चलन के साथ जातीय मूल्य पुराने पड़ते जा रहे

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हैं और आज समय में गद्य का रूप भी एकबारगी बदल गया है। आधुनिक गद्यकारों को सिर्फ जातीय तत्त्वों या मूल्यों के आधार पर आकलित करना शायद न्यायोचित भी न हो। अभी समकालीन समय में जातीयता और आधुनिकता का समवेत विकास ही अहम है। एक चुनौती हिन्दी जातीयता की अपनी अंतर-जातीयताओं की है, दूसरी अन्य जातीयताओं से जुड़ने की और तीसरी अंतरराष्ट्रीय चिंतन की आधुनिकता से संवाद की। मूल समस्या एकता के तमाम सूत्रों की तलाश और उसके रचनात्मक विकास की है, जो सिर्फ मार्क्सवादी सिद्धांत पर निर्भर नहीं करता। जरूरी यह है कि जातीय सूत्रों से जीवंत संपर्क और दूसरी जातीयताओं से जोड़ने की कोशिश हो। यानी पांव ठोस धरती पर और चिंतन अंतरराष्ट्रीय आकलन पर विश्व दृष्टि से संपन्न हो तभी यह संभव है। मुक्तिबोध के शब्दों में— उद्देश्य अहम की प्रतिष्ठा नहीं, मतैक्य का विकास हो।

('अभिप्राय', 12-13 दिसंबर, 1987)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हिन्दी नवजागरण

हिन्दी नवजागरण को हम आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले देखते हैं, ठीक उसी तरह हमें यह भी अनुमति होनी चाहिए कि डेढ़ सौ वर्ष पहले से, आज के समय को भी देखा-परखा जाए।

जब से रामविलास जी ने हिन्दी नवजागरण को बहस-विचार के केंद्र में रखा, तभी से उनके प्रति ऐसा आचरण किया जा रहा है, गोया उन्होंने ही हिन्दी में नवजागरण पैदा कर दिया हो। लेकिन यह अपराध उनका नहीं था। हिन्दी में नवजागरण उसके जागरूक लेखकों की ही देन है। इसलिए डॉ. रामविलास शर्मा का हिन्दी नवजागरण गलत हो सकता है, लेकिन जो हिन्दी नवजागरण है, उसको तो अब डॉ. रामविलास शर्मा भी गलत नहीं कह सक़ते। हम डॉ. रामविलास शर्मा से सहमत हों-न हों— यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण रामविलास शर्मा भी नहीं है, महत्त्वपूर्ण है— हिन्दी नवजागरण। क्योंकि हिन्दी नवजागरण ही वह बुलंद दरवाजा है— भारत के निकटतम अतीत का। उस दरवाजे को खोलने से हम अपने वर्तमान को ज्यादा प्रामाणिकता से देख सकते हैं, समझ सकते हैं। इससे हमें अपने भविष्य के निर्माण में मदद मिलेगी। अब सवाल यह है कि वर्तमान को किस तरह से देखें। जिसका जैसे मन करे, वैसा देखे? इसकी अनुमति नहीं होती। अपनी मां से किस तरह का सलूक किया जाता है और पिता से— इसकी कुछ सुनिश्चितता होती है, मनोवांछित व्यवहार की अनुमति नहीं होती है। यह कैसे तय होगा? यह आज के समय और समाज से हमारे सरोकारों से तय होगा। अब हम अपने आज के विवाद को अपने पूर्वजों के विवाद से जोड़ें तो यह हमारी समस्या है। उन पूर्वजों की समस्या नहीं है। हिन्दी नवजागरण कोई विचार-विमर्श करके खड़ा किया गया, राजनीतिक संगठन नहीं था कि जिसकी एक पार्टी थी, विचारधारा थी, कार्यक्रम थे, निश्चित पद और उन

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पर बैठे हुए लोग थे, जिनके लिखे और किए को लेकर कोई यह कहे कि किसी की यह बात नवजागरण के इस या उस सिद्धांत से बाहर है। ऐसा नहीं था। वह तो कुछ ऐसे लोग थे जो सोए समाज में अपेक्षाकृत जागरूक थे। वे अपने समय-समाज से जुड़े थे और उसको बदलने के लिए कुछ करना चाहते थे। इसमें कई लोग थे। एक व्यक्ति की भूमिका में भी अंतर था। वह जैसा शुरू में कर रहा था, बाद में उसने वैसा नहीं किया। उसमें विकास हुआ, परिवर्तन आए। बिना इस बात के एहसास के हम जैसा चाहें, जैसा नवजागरण के साथ सलूक कर सकते हैं, तो कीजिए। हम उसको हिन्दूवादी सिद्ध कर देंगे— कर दीजिए। लोगों ने मार्क्सवाद और गांधीवाद से गलत सलूक किया तो मार्क्स और गांधी ने क्या कर लिया?

डॉ. रामविलास शर्मा ने हिन्दी नवजागरण की जिस सामग्री के आधार पर काम किया है, वह सामग्री मुश्किल से दस प्रतिशत होगी, शायद उतनी भी नहीं। इसलिए उपलब्ध सामग्री के आधार पर इच्छित निर्णय निकालने की हड़बड़ी कई समस्याएं पैदा कर रही है। नजरिए का निर्णायक महत्त्व तो है ही। हम पूछते हैं आज जितनी बैलगाड़ियां हैं, उतने हवाई जहाज नहीं हैं, तो क्या हम उन बैलगाड़ियों के यथार्थ पर ही देश का मूल्यांकन कर लेंगे? हिन्दूवादी सामग्री क्या अतीत में छपती थी, इसको छोड़िए न! आज कहां, कौन सामग्री, किस मात्रा में छप रही है— उसी पर विचार कीजिए न! इसीलिए मैं कह रहा था कि नवजागरण काल से आज के समय को भी देखने-परखने और इच्छित निर्णय निकालने की अनुमति मिलनी चाहिए। आज आपका समय कैसा है? दिव्य ज्योति, ज्ञानबोधनुमा दस-दस लाख छपने वाली कई पत्रिकाएं हैं। पांचजन्य, राष्ट्र धर्म- 'पहल', 'वसुधा' 'आलोचना' से कई गुना अधिक छपने वाली पत्रिकाएं हैं। जिस समाचारपत्र के सलाहकार संपादक डॉ. नामवर सिंह या प्रभाष जोशी जैसे प्रबुद्ध लोग हैं- उसमें भी राशिफल, प्रवचन और हिन्दूवादी सामग्री छपती है या नहीं? वे हिन्दू थे, इसी देश में थे तो क्या करते? वे हमारी तरह मार्क्सवाद पढ़े-लिखे प्रबुद्ध क्रांतिकारी तो थे नहीं, जो ब्रिटिश राजसत्ता को उलट देते। उन्होंने अपने सोए समाज को जगाने और बदलने के लिए अपनी समझ और सामर्थ्य के मुताबिक कुछ किया, जिसका हम आज आकलन करने बैठे हैं। अब वे कैसे थे, क्या किया, उनके सरोकार और उद्देश्य क्या थे— इस पर विचार कीजिए न! वे गोरे थे कि काले थे, हिन्दू थे कि क्या थे— मूल बात यह कि उस परिस्थिति में उन्होंने क्या किया? इस पर विचार कीजिए और उस समय के सापेक्ष कीजिए। आज कल्पना कीजिए आज से कोई-डेढ़ सौ वर्ष बाद कोई वीरभारत तलवार-नुमा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

निकले और 'पहल', 'वसुधा' या 'आलोचना' को लेकर कहे कि ये पांच सौ हजार छपने वाली सीमित मात्रा और संख्या वाली पत्रिकाओं और इसमें छपने वाले रचनाकारों को क्यों महत्त्व देते हैं— 'राष्ट्र' धर्म और 'पांचजन्य' पर ध्यान दीजिए न! जितने यहां पर विद्वान जुटे हैं— वही इसका उत्तर दें। ऐसे लोग आज के भारत का यथार्थ रखेंगे— 'इतनी बैलगाड़ियां, इतने टमटम— भारत ऐसा पिछड़ा देश!' आपका मन जैसा चाहे, वैसा निष्कर्ष निकाल लीजिए, आपको छूट है।

मैं फिर कह रहा हूं इस तरह का विवाद, जो हो रहा है, कुछ लोगों द्वारा सायास किया जा रहा है— उसका एक बहुत बड़ा कारण यही है कि नवजागरण की विपुल मूल सामग्री अभी भी सामने नहीं आ पाई है। हिन्दी नवजागरण किसी की कल्पना नहीं है, यह इतिहास की पैदा हुई सच्चाई है, यथार्थ है। जो रामविलास शर्मा हिन्दी नवजागरण के सबसे बड़े अध्येता हैं, उनको तो मुश्किल से दस प्रतिशत सामग्री मिली और उसी पर विचार-विश्लेषण करते उन्हें पसीना आ गया। आप उनके नवजागरण संबंधी कार्यों को समय से मिलाकर देखिए। 1857 पर उनकी किताब 1959 में आती है, तब वह 'नवजागरण' का उल्लेख नहीं करते। सातवें दशक में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र किताब आई, उसमें भी 'नवजागरण' का उल्लेख नहीं हुआ। पहली बार 1977 में उल्लेख होता है - 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण'- यहां भी गौर कीजिए 'नवजागरण' पर स्ट्रेस बाद में है, द्विवेदी जी पर पहले। फिर आगे काम करने के दौरान, उनको भी काम की प्रक्रिया में लगा था— 'हिन्दी नवजागरण'। ऐसी बात नहीं थी कि उनको इसका पहले से बोध था। काम करने के दौरान बोध हुआ था तो काम करने के दरम्यान कहां से बोध हुआ? मूल स्रोत सामग्री से गुजर कर। फिर उन्होंने हिन्दी नवजागरण के स्वरूप को उकेरना शुरू किया और कठिन अध्यवसाय से लंबे समय तक इस कार्य में लगे रहे।

हमारे यहां एक बड़ी सुविधा है कि अपना पैण्ट-वैण्ट गंदा नहीं करना चाहिए। हम तो केवल विचार करेंगे। रामविलास जी या दूसरा कोई, सब काम कर दें और हम अपनी उच्च स्तरीय समझ से यह बता देंगे कि वे कहां-कहां गलत हैं— तो यह तरीका नहीं है। बाप ने मकान बना दिया है, उसमें हम रह रहे हैं और कोस रहे हैं कि ऐसी जगह बना दी, लैट्रिन यहां बना दिया, यह कमरा ऐसा नहीं होना चाहिए... बताइए भला! इस मकान में यह नहीं है, वह नहीं है। यह ऐसा है, इसे वैसा होना चाहिए!... अजब हाल है भैया! आप क्यों परेशान हैं, दूसरा मकान बनवा लीजिए। इसलिए यह तौर-तरीका, बातचीत करने का, अपने

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

इतिहास पर या अपने पूर्वजों पर, आपत्तिजनक है। रामविलास जी के सोच-विचार के केंद्र में नवजागरण रहा है। भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद-नवजागरण का ही हिस्सा है। 'गांधी' अंबेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएं तक नवजागरण का चिंतन जुड़ा रहा। इतना ही नहीं, वे पीछे भी पलटे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र वाली पुस्तक का अगला एडीशन होता है तो नाम लिखते हैं— भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण।

दूसरी चीज यह कि हिन्दी प्रदेश का नवजागरण और हिन्दी नवजागरण दोनों दो चीजें हैं। क्षमा कीजिए, इस बीच में एक बात और कि आप लोग इसको हिन्दी नहीं, हिन्दू नवजागरण कहने लगे हैं, तुक भी मिलता है— हिंदी, हिन्दू का। मैं आपसे जानना चाहता हूं कि बंगला का हिन्दू अपना विचार किस भाषा में रखता था और मराठी का हिन्दू? भारत की दूसरी भाषाओं के हिन्दू किस भाषा में विचार करते थे? तब आप यही साफ बात क्यों नहीं कहते कि सारी भाषाओं का नवजागरण, हिन्दू नवजागरण का— असल नवजागरण तो अंग्रजी में हो रहा था, अंग्रेज कर रहे थे। भारत को आधुनिक बना रहे थे।

अच्छा, चलिए आपकी यह बात भी मान लिए, अब आगे बढ़िए। चाहे जैसा भी नवजागरण था, आखिर इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि क्या थी? सन् 1947 में इस देश की आजादी! तब हिन्दू नवजागरण का सबसे बड़ा प्रतिफल देश की आजादी थी— इसको भी कहिए। लेकिन आप कहते हैं कि देश की आजादी में जो अभी हिन्दू हैं न! उससे उनका तो कोई संबंध ही नहीं था। आखिर आप दोनों बातें कैसे कहिएगा? देखिए इस तरह के जो विचार व्यक्त किए जा रहे हैं, यह आज कोई नई बात नहीं है, न ये लोग नए हैं। वर्षों से अंग्रेजी में ऐसा कहा जा रहा है। जिस तरह अमेरिका, इराक को आज लोकतांत्रिक बना रहा है, उसी तरह अंग्रेज इस देश को आधुनिक बना रहे थे। अंग्रेजों की बातें उनकी जारज औलादें दुहराने लगीं। 1857 में लड़ने वाले इस देश को पीछे ले जा रहे थे, वे सामंतवाद के प्रतिनिधि थे। उनकी तुलना में अंग्रेज पूंजीवाद के प्रतिनिधि थे— इसलिए वे प्रगतिशील हुए। अब इस पोजीशन को क्या कहें?

अंग्रेजी वाले अक्सर कहते रहते हैं कि सन् 1857 पर हिन्दी में तो कुछ काम हुआ नहीं है। एक अंग्रेजी की नकल है। अब इनको कौन समझाए? नवजागरण पर काम करते हुए कुल 21 किताबें तो मुझे देखने को मिली। दूसरी चीज यह कि 1857 से हिन्दी नवजागरण शुरू हुआ था कि पहले हुआ था, यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। हमारे समय-समाज के सरोकार में जब ज़रूरत पड़ेगी तो हम तय कर लेंगे। सबसे जरूरी बात यह कि हिन्दी नवजागरण,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जिसकी दस प्रतिशत सामग्री पर हम आज बहस-विचार कर रहे हैं, उसका नब्बे प्रतिशत तो अभी सामने आया भी नहीं है। फिर हिन्दी प्रवेश के नवजागरण में जो जनता थी, वह तो हिन्दी में काम करती नहीं थी, हिन्दी तो कोई भाषा ही नहीं थी, काम चलता था लोकभाषाओं में। हिन्दी का दस प्रतिशत सामने है तो लोकभाषाओं का आप स्वयं अनुमान लगा लें। आपके बताऊं-मगही में एक रिसर्च हुई है। मगही के 39 कवि भारतेन्दु के पास गए थे। उन्होंने कहा कि हम हिन्दी में लिखना चाहते हैं, आप हमारा मार्गदर्शन करें। भारतेन्दु ने कहा— नहीं आप लोग मगही में लिखें। अब और-और लोकभाषाओं के कौन-कौन लोग उनसे मिलते थे या उन जैसे, और वह क्या कहते थे— यह तो रिसर्च की बातें हैं। मेरा कहना है कि फैसले वाली भाषा बोलने के पहले विचार करने की जरूरत है, हमको-आपको। लेकिन नहीं, कोई दूसरा काम करेगा और हम तो सिर्फ बताएंगे कि तुम कहां गलत हो? यह तो हमारी मुद्रा है।

बात यह कि सन् 1857 के पहले और बाद की लोकभाषाओं का हमने संग्रह किया? जनता के बीच जाकर कभी काम किया? क्या वह लोकभाषा इसके पहले नहीं थी, क्या उनमें कविता या कथा की कोई परम्परा नहीं रही है? जाहिर है ऐसी मूढ़तापूर्ण बात तो कोई नहीं कहेगा। लेकिन यह तो सच है कि उस पर काम नहीं हुआ है तो होना चाहिए। तीसरी बात यह कि हिन्दी भाषा समाज में ही अविच्छिन्न रूप से उर्दू भी पलती-बसती आई है। हिन्दी नवजागरण में तो दस प्रतिशत सामग्री पर काम हुआ, इतनी बहस हो गई कई निष्कर्ष भी निकाल लिए गए। लेकिन उर्दू में? उर्दू नवजागरण काल में किस रूप में थी, उसमें सन् 1857 के आसपास से सन् 1947 के बीच क्या छपा, क्या नहीं, मैंने कई उर्दू वालों से पूछा, किसी को कुछ विशेष जानकारी नहीं। हो सकता है सही आदमी तक मेरी पहुंच नहीं हो पाई हो। लेकिन यह जो तरीका है कि जिसको जो मन किया, कहीं से एक-दो किताबें मिलीं और उसे ही लेकर सामने आ गए। यह उचित नहीं। एक-दो किताबों से बात नहीं बनने वाली। नवजागरण तो जरूरत थी, न पूरे व्यापक पैमाने पर लोगों की। एक और बात है कि उस समय जो अंग्रेजी पत्र निकलते थे— द इंपीरियल, द मिरर... ये जो अखबार थे इन्हें राष्ट्रवादी निकालते थे। वे भी अपने समय-समाज सरोकारों से जुड़े हुए थे। वे लिखते थे। ऐसे पत्रों की भी छानबीन होनी चाहिए। इतिहासकारों और शोधार्थियों को इनकी सामग्री भी सामने लानी चाहिए और विचार करना चाहिए कि ये किसके हित साधन में लगे थे। एक और चीज है कि इस देश का हिन्दीभाषी प्रदेश, जिसको काऊ बेल्ट कहते हैं, पता नहीं कैसे कहते हैं? अगर वाकई ऐसा है तो 1947 ई. के बाद ही

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

काऊ बेल्ट बना होगा, पहले नहीं बना है।

एक और पक्ष है जिस पर काम होना चाहिए और इसे भी शामिल करना चाहिए नवजागरण में, वह यह कि विभिन्न जनपदों के अलिखित इतिहास पर कुछ लोगों ने काम किया है। भाई सुधीर विद्यार्थी ने बीसलपुर को लेकर ऐसा ही कार्य किया है। अमृतलाल नागर ने 'गदर के फूल' से इसकी अनुकरणीय शुरुआत की थी। उत्तरांचल के शिव बालक डबराल ने तो कई खंडों में काम कर इस दिशा में एक कीर्तिमान ही स्थापित कर दिया है। एक बार जब मैं गया था, प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन में ग्वालियर, तो एक हरिहर द्विवेदी जी मिले थे। उन्होंने ग्वालियर के इलाके पर बहुत ही प्रामाणिक कार्य किया था। अब इस तरह से एक-एक जनपद में जाइए तो एक-एक जननायक मिलेगा, जिसने अपने इलाके में उस समय नवजागरण को मूर्त्त किया था। यही लोग थे, जो नवजागरण कर रहे थे। तो उनके बारे में थोड़ी-बहुत सामग्री जुटाकर भी तत्कालीन समय की हलचलों को देखा-परखा जा सकता है। सिर्फ काऊ बेल्ट, काऊ बेल्ट कहकर आधुनिक और प्रगतिशील बनने से काम नहीं चलेगा। तीसरी बात यह कि नवजागरण पर विचार करने के पहले सन् 1857 वाला जो मुद्दा है, उसे बार-बार झुठलाने से वह मिट नहीं जाएगा वह भारतीय जनता का संघर्ष था। देखिए हिन्दी भाषी प्रदेश ऐसा नहीं था कि आसानी से उसने घुटने टेक दिए। विचार करना चाहिए, आखिर क्यों नहीं विकास हुआ हिन्दी प्रदेशों का? गौर कीजिए इस क्षेत्र में कोई बंदरगाह नहीं थी। सन् 1764 में अंग्रेज जब जीत जाते हैं बक्सर में मीर कासिम से, तो भी यहां की जनता ने उनको सन् 1857 तक चैन नहीं लेने दिया जबरदस्त संघर्ष उनको झेलना पड़ता है। बिहार में तिलका मांझी का सन् 1781 से 1784 ई. तक विद्रोह चलता है। चेंरों का 1807 ई. में विद्रोह होता है, दुखन मांझी का सन् 1811 में हुआ, मुंडा उरांव का 1812 ई. में। सिद्धू , कान्हू, चांद और भैरव 1855 ई. तक लगातार लड़ते रहे। आश्चर्य है अंग्रेजीदां महान इतिहासकारों की नजर में इनका विद्रोह स्वाधीनता का संघर्ष नहीं था। मैं बुंदेलखंड के बारे में देख रहा था तो कोई एक ठाकुर थे, जिन्होंने 1857 ई. के बहुत पहले सन् 1842 के आसपास भारी संघर्ष किया था अंग्रेजों से। तो ऐसी बात नहीं थी कि यह 'काऊ बेल्ट' था और इसमें लड़ने की परम्परा नहीं थी। लड़ते रहते थे लोग।

दूसरी चीज कि भारतेन्दु ने 1867 में जब पहली पत्रिका निकाली तो उसके पहले हिन्दी में पच्चीस पत्रिकाएं निकल चुकी थीं। भारतेन्दु का जन्म सन् 1850 में होता है और 1885 ई. में निधन हो जाता है। 17 साल की उम्र होती है तो वह

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सन् 1868 में कवि वचन सुधा निकालते हैं। 17 साल में नवजागरण का काम करते हैं, या काम करने योग्य होते हैं। अब देखिए, रामविलास जी भी भारतेन्दु के पूर्व प्रकाशित पच्चीस पत्रिकाओं को अपनी विचार परिधि में नहीं लाते। हम ऐसा क्यों नहीं करते? कहां से करेंगे, मिलेगा, हम खोजें-तलाशेंगे, तब तो? इसकी फुर्सत किसको है। हमें तो चट से किसी संस्थान से दो साल का फेलोशिप ले लेना है। दो साल में नवजागरण को दुरुस्त कर देना है। यह सिद्ध कर देना है कि यह हिन्दू नवजागरण था। दरअसल हमारा तो व्यवसाय बन गया है नवजागरण! बौद्धिक व्यवसाय है, विलास है। अच्छा तो रामविलास जी की टांग तोड़नी है फिर प्रहार नवजागरण पर करना ही है। दिक्कत यह है कि रामविलास जी की कई टांगें हैं— अपनी टुच्ची क्षमता। ऐसे लोगों के सामने यही सब प्रॉब्लम आ जाता है।

सबसे पहले हम इस पर विचार करें कि सन् 1857 के पहले क्या प्रॉब्लम थी? उस समय भारत की क्या स्थिति थी? 1842 ई. में थॉमस मुनरो की रिपोर्ट छपी थी। उसे यह जानकारी चाहिए थी कि भारत में कितने मजदूर हैं, वे कहां मिलेंगे। क्यों उसे मजदूरों की जरूरत आन पड़ी। इस पर हम बाद में चर्चा करेंगे। रिपोर्ट के अनुसार कोई मजदूर नहीं था। सन् 1881 में जाकर 75 लाख की संख्या होती है। 1842 में जब रिपोर्ट आती है तो मजदूर उसे नहीं मिलते हैं। वहीं सन् 1881 में 75 लाख मजदूरों की संख्या पहुंच जाती है। अंग्रेजी शासन प्रगतिशील था, आधुनिक था कि क्या था, यह बेकार का विवाद है। उस समय वस्तुस्थिति क्या थी— इसको तो जानना चाहिए। उससे न तय होगा।

यह महत्त्वपूर्ण कारण था। यह वही काल था जब मैकाले यहां पहली बार आया था। उनकी नजर यहां पर जैसा कि हमारे बड़े भाई डॉ. अजय तिवारी ने बताया.... हमारे बड़े भाई भी कभी-कभी अतिरेक कर देते हैं, उनकी दो चीज मैं उनको लौटा दे रहा हूं— एक तो डॉक्टरेट, मैंने किया ही नहीं है और दूसरा आदरणीय और तीसरा विद्वान, ये तीनों वे अपने साथ दिल्ली लेते चले जाएं। बाकी अपना प्रेम जो है वही मेरे लिए दे दें।... तो उस समय थॉमस मुनरो ही नहीं, मैकाले भी आया था। तो उनकी चिंता यह थी कि भारत कैसे उनके लिए एक हेलिपैड बने। उनको भारत की ही चिंता नहीं करनी थी, ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ साम्राज्यवादी हिस्सेदारी की लड़ाई रूसी ज़ार भी लड़ रहा था। वह भी कुछ देशों पर कब्जा करना चाहता था और इधर ब्रिटेन के पास और भी कई गुलाम प्रदेश थे। बहुत बड़ा भूगोल था ब्रिटिश सत्ता के पास, उनका सूरज नहीं डूबता था। उनको उन देशों में भी इंतजाम करना था। इसीलिए मुनरो और मैकाले

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

को लगा कि यहां पर जो आदमी हैं, उसमें मेरे काम का भी चाहिए। इन तमाम मुद्दों पर योजनाबद्ध तरीके से पांच वर्षों तक विचार हुआ।

मैकाले सन् 1830 में आता है और 1835 ई. में जाकर प्रस्ताव पास होता है मैकाले का। मैकाले का प्रस्ताव पास हो जाता है, विश्वविद्यालय खुल जाते हैं। यहां यह कहा जाता है कि अंग्रजों ने इस देश का विकास कर दिया, इसे सभ्य बना दिया। जरूर किया अंग्रेजों ने। फोर्ड विलियम कॉलेज में उन्होंने भाषा पढ़ानी शुरू कर दी। भोजपुरी तक पर काम हुआ। अब विचार इस पर करना चाहिए कि वे क्या काम कर रहे थे, क्या नहीं ? उनका एक अपना निश्चित लक्ष्य था। वे अगर दूरगामी सोचकर अपना काम नहीं करते, तो कैसे काम चलता ? आप ध्यान दें— ईसाई मिशनरियां उसी काल में आती हैं। अब मिशनरियां जब भोजपुरी समाज में जाएंगी तो वहां अंग्रेजी से कैसे काम चलेगा! हिन्दी से भी पूरी तरह कारगर काम होने से कसर रह जाती। इसीलिए उनको भोजपुरी तक उतरना पड़ा। तो उनको अपना लक्ष्य पूरा करना था, कैसे करना था— इसे वे अच्छी तरह सोच -समझ कर तय करते थे। इसलिए उनको बिना सोचे-समझे प्रगतिशील ठहराने से बचना चाहिए। वे अपना दूरगामी स्वार्थ साध रहे थे और आप उससे भारतीय जनता का हित सिद्ध कर रहे हैं, यह अजीब तमाशा है भाई कि अंग्रेजों के विकास की बात करने लगें। क्या हम इस बात पर विचार कर रहे हैं कि हमारे समाज में अंग्रेजों की क्या भूमिका थी ? हम भारतीय समाज की मनोदशा और उसके जीवन की वास्तविकता पर विचार कर रहे हैं।

अब आप सन् 1857 के संघर्ष को देखें— जो लगभग दो साल चलता है और यहां पर ब्रिटिश कंपनी से सत्ता, विक्टोरिया रानी के हाथों में आती है— पहली बार। अब आप सन् 1857 के इन दो वर्षों तक चले संघर्ष की अनदेखी तो नहीं न कर देंगे। आप यह तो देखें कि प्रगतिशील और आधुनिक अंग्रेजों ने इस संघर्ष को किस बेरहमी से कुचला। मानवता की धज्जियां उड़ाते हुए वे दमन के किस स्तर पर उतरे। किस इलाके में क्या किया गया था इसकी एक झलक 'आंखों देखा गदर' और सीताराम पांडे की आत्मकथा में देखिए। अनेक लोमहर्षक प्रसंग हैं, जो लिखित, अलिखित बिखरे पड़े हैं। खुद पटना के बांकीपुर से पत्थर की मस्जिद तक, लगभग डेढ़ किलोमीटर तक सड़क के दोनों ओर जगह-जगह सिर काटकर लाशें टांग दी गई थीं। गांवों में दहशत फैलाने के लिए संघर्ष करने वालों के सिर काटकर धड़ बरगद के पेड़ से लटका दिए गए थे। बिहार में सन् 1857 का पहला शहीद पीर अली था। हिन्दू नवजागरण है कि मुसलमान नवजागरण-इस पर बाद में विचार कीजिएगा— दोनों एक ही समाज में थे।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अत्याचार दोनों झेल रहे थे, जाहिर है प्रतिकार भी दोनों ने मिलकर किया। अब पीर अली को लीजिए। वह बैकवर्ड मुसलमान थे। अब तो शहीदों के बारे में बैकवर्ड--फारवर्ड बताना पड़ता है। आजकल के समय में कि, हमारे पूर्वजों में कौन बैकवर्ड थे, कौन फारवर्ड। इस तरीके से हम नवजागरण पर विचार कर रहे हैं।

ज्योति बा फुले और बाल गंगाधर तिलक— दोनों की नवजागरण में अपनी-अपनी भूमिकाएं थीं, अपना-अपना आंदोलन था। उस समय समाज में, भारतीय समाज में कई चीजों की जरूरत थी। उसमें कुछ पक्ष ऐसे भी थे, जिस लक्ष्य को पाने के लिए राजभक्ति के समीप रहना जरूरी थी। ज्योति बा फुले का उद्देश्य समाज की जरूरतों से ही बना था। अलग फ्रंट पर काम कर रहे थे फुले— महात्मा फुले। अलग फ्रंट पर काम कर रहे थे तिलक! आज दोनों हमारे बाप हैं। अगर यह बोध है आपको, तब तो हिन्दी नवजागरण पर विचार कीजिए, नहीं तो सिर्फ अपनी जाति की दुकान कीमती करने के लिए पूर्वजों की तलाश है, जो बात अलग है। यह आपकी जरूरत और स्वार्थ की बात है। अगर वाकई आज के भारतीय समाज से आपके सरोकार सच्चे हैं, आप निर्दोष मत से मौजूदा हालात को सार्थक और रचनात्मक बदलाव देना चाहते हैं तो अपने दृष्टिकोण को बदलिए और यह मानिए कि फुले भी हमारे पूर्वज हैं और तिलक भी हमारे ही पूर्वज हैं। यह बात हमें याद रखनी चाहिए कि नवजागरण भी एक गतिशील प्रक्रिया है। ऐसा नहीं कि भारतेन्दु या फुले उठे, सक्रिय हुए और नवजागरण कर दिया। हमें उनके कार्यों और विचारों को आज के आलोक में देखना होगा। अब फुले को लें। उन्होंने एक जचकी आश्रम खोला था। उसमें कोई भी गर्भवती औरत आकर बच्चा जन सकती है और जब तक चाहे रुक सकती है। उस समय जो कुलीन ब्राह्मण समाज था, वहां बाल विवाह तो था लेकिन विधवा विवाह का चलन न था। दूसरे समाज में तो पुनर्विवाह की गुंजाइश भी थी, मगर ब्राह्मण समाज बुरी तरह रूढ़िग्रस्त था। जाहिर था ब्राह्मण समाज में ही विधवा और उसके गर्भधारण की समस्या थी। ऐसी औरतें हैं तो घर से निकालो, वरना ब्राह्मणत्व की मर्यादा खत्म हो जाएगी। तो यह समस्या समाज में थी, भले ही वह जाति विशेष में ही क्यों न हो। आप उस विधवा औरत की कल्पना कीजिए, जो गर्भवती होकर ससुराल या पिता के घर से निकाल दी गई हो! ऐसी औरतों के लिए ही उन्होंने खोल दिया आश्रम— जचकी सेवाश्रम! अब आप एक बात बताइए कि उन्होंने ऐसा आश्रम खोलते समय दलित स्त्री और ब्राह्मण स्त्री में कहां फर्क किया? वह वाकई महात्मा थे, इसलिए उनमें ऐसी भेदभरी दृष्टि थी ही नहीं। वह उन तमाम

CC-0.Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

औरतों के पिता बन जाते थे। उनका जो भौतिक संपत्ति का वारिस बना, वह भी एक ब्राह्मणी का बेटा था। कल्पना कीजिए अगर आज का दलितवाद रहता तो कहता कि 'कौन विधवा है ?' अच्छा, ब्राह्मण की है, मरने दो उसको। या भोग करने के लिए रखैल बना लो, धंधे में धकेल दो।

इस दृष्टिकोण के वे लोग नहीं थे। इसलिए फुले को सिर्फ दलित हितैषी मानकर हम आज दलितवाद का व्यवसायीकरण करें, व्यापार करें, अपना भौतिक हित साधें तो इससे बड़ा अपमान उनका दूसरा कुछ हो नहीं सकता। ठीक उसी तरह सवर्ण ग्रंथि से ग्रस्त महात्मा फुले को अपने महान पूर्वज न मानकर उपयुक्त सम्मान न दें, तो यह जड़ता और उद्दंडता का उदाहरण होगा। हमें अब आज के समाज को बदलने के लिए सक्रिय होना होगा तो महात्मा फुले के पास जाना ही होगा। उनके आदर्शों को अपनाना ही होगा। उनके विचारों के पीछे जो मनोभाव हैं— उनको परखना होगा। उन पर विचार करना होगा। आज हमें यह सुविधा है क्योंकि हम इतिहास में उनके बाद खड़े हैं। हमारा सामान्य बोध और हमारी वैचारिक क्षमता ज्यादा विकसित है। मैं यहां खास तौर से यह कहना चाहूंगा कि हमें लोगों की यह मानसिकता भी बदलनी चाहिए कि 'हम लोगों का युग बड़ा गया-गुजरा है, पिछला वाला बड़ा अच्छा था। इतिहास की लाश ढोकर कोई भी समाज कभी ऊपर नहीं उठ सकता। हमें समाज में संग्रह-त्याग का विवेक विकसित करना ही होगा। परम्परा से हमारे रिश्ते अपने समय और समाज के सरोकारों से ही तय होने चाहिए, संग्रह त्याग का विवेक हर हाल में अनिवार्य है। इसमें कोई और गुंजाइश है ही नहीं। वैसे आज तो नवजागरण लाने के लिए एन.जी.ओ. सिस्टम चला हुआ है। एक से एक नायाब तरीके चल रहे हैं, विचार और बहसें चल रही हैं, ऐसे में हिन्दी नवजागरण के प्रति हिकारत की बात, विरोध की बात या नवजागरण को प्रदूषित और विकृत करने का प्रयत्न कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इसलिए अब हम अपने उन पूर्वजों के पक्ष पर गौर करें कि आखिर वे नवजागरण कैसे करते थे ? आप देखिए हिन्दी में जो भी नवजागरण करने वाले थे उनके पास एकदम अविकसित हथियार था— हिन्दी ! हिन्दी उस समय किस दुर्दशा में होगी ? इसका आप अनुमान कीजिए। आज भी कौन अच्छी दशा में है ? आज तो हमें पांच सौ और एक हजार पत्रिका या पुस्तक बेचने में ढेर सारे कर्म-कुकर्म करने पड़ते हैं लेकिन उस समय ? तब तो भाषा भी दयनीय स्थिति में थी और उसको बोलने वाले भी। यह सोचकर अजीब लगता है कि आज लेखक आपस में अंदर ही अंदर एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं और पैसे-प्रसिद्धि के लिए

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
उद्ग्रीव होकर जहां-तहां धक्का देते चलते हैं। वे यह नहीं सोचते कि उनकी किताबों के संस्करण, जो पांच सौ, छः सौ, या हजार— इससे ज्यादा छपने का सौभाग्य कम पुस्तकों को मिलता है। आप सोचिए, एक अरब की आबादी में अगर आपकी पुस्तकों के दस संस्करण भी जाएं, तो पांच नहीं दस हजार लोगों तक हम पहुंचते हैं। इतने लोग तो एक गुंडे को भी जानते हैं। हमारी औकात क्या है कि इतना अहंकार पाल लड़े जा रहे हैं।

तो उस समय की हिन्दी, जो भाषा बनी ही नहीं थी, उसको बनना था, बनाना था। यहां यह भी बात है कि हिन्दी को ही क्यों बनना जरूरी था? इसलिए बनना जरूरी था क्योंकि वही एक भाषा थी, जो विभिन्न लोकभाषाओं से बन रही थी। मसलन आजादी के संघर्ष में जनता एक भाषा को बना रही थी। वही है हिन्दी। इसका पैदाइशी स्वभाव है सह-अस्तित्व का। हिन्दी के किसी एक लेखक का नाम आप लोग बता दीजिए, जो सांप्रदायिक रहा हो और हिन्दी में उसको इतिहास का गौरव मिला हो? संभव ही नहीं है। संकीर्ण और सांप्रदायिक लेखक जीवन भर हिन्दी में लिखता रहे— वह हिन्दी का लेखक ही नहीं होगा। हिन्दी की प्रकृति ऐसी है ही नहीं। उसका स्वभाव भी था, काम ही था फैलना, वह जनता की बनाई भाषा थी, जिसमें विभिन्न समाजों का अवदान था। कहते हैं हिन्दी मर रही है— घेंवड़ा मर रही है। किसकी औकात है हिन्दी को मारने की? इसको मारने के लिए हिन्दी समाज को मारना होगा, भारतीय समाज को मारना होगा। आप इसके साथ छल कर सकते हैं— कीजिए। अगर आप कुछ नहीं करेंगे तो हिन्दी मर जाएगी, तो मत कीजिए। आपमें जितनी कूवत है, जी भर दूह लीजिए। हिन्दी की चिंता छोड़िए, वह अपने समाज, अपने नायकों के बूते आज दुनिया की तीसरी बड़ी भाषा है। वह दुनिया के अनेक देशों में पहुंच चुकी है, पहुंच रही है। उसे अब अपने अस्तित्व की लड़ाई नहीं लड़नी। वह ब्रिटिश साम्राज्य से लड़कर करोड़ों लोगों की मुक्ति भाषा का गौरव हासिल कर चुकी है। आज भी वह अनेक मोर्चों पर अपने बृहत्तर समाज की बेहतरी के लिए लड़ रही है।

तब यह है कि संकट जबरदस्त है। पूरे समाज पर संकट है, देश और दुनिया पर संकट है। वह संकट है— पूंजी के प्रभाव का। न्यूयार्क में किसी व्यस्त जगह पर एक टॉवर है— बिजनेस टॉवर। वहां लिफ्ट या अन्य जरूरी जगहों पर जो लिखा गया है— वह बाइलिंगुअल है। गुजराती और अंग्रेजी में। इसलिए, क्योंकि बिजनेस टॉवर पर गुजराती पूंजी का प्रभाव है। पूंजी तय कर देगी भाषा। आपको कहता हूं, आप आज ही कर दीजिए न! कि लोकभाषाओं में किसी एक के पर्चे

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
रखने से आई.ए.एस. में आना आसान हो जाएगा। फिर देखिए, ये लोकभाषाएं कितनी कीमती हो जाएंगी। उनका अचानक तेजी से विकास होने लगेगा। हिन्दी को रौंदने वाले या उसका दोहन करने वाले इतिहास में खो जाएंगे, मगर हिन्दी को वे कभी मिटा नहीं पाएंगे। सीमा पर शहीद होता रहता है आदमी, फिर भी देश की माताएं बच्चों को पैदा करती रहती हैं— शहीद होने के लिए। यह सिलसिला चलता रहता है उसी तरह से हिन्दी का सिलसिला भी चलता रहेगा। हम इसको लेकर कभी चिंतित नहीं होते, कभी खिन्न नहीं होते। अब हम फिर मूल बात पर आएं।

तो इतनी पत्र-पत्रिकाएं निकलती थीं, कैसे निकलती थीं? उस दौर में जो पत्र-पत्रिकाएं निकलती थीं तो उसमें लेखक अपना पैसा लगाता था, जुटाता था। खुद लिखना, कंपोजिंग करना, छापना और बेचना। उसे खरीदने वाले और पढ़ने वाले कौन थे? कुछ लोग कहते हैं कि रामविलास जी आठ-दस लेखकों को लेकर नवजागरण-नवजागरण करते रहे। अरे भाई, जो पत्रिकाएं छपती थीं, वे कहां जाती थीं? उसे कौन लोग पढ़ते थे? अब हम इसे भी थोड़ा देखें, तब पता चलेगा कि आठ लोग थे कि दस लोग थे। पहली बात तो यह कि हिन्दी नवजागरण में ऐसा एक भी लेखक नहीं है जिसने कोई न कोई संगठन नहीं बनाया। बिना संगठन का कोई लेखक न था; भारतेन्दु ने संगठनात्मक रूप से अनेक कार्य किए थे। स्त्रियों के लिए स्कूल खोलने, होमियोपैथी की दुकान खोलने से और कितना कुछ— सबके नाम याद नहीं। शिवनंदन सहाय वाली जीवनी पढ़िए। राधाचरण गोस्वामी का अलग संगठन था। वह तो कांग्रेस के बाजाप्ता कार्यकर्त्ता थे। उन्होंने तो अपनी सक्रियता से आंदोलन खड़ा कर दिया था। जब मालवीय जी ने सन् 1885 में बंबई से ह्यूम का कांग्रेस प्रस्ताव लेकर पहली बार इलाहाबाद में जो बैठक की थी, उसमें तीन तो हिन्दी के लेखक थे। एक बालकृष्ण भट्ट थे, एक उनके रिश्ते में भाई और तीसरे राधामोहन गोकुल थे। प्रतापनारायण मिश्र का संगठन कानपुर में था तो प्रेमघन जी का मिर्जापुर में। तो सबके संगठन होते थे। प्रेमघन के संगठन के ही एक सदस्य थे रामचन्द्र शुक्ल। मुरादाबाद का अलग मंडल था। पटना के गायघाट में राधा लाल गोस्वामी का अलग! मैं कह न रहा हूं— नवजागरण पर नब्बे प्रतिशत काम होना बाकी है। लेकिन दिल्ली से नवजागरण के विरुद्ध कांव-कांव पूरे देश में फैलाया जा रहा है। यह अजीब बलजोरी है।

पटना में खड्गविलास प्रेस था। नवजागरण का क्रांति-केन्द्र ही था। उसके स्वामी बाबू रामदीन सिंह भारतेन्दु के मित्र थे। संभवतः उन्होंने पहली बार

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
भारतेन्दु की ग्रंथावली छापी थी। पत्रिका के अलावा अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं। वहीं प्रतापनारायण मिश्र की भी पुस्तकें छपीं। उसी परिवार के दामाद हैं डॉ. धीरेन्द्र नाथ जी, पराड़कर जी के शिष्य और साधक पत्रकार पारस बाबू के सुपुत्र। उन्होंने खड्गविलास प्रेस की भूमिका पर महत्त्वपूर्ण शोध किया है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से छपी है, आप पढ़ें और देखें कि उस काल का एक संस्थान कितना सक्रिय था। पटना में एक और केन्द्र था— गायघाट में स्थित चैतन्य पुस्तकालय। भारतेन्दु पटना आते तो वहां जरूर ठहरते थे। वहां के संचालक थे राधाकांत गोस्वामी। राधाचरण गोस्वामी के परिवार से जुड़े। वहां उस दौर की लगभग सारी पत्रिकाएं आती थीं। बीस-बाइस लोगों का वहां भी जुटान होता था। बहसें होती थीं। वह भी बड़ा हलचल वाला केंद्र था। वहां मैंने शतरंज से मिलता-जुलता अतरंज देख था, जो भारतेन्दु का प्रिय खेल था। भारतेन्दु की भेंट की गई कई दुर्लभ वस्तुएं मैंने देखी थीं। वहां की तमाम पत्रिकाओं को मैंने एक मित्र की मदद से संरक्षित कराया था, मगर इसी साल फिर गया तो देखकर अंदर से मरमरा उठा। कुछ भी बचने वाला नहीं था। हम फेलोशिप लेकर नवजागरण को दूषित करने में लगे हैं और नवजागरण की मूल थाती नष्ट हो रही है। आप सोचिए यह कैसी विडंबना है?

देखिए एक बात मैं साफ कर दूं— हमने भी नवजागरण साहित्य को बहुत देखा-ओखा नहीं है। हम भी चूंकि नवजगारण की मजदूरी करते हैं, हिन्दी से मेरा पेट पलता है, मेरे बाल-बच्चे पलते हैं तो कुछ वर्षों तक हमने इसके भंडार घर में झाडू-बुहारू का काम किया है। इसी बूते जो और लोग देखे हैं, वे लोग जो इसका सौदा कर रहे हैं, उनको मैं पहचान लेता हूं। बस, इतनी ही पूंजी है मेरे पास। हमने भी कोई बहुत अध्ययन-वध्ययन नहीं किया है, वह तो दिल्ली वाले करते हैं। हम तो मजदूर हैं। खैर! तो मैं कह रहा था कि भारतेन्दु की पत्रिका निकलने के पहले लगभग पच्चीस पत्रिकाएं हिन्दी में निकल चुकी थीं और आज हाल यह है कि अगर दिल्ली से कोई पत्रिका न निकले, दिल्ली से कोई विचार न उगे तो उसे कोई अहमियत नहीं मिलने वाली और वह एक ऐसा काल था जब हिन्दी का एक दैनिक 'हिन्दोस्थान' कालाकांकर जैसे कस्बे से निकला। हमको नवजागरण पर काम के दौरान ऐसी भी पत्रिका मिली है, जिसमें गांव और डाकघर अलग-अलग हैं। इतनी सारी पत्रिकाएं! भारतेन्दु के जीवनकाल में ही हिन्दी पत्रकारिता का व्यक्तित्व निखरने लगा था। इतनी मोटी किताब है, पत्रिकाओं की सूची की। नवजागरण काल में कितनी पत्रिकाएं निकलीं— इसका विवरण है। हजार से अधिक पत्रिकाएं निकलीं नवजागरण में। उनमें सौ तो कम से कम

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
अत्यंत मूल्यवान थीं। एक को भी हम सुसंपादित कर सामने नहीं लाए। सिर्फ भारतेन्दु और उनके कुछ सहयोगियों की उपलब्ध पुस्तकों से बात नहीं बनेगी। नवजागरण का बहुत विशाल वाङ्मय है। मैंने कायदे से उस दौर की सिर्फ एक पत्रिका देखी है— 'सार सुधा निधि!' उसके कुल लगभग छः सौ अंक निकले थे और छः सौ अंकों में सिर्फ डेढ़ सौ अंक ही मुझे मिले थे। उसमें मुझे मध्य प्रदेश के कुछ जगहों से छपे पाठकों के पत्र देखने को मिले। पत्र क्या थे— लेख ही कहिए। 'प्रेरित पत्र' नाम से कॉलम था, उसी में छपते थे। एक देवास से था, सागर से था और रींवा में तो नवजागरण के एक आचार्य भारतेन्दु के दोस्त ही बैठे हुए थे कार्तिक प्रसाद खत्री। वह बड़े क्रांतिकारी आदमी थे, उसके बाद जबलपुर से सरजू प्रसाद मिश्र थे। ये लोग उस पत्र में नियमित लिखते थे। बेशक ये हिन्दू थे। जब स्वामी दयानंद से आर्यसमाज से, सनातन की लड़ाई छिड़ी तो जम कर लड़ाई हुई। पृष्ठ के पृष्ठ रंगे मिलते हैं। विपुल लड़ाई हुई— इसका साहित्य तो एक हिस्सा है उसका। गोवध पर सामग्री छपी है, लेकिन गोवध पर विचार करते हुए कुछ और पक्षों पर ध्यान देना चाहिए। क्योंकि भारत में जो पशुधन था, वह पशुधन गुलाम भारत में भी दुनिया के कई देशों से बहुत ज्यादा था। ईसाई धर्म को सत्ता से संरक्षण था। उसके प्रसार की जबरदस्त कोशिशें थीं, ढेर सारी सुविधाएं दी गई थीं। उसके प्रसार के लिए हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाना था, एक-दूसरे से अलग करना था। सांप्रदायिक दंगे होते ही नहीं थे, हिन्दू-मुसलमानों के बीच तनाव ही नहीं थे तो भारतेन्दु या उनके सहयोगी उस पर क्यों विचार करते? सांप्रदायिक दंगों की शुरुआत तो 1885 में कांग्रेस स्थापना के बाद होती है, भारतेन्दु के मरने के बाद। जब दोनों के बीच विवाद ही नहीं था, तब इस पर विचार ही करना बेकार है कि वे हिन्दूवादी थे। विवाद होता है, तब जब आप विचार करते हैं। विवाद तो सुनियोजित तरीके से पैदा किया गया, कराया गया। क्यों कराया गया? इसलिए कि सन् 1857 में दोनों समुदायों ने मिलकर ज़बरदस्त राष्ट्रवादी धारा पैदा कर दी थी।

राष्ट्रवादी के उभार को खत्म करने के लिए यह जरूरी था। ईसाई धर्म मानने वालों में अंग्रेजों से लड़ने वाले कितने स्वाधीनता सेनानी मिलते हैं? 1860 ई. में सर सैयद अहमद का भाषण पढ़िए, वह हिन्दू, मुसलमान और ईसाई को एक मानते हैं। उनमें कैसे बदलाव आया, क्यों आया— ये सारी बातें इतिहास की कोई अनबूझ पहेली नहीं रह गई हैं। तो जिस गोवध की सामग्री की चर्चा होती है, वह है— गाएं बड़ी संख्या में काटी गईं। इतनी अधिक कि महारानी विक्टोरिया ने वायसराय को पत्र लिखा कि मुगल काल में जितनी गाएं नहीं काटी गई होंगी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
तुमने उससे ज्यादा गाएं इतने कम वर्षों में ही क्यों कटवा डालीं ? जाहिर था हिन्दू जनमानस को उत्तेजित करना था। उसे नीचा दिखाना था। मुसलमानों के रहनुमाओं को सत्ता से सांटकर उनसे सांप्रदायिक मांगें उठवाना और उसे मान लेना। यह ब्रिटिश सत्ता की एकदम 'केलकुलेटेड' नीति थी। ये विचित्र विचारक हैं। ऐसे यथार्थ के बावजूद वे भारतीय जनता को संकीर्ण और सांप्रदायिक ठहराते हैं और अंग्रेजों को प्रगतिशील और आधुनिक! यह बौद्धिक पाजीपन नहीं तो और क्या है ?

लेकिन गाय का मामला सिर्फ धार्मिक नहीं था— यह पशुधन से भी जुड़ा था। गाय आय का स्रोत थी। कृषि आधारित समाज में तब पशुधन की बड़ी अहमियत थी। आज भी गांवों में कई परिवारों की जीविका का आधार पशुधन ही है। उसको खत्म करना था। क्यों खत्म करना था— इसका एक दूरगामी लक्ष्य था। उस समय अंग्रेजों को दुनिया के अनेक टापुओं को आबाद करने के लिए मजदूरों की जरूरत थी। सन् 1868 से लेकर 1885 ई. के बीच की तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं को अगर आप पलटिए तो आपको यह पता चलेगा कि लोग फेलोशिप लेकर क्या कर रहे हैं ? वे हिन्दू नवजागरण की सामग्री तो जरूर तलाश लाते हैं, मगर इस पर विचार कीजिए कि वे किस सामग्री को छोड़ देते हैं।

'सार सुधा निधि' में एक संपादकीय छपा था— 'कुली प्रथा' पर। कितने भारतीय मजदूर कुली उस समय गुयाना, त्रिनिदाद, फीजी, सूरीनाम, मॉरीशस या दूसरी जगहों पर बलात भेजे जा रहे थे। उन्हें फिर लौटकर अपने मुल्क नहीं आना था। कौन लोग जा रहे थे वहां? वही किसान, जो भारी टैक्स न चुका पाने से, सरकार, जमींदार और महाजन के गठजोड़ से मजदूर बना दिए गए थे। वे ही लोग जा रहे थे। तो अखबार लिख रहा था कि अंग्रेजों का विचार यह है कि यह दास प्रथा नहीं है, यह तो कुली प्रथा है। तो हिन्दी का अखबार संपादकीय लिख रहा था कि कुली प्रथा दरअसल दास प्रथा ही तो है। सिर्फ नाम बदलकर अंग्रेज अपनी नीयत छुपा रहे हैं। अच्छा, वह हिन्दी भाषा, वह विचार जिसमें वे लोग नवजागरण की लड़ाई लड़ रहे थे, किस अवस्था में थी ? इस पर विचार कीजिए। उसको पढ़ना आज तो और भी दुष्कर है, एक पेज पढ़ने में गड़बड़ा जाता है मामला। ऐसी भाषा जो ठीक से भाषा ही नहीं बनी थी, पर उसमें निकलने वाले अखबार अपने समाज की आवाज उठा रहे थे, रद्दी-सद्दी ढंग से ही और उस पर प्रेस-एक्ट लागू हो रहा था। यह नवजागरण नहीं था तो क्या था ? ऐसे लोग उस समय भी थे। 'भारत-मित्र' ने प्रेस-एक्ट का समर्थन कर दिया लेकिन 'सार सुधा निधि' ने उसका विरोध किया। 'भारत मित्र' ने कहा कि ऐसा करने पर जो कुछ

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
छप रहा है वह भी नहीं छपेगा। तो कहा कि छपेगा क्यों नहीं, हम विरोध करेंगे। दूसरी बात यह कि हम लोगों को यह भ्रम भी होगा कि हम लोग बहुत पढ़े-लिखे लोग हैं, हैं ही। इसमें तो दो मत नहीं है क्योंकि जिस देश में पचास प्रतिशत जनता निरक्षर हो, तो हम लोग पढ़े-लिखे नहीं कहे जाएंगे, तो कौन कहा जाएगा? तो वे लोग जो नवजागरण वाले थे, वे हमसे कम पढ़े लिखे नहीं थे। इस भ्रम में हमको नहीं रहना चाहिए, एकदम नहीं रहना चाहिए। उनका साहित्य पढ़िए, तो पता चलता है कि वे कितने पढ़े-लिखे, कितने जागरूक लोग थे। उनकी पत्रिकाएं, उनकी पुस्तकें इस बात की साक्षी हैं, प्रमाण हैं।

नवजागरण के लेखकों का काम अंग्रेजी से नहीं चल सकता था क्योंकि उन्हें नवजागरण करना था— अनपढ़ जनता के बीच में। उस युग के अधिकांश लेखक कई भारतीय भाषाएं जानते थे। प्रत्येक लेखक एक से अधिक बोलियां, लोकभाषाएं बोल सकता था, समझ सकता था। उस भाषा में क्या लिखा जा रहा है, क्या सोचा जा रहा है, उससे वह परिचित था। जरूरी समझने पर उसका अनुवाद भी करता था। उसे एक धुन थी, कुछ करने की, समाज को जगाने की। इसके लिए वह गोष्ठियां करता था, पत्रिकाएं निकालता था और लिखता था। क्यों लिखता था? वह आपसे प्रसिद्धि पाने के लिए नहीं कि आप उसको आज नवजागरण का शीर्ष रचनाकार मानेंगे। मत मानिए। उसका उद्देश्य था अपने समय और समाज को बदलने का। कुछ करने का। इसलिए उसको जनता के बीच उनकी भाषा में उतरना था। दूसरी भाषाओं के लोग, पूरे देश के लोग क्या सोच रहे हैं, पूरी दुनिया में कहां-क्या हो रहा है, कहां नए विचार पनप रहे हैं, इस सबके प्रति वह अधिकांश जागरूक थे। प्रेमघन पूरे भारतीय वाङ्मय की समृद्ध विरासत की चर्चा करते हैं। जब वह अंग्रेजी वाङ्मय से तुलना करते हुए शेक्सपियर पर आते हैं तो मामला गड़बड़ा जाता है कि अब शेक्सपियर का कैसे विरोध करें? तो उन्होंने लिखा कि कालिदास को जब अंततः संस्कृत भाषा में संतुष्टि नहीं मिली तो इस राक्षसी भाषा में भी मूड़ मुंडाने चले गए। वह शेक्सपीयर को नकार नहीं सकते थे क्योंकि वह बहुत बड़े रचनाकार थे। मैंने कहा न! वह दुनिया की क्लासिक रचनाओं से परिचित थे, अपने समय के श्रेष्ठ विचारकों को वह जानते थे, पढ़ते थे।

पत्रकारिता में आप उस दौर की कोई भी पत्रिका लीजिए। आप पाएंगे उसमें सिर्फ खबरें ही नहीं रहती थीं, रहती भी थीं तो गली-कूचों से पूरी दुनिया की। आगे चलकर तो स्थिति एकदम बदल गई। पत्रकारिता का स्वर्णिम दौर आया। बीसवीं शताब्दी के दूसरे तीसरे दौर से। उस समय भारत में ही स्वाधीनता

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आंदोलन नहीं चल रहा था— 36 देशों में स्वाधीनता आंदोलन चल रहा था। मुंशी नवजादिक लाल ने 36 पराधीन देशों के स्वाधीनता संघर्ष की गाथा धारावाहिक लिखी। 'चांद' के मालिक रामरिख सहगल ने 'पराधीनों की विजय यात्रा' नाम से उनकी पुस्तक भी छापी। विश्व में जहां भी कुछ हो रहा था, हिन्दी अखबारों में छप रहा था। तमाम घटनाओं पर विचारोत्तेजक टिप्पणियां छप रही थीं। अंग्रेज या यूरोपियन कहते थे कि भारतीय एकदम बेकार हैं, वाहियात हैं, उनकी संस्कृति क्या है? तो हिन्दी के लेखक उनके देश से छपने वाले अखबारों से उदाहरण देकर उनकी अश्लील और अमानवीय संस्कृति का हवाला देते थे, प्रतिउत्तर देते थे। पढ़िए 'मतवाला' की टिप्पणियां। जो भी रचनाकार अखबार निकालता था, उसमें काम करता था, तो कैसे करता था? देश-विदेश के अखबार नियमित मंगवाए जाते थे, उन्हें पढ़ा जाता था। खास खबरें या घटनाएं चिह्नित की जाती थीं, उस पर सभी चर्चा करते थे। चर्चा के बाद रात को सभी अपने हिस्से का लेखन करते थे, समय मिला तो कंपोजिंग में भी हाथ बंटाया और दूसरे दिन उसे लेकर बेचने में भी सहयोग किया। इस तरह से सब अखबार निकालते थे। नवजागरण का कार्य करते थे। अब आज आप उनको संकीर्ण कहिए या जनविरोधी। उसी तरह आप नवजागरण के शहीदों को, सिपाहियों को, हिन्दूवादी कहिए या सवर्ण। आपकी जुबान, आपकी मर्जी। इतना ही नहीं, उनको ऐसा कहने वाले अंग्रेजों को प्रगतिशील और न्यायवादी भी मानते हैं। गोया ये नवजागरणवादी नहीं होते, तो ये अंग्रेज इस देश को कब का स्वर्ग बना चुके होते।

जिसे नवजागरण पैदा करना था, लोगों को जगाना था, तमाम प्रतिकूलताओं के बावजूद अपनी सक्रियता कायम रखनी थी— उनका मूल्यांकन करना आसान नहीं होता। इसके लिए पात्रता होनी चाहिए, समझ और संस्कार होने चाहिए। जो लोग नवजागरण के मोर्चे पर लड़ रहे थे, उनका एक मिशन था, समर्पण था। वे सोद्देश्य काम कर रहे थे, सोद्देश्य लिख रहे थे और सबके सब होलटाइमर थे। हम लोगों की तरह वे नहीं थे कि नौकरी कर रहे हैं और साहित्य कर रहे हैं। प्रसिद्धि के लिए इधर-उधर थोड़ा-बहुत हाथ मार रहे हैं। थोड़ा इनसे संबंध, थोड़ा उनसे संबंध। इनको ठीक-ठाक रखना, उनको ठीक करना, अनेक भाषाओं में अनूदित होना, हर जगह समीक्षित पुरस्कृत होना। इस तरह के टंट-घंट में वे लोग नहीं थे। उनके पास इसके लिए समय ही नहीं था, वक्त ही नहीं था, जरूरत ही नहीं थी। वे लोग अपने काम में लगे हुए थे। सदानंद और दुर्गाशंकर मिश्र ने वर्षों, अनेक कठिनाइयों का सामना करके पत्रिका के छः सौ अंक निकाले। घर से बाहर रहकर 'सार सुधा निधि' के सदानंद मिश्र की मौत गरीबी और बीमारी से हुई।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

इनका लिखा आज तक कुछ भी सामने नहीं आया। मगर आप इनकी संपादकीय टिप्पणियां पढ़िए, लेख पढ़िए तो माथा चकरा जाएगा। अब आप इनको हिन्दू कहिए, सवर्ण ब्राह्मण कहिए— जो मन करे, सो कहिए। हमें उस कीचड़ में नहीं जाना है।

मैं तो कहता हूं कि दूसरी भाषाओं के लोग हिन्दी नवजागरण में क्या कर रहे थे, इस पर रिसर्च होना चाहिए। खास तौर से महात्मा गांधी हिन्दू विश्वविद्यालय और जे.एन.यू. में यह सब बड़े पैमाने पर आसानी से हो सकता है। हमने अमृतलाल चक्रवर्ती के बारे में विचार नहीं किया। चिंतामणि घोष के बारे में विचार नहीं किया, वे नहीं रहते तो 'सरस्वती' पत्रिका ही नहीं निकलती। पराड़कर जी के बारे में हमने क्या काम किया, सप्रे जी के बारे में क्या काम किया ? ऐसे और भी लोग थे छोटे-बड़े। भवानीदयाल संन्यासी ने दक्षिण अफ्रीका से हिन्दी पत्रिका निकाली-नेटाल से। ये कैसे लोग थे ? दुर्वासा थे आपके अमृतलाल चक्रवर्ती। गए आसाम से अखबार निकालने के लिए। कोई अंग्रेज ईसाई मिशनरी वाला काम कर रहा था, वहां के मजदूरों के बीच। उसने भी अखबार निकालना शुरू किया। ये दाम घटाने लगे, वह भी घटाने लगा। अंत में अंग्रेज ने मुफ्त कर दिया तो अमृतलाल चक्रवर्ती ने भी मुफ्त कर दिया। पत्र बंद हो गया तो कहने लगे कि कुछ दिनों के बाद वह भी बंद कर देगा। ऐसा ही हुआ। फिर वह दूसरी जगह चले गए। बाद में बंबई में वेंकटेश्वर समाचार में काम करने लगे।

तो उस युग की सामग्री को लेते समय और उस युग के लेखक पर टिप्पणी करने में थोड़ी सावधानी बरतनी चाहिए। मनुष्य कोई है तो वह बना-बनाया तो निकलता नहीं है, प्रक्रिया होती है। राधाचरण गोस्वामी थे, उन्होंने 'हिन्दू-बांधव' में लेख लिखा, शुक्ल जी ने भी अपने इतिहास में लिखा है। हिन्दू-बांधव के उस लेख में उनके जो तर्क और उनकी जो मेधा थी, उसको देखकर भारतेन्दु चकित रह गए। उन्होंने कहा कि यह आदमी इतना टेलेंटेड है, इतना प्रभावशाली है और इतना संकीर्ण है, क्योंकि वह एक ऐसे परिवार से आते थे, जहां अगर मुंह से उर्दू शब्द निकल गया और अंग्रेजी शब्द निकल गया तो घर का सब आदमी पटक देता था उसको, और मुंह में गंगाजल और तुलसी डालता था। वह वृंदावन के एक पंडित परिवार से, गौड़ परिवार से आते थे। अगर ऐसा न करें तो उनकी जजमनिका छूट जाएगी। और जजमनिका पूरे देश में थी इसलिए पूरे देश में वे लोग घूमते थे। पूरे देश में उस समय क्या हो रहा था— सबसे परिचित थे। वे जगह-जगह जाकर भाषण दिया करते थे। हम लोगों की तरह आमंत्रित होकर भाड़ा-वाहन के साथ वे लोग कहीं आते-जाते नहीं थे, नवजागरण के मिशन से आते-जाते थे। तो

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

राधाचरण गोस्वामी जो थे, उन्होंने वह लेख लिखा तो भारतेन्दु को लगा कि बड़ा चक्कर है। तब भारतेन्दु ने एक छद्म नाम से लेख लिखा, जिसमें उनकी बड़ी तारीफ की— उनके तर्क और मेधा की, लेकिन विचारों की आलोचना की। तो राधाचरण गोस्वमी ने पता किया कि कौन आदमी है। वह तो दुर्वासा थे, बड़े गुस्सैल आदमी थे, पता चला कि भारतेन्दु ने लिखी है। भारतेन्दु से उस समय बनारस में कोई मिल नहीं सकता था, क्योंकि उनकी जो प्रेमिका थी, उसके यहां [redacted] आना-जाना था, इस बात को लोग जानते थे। तो भारतेन्दु से मिलने वाला विधर्मी हो जाएगा। गोस्वामी जी के चेले काशी में बहुत थे। काशी की स्वीकृति भी महत्त्वपूर्ण थी। रात को जब वह अपने पिता के यहां गए, तो पिता ने कहा कि नहीं, मेरे ही कमरे में सोना है। राधाचरण गोस्वामी सोए लेकिन रात को चुपके से उठकर भाग गए। जाकर भारतेन्दु से मिले। अब आप समझिए कि भारतेन्दु और उनसे मिलने वाले राधाचरण गोस्वामी विधर्मी थे कि हिन्दू थे। इनको विधर्मी मानने वाले हिन्दूवादियों के साथ हम इनको भी संकीर्ण, संकीर्ण हिन्दू मानें कि क्या मानें?

उसी राधाचरण गोस्वामी ने बाद में स्त्रियों की दुर्दशा पर लिखा, उनके लिए आंदोलन खड़ा किया। इन शब्दों में उन्होंने हिन्दू धर्म की आलोचना की— मुस्तण्डे, पंडे, सड़ गया है इनका दिमाग। विधवा विवाह का इतना बड़ा आंदोलन खड़ा किया कि मदनमोहन मालवीय जी को संपादकीय लिखकर तारीफ करनी पड़ी, प्रशंसा करनी पड़ी। वृंदावन की विधवाओं के जीवन पर उनकी इतनी मार्मिक किताब है कि पढ़कर लोग उद्वेलित हो जाएं। उन्होंने जाकर, जो वृंदावन की महिलाएं थीं उनको देखा। कहा कि तुम कैसे हिन्दू हो कि इतनी स्त्रियों को तुम भोगियों को समर्पित कर रहे हो, अपनी बहनों को, इनका पुनर्विवाह नहीं करके। तीसरी चीज यह कि यह नवजागरण की प्रक्रिया है। देखिए सब लोग बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के और हमारी हिन्दी की शिखा हैं। यह जरूरी है कि उस युग के बारे में विचार करते समय जो सामग्री सामने नहीं आई है, उसका एहसास अपने निर्णय और रिमार्क में रखें। कम से कम उसके बारे में हम न बोलें, इतनी विनम्रता तो रखें। नहीं जानते हैं तो नहीं बोलें।

विज्ञान के लिए, एक विज्ञान सभा बनी महेंद्र सरकार की। सार सुधा निधि में छपा कि— भारत में विज्ञान का विकास इसलिए नहीं हुआ कि यहां पर बुद्धि नहीं थी। बुद्धि बहुत थी, इसकी कमी नहीं थी। लेकिन भारत में विभिन्न धर्म और संप्रदाय थे और उनके आपस में बहस करने में हमारा उन्नत मस्तिष्क लग गया। इसलिए यूरोपियनों ने विज्ञान में बाजी मार ली। अब हम लोगों को महेंद्र सरकार

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ने विज्ञान सभा बनाकर, भारतीयों के लिए विज्ञान में भी बाजी मारने की चुनौती दे दी है। वहां भी लैबोरेटरी अपनी बनानी थी अपने बूते। मेजर ध्यानचन्द 36 वर्षों तक हॉकी के बेताज बादशाह रहे। गुलाम देश के वह सैनिक खिलाड़ी थे। कोई भी विकास, परिवर्तन बड़ा ही असामान्य होता है, परस्पर विरोधी चीजें रहती हैं, उसमें, इसलिए उसको एक रंग, एक ही तरीके से नहीं देखना चाहिए। राजनीतिक रूप से जब हम पराधीन थे तो कई स्तरों पर हम बहुत ज्यादा विकसित थे। राजनीतिक स्तर पर जो हमारा अंधकार काल था, वही भक्तिकाल हमारा स्वर्णिम काल भी है।

अगर आप नवजागरण काल के हज़ारों पृष्ठों से गोवध या ऐसी ही सामग्री लेकर इसे हिन्दू नवजागरण सिद्ध करेंगे, तो यह भारतीय समाज खास तौर से हिन्दू समाज के संघर्ष और उपलब्धियों की भारी अनदेखी होगी, उसके साथ बेवफाई होगी। किसानों पर भी इतनी रपटें छपी हैं 'सार सुधा निधि' में, जितनी गोवध पर छपी हैं। किसानों पर लंबे-लंबे संपादकीय लेख छपे हैं। उनमें लिखा गया है कि किसानों से साल में चार बार टैक्स लिया जाता है। पत्रिका वायसराय से आग्रह करती है कि अधिक से अधिक दो बार लिया जाए— दोनों फसलों के बीच में, क्योंकि बाकी समय किसान टैक्स देते समय सूदखोर बनियों के कब्जे में चला जाता है और फिर जीवन में वह कभी मुक्त नहीं होता है। इसलिए इस बारे ध्यान दिया जाए। गौर कीजिए— उन किसानों के लिए, उन मजदूरों के लिए, जो इस देश को ही छोड़ कर जा रहे थे या उनसे बलात देश छुड़वाया जा रहा था, उनके लिए यह नवजागरण काल था या अंधकार काल?— आप लोग विचार कीजिए। डॉ. रामविलास शर्मा को जो करना था, कर गए। इसी देश के नागरिक को जिससे आपने देश छुड़वा दिया— इस साम्राज्यवादी व्यवस्था ने इतना निर्मम और जघन्य अपराध किया। इसलिए उन किसान-मजदूरों से पूछना चाहिए कि तुम्हारे लिए नवजागरण मैंने तय कर दिया है। 'कब है महाराज!' 'तब है जब तुम अपनी जन्मभूमि छोड़कर बलात जहाज में डालकर सूरीनाम और गुयाना ले जाए गए।' सोचिए कैसा लगेगा उसको? कोई आश्चर्य की बात नहीं अगर अंग्रेजों को भारत का उद्धारकर्त्ता मानने वाले विचारक यह तर्क देने लगें कि ऐसा करके अंग्रेजों ने हिन्दी को विश्वभाषा बना दिया!

भारतेन्दु 1868 ई. में नवजागरण के क्षेत्र में उतरते हैं और सन् 1885 में उनका निधन हो जाता है। 17 साल में नवजागरण के सेनानी बनते हैं और 17 साल नवजागरण को नेतृत्व देते हैं। 1901 ई. में 'सरस्वती' पत्रिका निकलती है और सन् 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी संपादक बनते हैं। विचार कीजिए,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संपादक बनते ही वह युग-प्रवर्त्तक तो नहीं हो गए होंगे। कुछ वक्त लगा होगा। मान लीजिए कि दो ही साल में वह युग-प्रवर्त्तक हो गए। तब सन् 1905 से 1920 ई. तक कुल 15 साल नवजागरण को वह नेतृत्व देते हैं। अब सन् 1868 से 1885 ई. तक 17 साल को आपने भारतेन्दु के नाम कर दिया, सन् 1905 ई. से 1920 ई. तक 15 साल द्विवेदी जी के नाम। मेरी विनम्र जिज्ञासा है कि सन् 1885 से 1905 ई. तक पूरे 20 साल का आपने क्या किया? रामविलास जी, नामवर जी, डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी और डॉ. मैनेजर पांडेय जी, इन बीस वर्षों के इतिहास और नवजागरण के बारे में विचार हुआ? इस बीच हिन्दी में कुछ काम हुआ, कुछ बढ़ा, कुछ आगे गई भाषा? इस पर काम ही नहीं हुआ। इसीलिए मैं इस बात पर जोर दे रहा हूं कि पहले मूल स्रोत सामग्री को हम सामने लाएं। तब यह तय करें कि किसको केंद्र में रखकर बातचीत की जाए।

मैं फिर कह रहा हूं कि उस काल में जब तमाम स्थितियां विपरीत थीं, मुख्य हथियार भाषा अत्यंत अविकसित थी, तब नवजागरण करना आसान नहीं था। किसी पर विचार करते हुए, अंतिम निष्कर्ष रखते हुए हमें इन सारी बातों का ख्याल रखना चाहिए। गणेश शंकर विद्यार्थी थे, 'प्रताप' निकालते थे और भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद की क्रांतिकारी पार्टी को मदद भी करते थे। वे धन उगाहने कलकत्ता आते थे, तो वहां के लेखक इनको राष्ट्रवादी धनिकों के यहां ले जाते थे। इस तरह चन्दा बटोर-बटोर कर उन्होंने 'प्रताप' निकाला था। ईश्वरी प्रसाद शर्मा थे। उनकी प्यारी बिटिया अचानक मर गई। उनकी पत्रिका कुछ दिनों बाद विलंब से छपी। उन्होंने एडीटोरियल लिखा कि मेरी प्राण प्यारी बिटिया का अचानक निधन हो गया था। इसलिए मैं पाठकों से माफी मांगता हूं कि मुझको यह पत्रिका आप तक पहुंचाने में कुछ दिनों की देर हो गई। पत्रिका आपको देर से मिली। [redacted] सांप्रदायिक दंगे में मारा गये। इसलिए नवजागरण को हिन्दू नवजागरण कहते हुए, ऐसी शहादतों का भी ख्याल रखना चाहिए। हिन्दीभाषी समाज में ऐसे अनेक लोग थे, जिन्होंने उस दौर में नवजागरण के कार्यों में अपना जीवन लगा दिया। उन सब पर काम होना चाहिए और तब इस पर विचार करना चाहिए कि हिन्दी नवजागरण, हिन्दू नवजागरण था कि क्या था?

एक बात और, नवजागरण पर काम करने वाले या कहिए उनका पक्ष लेने वाले ऐसे अतीतजीवी लोग भी हैं, जिन्हें अपना समकालीन एकदम अपंग और दुर्दशाग्रस्त लगता है। ऐसी बात नहीं है। कविताओं का स्तर देखिए उस काल में। बाकी लेखन में भी आपको अधिकांश औसत दिमाग वाले ही लगेंगे। आलोचना के मामले में ही ले लीजिए— शुक्ल जी, हजारी प्रसाद द्विवेदी जी और रामविलास

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जी। अरे भाई, इतना बड़ा हिन्दी समाज रहा, डेढ़ सौ वर्षों या सौ वर्षों का ही नवजागरण काल मान लीजिए तो मात्र ये ही तीन आलोचक? आज तो पांच-सात आलोचक हमारे सामने, यहीं उपस्थित हैं, एक शहर में हैं।

तो ऐसी बात नहीं है कि हमारा मस्तिष्क उन्नत नहीं है, लेकिन एक चीज थी— मिशन! सामाजिक सरोकार और समय में सक्रियता। यही बात उन लोगों को हमसे बहुत आगे, बहुत ऊंचा ले जाती है। उन लोगों के विचार थोड़े खराब हो सकते हैं, पिछड़े हो सकते हैं, हमारे ज्यादा विकसित हैं, तो क्या कर ले रहे हैं। अगर प्रतापनारायण मिश्र का स्त्री-संबंधी दृष्टिकोण ठीक नहीं है तो हम उनकी कहां तारीफ करते हैं? मगर इसी एक कमजोरी के कारण उनके योगदान को नकारा तो नहीं जा सकता। प्रतापनारायण मिश्र का अगर स्त्री-विमर्श पिछड़ा हुआ है तो हम उससे नवजागरण के स्त्री-विमर्श को ही पिछड़ा नहीं कह सकते। इसके लिए आपको राधाचरण गोस्वामी के पास जाना होगा, राधामोहन गोकुल के पास जाना होगा। दूसरी चीज यह कि न तो कोई जन्मते शेर बन जाता है और न ही वह दौर ऐसा था। नागरी प्रचारिणी सभा में परिमलेन्दु जी का एक शोधग्रंथ छपा है— 'भारतेन्दु युग के भूले बिसरे कवि।' उसमें लगभग सात सौ कवियों की चर्चा है, जो रीतिकालीन परम्परा में लिख रहे थे। सिर्फ एक अपवाद को छोड़कर बाकी सारे कवि घनघोर रूप में अंग्रेजों के उनकी सत्ता के समर्थक थे। सभी राजभक्ति वाले हैं। अब आप ही तय कीजिए कि ऐसे कठिन दौर में अगर भारतेन्दु या उनके अन्य सहयोगियों ने तनिक भी राजसत्ता के विरुद्ध आवाज ऊंची की है तो उसका कितना महत्त्व है। जिन परिस्थितियों में उन लोगों को नवजागरण लाना पड़ रहा था, वह कितनी विषम स्थिति थी! पत्रों का प्रकाशन मुश्किल काम था, उनमें लिखने वालों का अभाव था, बिक्री की समस्या थी, पाठकों का अकाल था, पैसों का खुद जुगाड़ करना था और भाषा, जिसके द्वारा नवजागरण की लड़ाई लड़नी थी, तब बहुत विपन्न थी, अविकसित थी। बावजूद इसके, उस दौर में इन पत्रों ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि ब्रिटिश हुकूमत को प्रेस-एक्ट लाने के लिए विवश होना पड़ा। अब आप ही उन लोगों के चरित्र की छानबीन कीजिए और निष्कर्ष निकालिए कि भारतेन्दु को ही नहीं उस युग के रचनाकारों की ऐसी पहचान चित्रित करना— गोया वे सारे के सारे अंग्रेजों की सत्ता के पिट्ठू थे। ऐसा कहने वाला, लिखने वाला क्रांतिकारी हिन्दी साहित्य के बाहर ही मिलेगा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से, पहले दशक, फिर दूसरे दशक तक आते-आते हिन्दी में नवजागरण की ऐसी फौज खड़ी हो गई, जिसने तीसरे दशक से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आजादी मिलने तक ब्रिटिश सत्ता को निर्णायक टक्कर दी। तो क्या यह फौज ब्रिटिश सत्ता के चापलूसों ने खड़ी की थी? अंग्रेजों की भक्ति... अंग्रेजों की भक्ति- बहुत ज्यादा पक-पक लोग बोल देते हैं राजभक्ति पर। भारतेन्दु जिस घर में पैदा हुए थे, वह अंग्रेजों का भक्त परिवार था। उनके पुश्तैनी घर में ही सन् 1857 के स्वाधीनता आंदोलन को कुचलने वाले खतरनाक हथियार रखे गए थे। जहां-जहां विद्रोह भड़केगा-- यहीं से हथियार जाएगा। सारा माहौल सरकारपरस्ती का था, उसमें उनसे आप कितना विरोध चाहते हैं? खखारते थे भारतेन्दु तो उनकी पत्रिका की सुविधा रोक दी जाती थी। उसकी खरीद रोक दी जाती थी। सबकी नजर थी उन पर। देश में, पूरे देश में, लंदन में— उनके बीसों महत्त्वपूर्ण लोगों से पत्राचार थे। दूसरी भाषाओं के लोग उनके यहां आते थे, मिलते थे, बात करते थे। वह भी आते-जाते रहते थे। ऐसा आसान नहीं था ब्रिटिश सत्ता को उलट देने वाला विरोध करना। आज अमेरिका को परास्त कर देने के लिए पूरी दुनिया के लोग क्यों नहीं उठ खड़े हो जाते? सबके क्रांतिकारी विचार हैं, उन्नत दिमाग वाले हैं तो अमेरिका ध्वस्त कर देने के लिए आप नौकरी छोड़कर होलटाइमरी कीजिए न! आप तिकड़म से फेलोशिप लेकर कुटिलता भरे प्रपंच करते रहते हैं और भारतेन्दु की आलोचना इस बात के लिए करते हैं कि उन्होंने ब्रिटिश सत्ता को उलट देने वाले विचार क्यों नहीं रखे। कहते हैं— कुछ नहीं कहते थे तो प्रेस-एक्ट ऐसे ही लागू हो जाता था? कहा कितना है? यह तो सामने लाए ही नहीं। जो लाए भी तो मनमुताबिक! नवजागरण साहित्य में बहुत कुछ कहा गया है, वह विपुल है... विपुल है!

उस समय भी अफगानिस्तान में युद्ध चल रहा था। वहां दिक्कत यह थी कि रूस का ज़ार, अफगानिस्तान को जीतकर भारत को कब्जे में करना चाहता था। क्योंकि भारत सोने की चिड़िया थी। रामविलास जी ने लिखा है, खुद नहीं, किसी का कोटेशन दिया है कि जब अंग्रेज आए थे, तो मुर्शिदाबाद को देखकर दंग रह गए थे— वह लंदन से ज्यादा विकसित नगर था। दरअसल उस समय भी भारत के कुछ नगर तो बहुत विकसित थे, कुछ इलाके एकदम पिछड़े। तो अंग्रेजों की प्रगतिशीलता और आधुनिकता यह थी कि उन्होंने धीरे-धीरे हमारे यहां पांव जमाए, कब्जा किया, हमें खूब लूटा और गरीब बनाया। हमको विपन्न किया और तब हमें कितनी संपन्नता चाहिए— यह तय किया। हमको किस तरह सोचना चाहिए— यह उन्हीं ने तय किया। हम नहीं तय करेंगे, अगर करेंगे तो उनके अनुरूप करेंगे। वे जैसा चाहते हैं, वैसा कीजिए। दुर्भाग्य है कि भारतेन्दु ने ऐसा नहीं किया, नवजागरण वालों ने ऐसा नहीं किया, मगर उनका विरोध करने वाले

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आज भी यही कर रहे हैं। परम्पराएं सबकी होती हैं— क्रांतिकारियों की भी, दलालों और द्रोहियों की भी।

मैं यह कह रहा था कि उस समय दुनिया में जो संघर्ष हो रहे थे जो लड़ाइयां चल रही थीं, उसे हिन्दी नवजागरण वाले जानते थे। वे समझ रहे थे कि ज़ारशाही, ब्रिटिश शासक से भी ज्यादा पिछड़ी है। वहां की जनता भी उससे संघर्ष कर रही है, लड़ रही है। वहां के हालात बहुत बुरे हैं। तो ज़ार के खिलाफ चलने वाले संघर्ष पर ये लोग बहुत लिखते थे। मतवाला के चार अंकों में राधामोहन गोकुल का लेख छपा है— 'रूस की अतिक्रांति' पूरा लेख उन्होंने भारत की स्वाधीनता आंदोलन के सापेक्ष रखकर लिखा है। बहुत लंबा लेख है वह! भारतेन्दु नाम की पत्रिका निकालते थे। उसमें रूस से ज़ार के नाम उनका खुला पत्र पढ़ना चाहिए। 'सार सुधा निधि' में तो इतना ज्यादा छपा है कि आपसे कह नहीं सकता। कोई भी आज उसे संपादित करेगा, तो काफी बड़ा हिस्सा उसे हटाना पड़ेगा। नवजागरण के लोग इस बात को अच्छी तरह समझ रहे थे, कि भले ब्रिटिश सत्ता बनी रहे, लेकिन उससे ज्यादा पिछड़ी ज़ारशाही यहां नहीं आए। यह राजभक्ति नहीं, दूरदर्शिता वाली बात थी।

'सार सुधा निधि' में अफगानिस्तान संबंधी लेखों में वे लोग इस बात का विरोध करते थे कि अफगानिस्तान में अगर रूस से लड़ रहा है हमारा सैनिक, तो उसके लिए टैक्स भारतीयों पर क्यों लगे? भारतीयों पर उसका कर नहीं लगना चाहिए। भारतीयों पर जो कर लगता था, जो बजट पास होता था, उस पर कितना स्थापना पर खर्च होता है, कितना अनुचित होता है, कितना क्या है— उसका पूरा डाटा डिटेल, पूरे विश्लेषण के साथ छपता था। उस पर किसका क्या मंतव्य है, गवर्नर ने क्या कहा तो वायसराय ने क्या कहा, लंदन के, ब्रिटेन के अखबारों ने क्या लिखा, वहां की लिबरल पार्टी ने, कंजरवेटिव पार्टी ने क्या कहा, वहां के बुद्धिजीवियों ने, विक्टोरिया ने... इन सब पर विचार-विश्लेषण के साथ वे लोग विस्तार से लिखते थे। मैंने कहा न विपुल साहित्य है नवजागरण का, जिसकी छानबीन नहीं हुई है। देखिए, मैं इस बात को दुहराता हूं कि इसका यह मतलब नहीं कि वे सभी अत्यंत विशिष्ट लोग थे और हम एकदम गिरे हुए लोग हैं। नहीं- ऐसा बिल्कुल नहीं है। प्रगति हुई है और खूब हुई है। सिर्फ एक चीज का अंतर हो गया है— नवजागरण को देखने में। हमने अपने समय, समाज के सरोकारों और उससे उपजने वाले दायित्वों से, हरसंभव करणीय सक्रियता से अपना तार तोड़ लिया है। हमने नवजागरण को पाठ्यक्रम बना दिया है। हमारे बौद्धिक, विलास का शगल बन गई है। फलां ऐसा है, वैसा है, हिन्दूवादी है, हिन्दीवादी है,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सवर्ण है, यह है, वह है, वह संकीर्ण है, जड़ है और एक हम हैं, उदार, आधुनिक और प्रगतिशील! यही सारे प्रपंच हमारे विचार भूगोल में आते हैं। यह गलत है— बिलकुल ही गलत है। नवजागरण की कितनी कनछियां हैं, कितने गवाक्ष हैं— यह एक भाषण का विषय नहीं है। यह एक या दो आदमियों के बूते की बात नहीं है। जब सौ पचास आदमी मिलकर, पूरे जज्बे से इसमें लगेंगे, अदीठ सामग्री की गहरी और निर्दोष छानबीन करेंगे, विवेकपूर्ण तरीके से सामने लाएंगे, तभी यह बात साफ होगी कि यह काऊ बेल्ट था कि सन् 1857 से 1947 ई. के बीच क्या था? हिन्दी में आज के हालात को देखते हुए यह मुख्य टास्क है। इसको गौण करके, महत्त्वहीन और गलत दिशा में बहस ले जाकर मामले को झुठलाना कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं लगती। संभव हो, यह कोई सोची-समझी साजिश हो, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा संचालित हो जिससे भारत की जनता की, भारतीय समाज की उपलब्धियों की, उसके संघर्ष को नकारा जा सके। उसे हेठ साबित किया जा सके, हेय सिद्ध किया जा सके। अब हालत यह है कि लोग इस बात पर फेलोशिप लेकर पूरी किताब लिख देते हैं कि लोगों ने 'लद्धड़' गद्य लिखने वाले भारतेन्दु से अपना नाभि-नाल रिश्ता क्यों कायम किया — प्रवाह वाली साफ-सुथरी भाषा लिखने वाले शिवप्रसाद (सितारेहिन्द) से क्यों नहीं? बात यह है कि जनता तो अपनी भाषा, अपनों की भाषा अच्छी तरह पहचानती है। वह रूप पर नहीं जाती, भाव और विचार पर जाती है। इसलिए मैं कह रहा हूं कि ऐसा करने वालों के अपने समय, समाज से सरोकारों की पड़ताल कीजिए, उनकी नीयत पहचानिए।

ये बातें मैं भावनावश नहीं कह रहा। यूरोप में भी नवजागरण में, भारतीय नवजागरण में गहरी दिलचस्पी है। वहां भी काम हो रहे हैं, नवजागरण पर किताबें लिखी जा रही हैं। यूरोप में काम करने वाले एक अमेरिकी, बहुत दिन हुए मुझसे मिला था। कुछ वर्ष पहले फ्रेंसिस्का ओरसिनी ने मुझ से पत्राचार किया था। यह इटली की हैं और लंदन में भी रहती हैं। ऑक्सफोर्ड में यह हिन्दी नवजागरण पर शोध कर रही थीं। इनकी पुस्तक ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस से छप चुकी है— The Hindu Public Sphere (1920-49)

एक ब्रिटिश इतिहासकार हैं डेविड आरनोल्ड। भारत के औपनिवेशिक इतिहास पर, उन्होंने लंबे समय तक काम किया है। उनकी यह स्थापना है कि गांधीवादी विचारधारा से सांप्रदायिकता को बढ़ावा मिला। अब ब्रिटिश इतिहासकार ऐसी स्थापना दे रहा है तो भारतीय इतिहासकारों का पुनीत कर्त्तव्य है कि वे इस स्थापना को मनवाने के लिए जोर लगाएं। इसलिए यह जो पूरा प्रकरण चलता आ

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रहा है इसका एक ही उद्देश्य है— यह सिद्ध करना कि हिन्दीभाषी जनता में संघर्ष की कोई परम्परा नहीं है, ये सांप्रदायिक रहे हैं, इनको कोई आत्मबोध नहीं है। वह तो अंग्रेजों ने आकर इनका आत्मबोध जगाया, आधुनिक बनाया। सोचने-समझने का इनके पास कोई ढंग नहीं था, विज्ञान की इनको समझ नहीं थी। किसानों की दशा कैसे सुधरेगी, जब वैज्ञानिक कृषि होगी— यह एक एडीटोरियल है सार सुधा निधि का।

देखिए अगर नवजागरण पर बात कीजिए तो बहस इस बात से शुरू कर कि रामविलास जी ने क्या किया, क्या नहीं और अंत यह कि जो किया, वह गलत ही किया— इसे छोड़िए। नवजागरण साहित्य के अरण्य में धोती खोंटकर साफ मन और खुले दिमाग से उतरिए। रामविलास जी के नवजागरण को सही-गलत सिद्ध करना हमारा उद्देश्य नहीं होना चाहिए। हम अगर अपने समय और समाज की परिवर्तनशील लड़ाई में शामिल हैं तो हमें जहां जो सार्थक लगेगा- उससे जोड़ें। पूरे युग को सामने लाकर अपनी मौजूदा ज़रूरतों से जोड़ने का विवेक विकसित किए बिना, नवजागरण के महत्त्व को समझना मुश्किल है। इसलिए फर्स्ट हैंड देखें— नवजागरण साहित्य को। फाग वाले ईसुरी, बिरहा वाले बिसराम और विदेशिया शैली वाले भिखारी ठाकुर— हमारे नवजागरण के सिपाही हैं या नहीं? रामविलास जी ने दस-बीस को लेकर नवजागरण-नवजागरण कर दिया, तो आप उसे बढ़ाकर सौ, दो सौ, हजार कर दीजिए। इसे पाठ्यक्रम मत बनाइए, इसे समय-समाज के बदलाव-व्यवहार में लाइए। और हां, इस गुमान में भी मत रहिए कि आपके करने-न करने के भरोसे नवजागरण का अस्तित्व है। नवजागरण के लोग जनता के दिलो-दिमाग में बसे हैं। अपने जनपदों में उनको लेकर किंवदंतियां बन चुकी हैं। उनके बोल जनता के कंठ में महफूज रहेंगे। आप नवजागरण की धंधई करते रहें। आप अपने को चाहें जितना तीसमार-खां समझें, जनता किसी का भी झूठ नहीं ढोती।

तो अंत में, मैं यही कहना चाहूंगा कि जब तक हमारा नज़रिया अपने मौजूदा समय-समाज के प्रति दुरुस्त नहीं होगा, तब तक नवजागरण को लेकर हम पानी पर लकीर ही खींचते रहेंगे। हमें उसे अभी भी जरूरतों से जोड़ना होगा। हमारी अपनी जो नैतिक जिम्मेदारी है, अपने समय में जो सार्थक सक्रियता है, तब जो हमारा बोध बनेगा, वही सही अर्थों से नवजागरण का वास्तविक निष्कर्ष होगा। जिनको नवजागरण के बारे में अपने निष्कर्ष दूसरों के आधार पर ही तय करने हैं, तो जिसे जो विश्वसनीय लगे, उससे तय कर लीजिए। जब सौदा ही तय करना है, अपना काम नहीं चलाना है, धंधा ही करना है तो रामविलास जी से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मुनाफा मिले, तो उनसे तय कर लीजिए, चाहे वीरभारत तलवार जी से कर लीजिए, मुद्राराक्षस जी से कर लीजिए— यह आपके ऊपर निर्भर करता है। लेकिन मेरी गुजारिश यह है कि फर्स्ट हैंड नवजागरण को, उसकी मूल स्रोत सामग्री को देखिए, बिना किसी पूर्वाग्रह के पड़ताल कीजिए और मौजूदा समय, समाज से जोड़कर अपनी राय तय कीजिए।

(मध्य प्रदेश साहित्य परिषद् द्वारा भारत भवन में हिन्दी नवजागरण पर 20 अक्टूबर 2002 को आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में दिया गया व्याख्यान)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की तुलना किसी एक देश के ऐसे साहित्यकार से की जाए जिसने अपनी भाषा, साहित्य और संस्कृति को नया व्यक्तित्व दिया हो, जिससे पूरा युग खड़ा हुआ तो वह होंगे रूस के महान साहित्यकार पुश्किन! फर्क इतना ही है कि पुश्किन को उनकी जनता युगपुरुष के रूप में आज भी समादृत करती है और हमारी जनता भारतेंदु को जानती तक नहीं। पुश्किन के देश रूस ने न सिर्फ पुश्किन के संग्रहालय, मूर्ति-स्थापना तथा अन्य स्मृति चिन्हों को निर्मित और सुरक्षित किया बल्कि उनकी रचनावली को अपने देश तथा दुनिया की तमाम विकसित भाषाओं में उपलब्ध कराया। उसने दुनिया को बताया कि उनका महत्त्व रूसी जनता और अन्ततः पूरी मानव जाति के लिए क्या है! अपने तमाम उपलब्ध साधनों से उनके देश ने उन्हें पीढ़ियों के लिए सुरक्षित, सुलभ और जरूरी कर दिया। दूसरी ओर हमारे देश में सौ-सवा सौ वर्षों में घोर उपेक्षा से भारतेन्दु के तमाम स्मृति चिन्ह तेजी से विलुप्त हो गए। यहां तक कि उनकी संपादित पत्रिकाएं भी नष्ट हो गईं और उनकी रचनावली में पत्रिकाओं की काफी सामग्री शामिल होने से वंचित रह गई। आश्चर्य इस बात से और अधिक होता है कि पिछले दो दशक पूर्व तक शायद ही कोई हिन्दी का बड़ा लेखक होगा, जिसने भारतेन्दु के महत्त्व को उद्घाटित न किया हो। अगर हिन्दी के उन सभी रचनाकारों की लिखी रचनाओं को संकलित-संपादित कर प्रकाशन भी हुआ रहता तो एक सार्थक बात बनती।

किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक समृद्धि ही उसके विकास का प्रमाण है और उसके प्रति अपेक्षित गंभीर परख ही देश को उन्नत और संस्कारवान बनाता है। रूसी क्रांति के महान नेता लेनिन ने एक अमरीकी पत्रकार को दिए साक्षात्कार में अमरीका से रूस की समृद्धि का उल्लेख करते हुए कहा था— अमेरिका के पास

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लियो टॉलस्टाय हैं? यह थी वह चेतना जिसकी बदौलत लेनिन ने रूस को दुनिया के नक्शे पर एक व्यक्तित्व दिया। ऐसे नेता ही अपनी संपूर्ण सांस्कृतिक विरासत को गहराई से समझते हैं और अपने वक्तव्य तथा लेखन में उनके उद्धरणों से गंभीर टिप्पणियां करते हैं। हमारे यहां इस संस्कार का अभाव आजादी के बाद से ही रहा क्योंकि राजनेताओं का अहंकार अपनी अक्षमता के बावजूद कायम रहा। निराला ने महात्मा गांधी और पंडित नेहरू से जो ऐतिहासिक बहस की थी, उसे इस आसंग में देखा जा सकता है। पूरी बहस में गांधी या नेहरू किस कदर बौने दिखाई पड़ते हैं— यह दस्तावेज आज भी देखा जा सकता है।

सन् 1857 के स्वाधीनता संग्राम में ब्रिटिश हुकूमत भारतीय जनता को अपने पांवों तले बुरी तरह कुचल रही थी, वह राष्ट्रीय स्तर पर सांस्कृतिक अस्मिता को नेस्तनाबूद करने पर आमादा थी— वह समय अंग्रेजी इतिहास का क्रूर काल था। सामंतवाद की आड़ में साम्राज्यवाद की खड़ी होती इमारत का युग था— इस युग-संधि के कठिन समय में भारतेन्दु ने विलक्षण दायित्व और समझ से नई रोशनी की तलाश की और इसी रोशनी में मौलिक राष्ट्रीयता की तलाश हुई। उसका आधार जाति, क्षेत्र और धर्म नहीं बनकर पूरे भारतवर्ष का विशाल जनसमुदाय था। उस समय एक ओर पूरी दुनिया में राष्ट्रवाद का उदय हो रहा था जिसके प्रभाव में बंगाल के भीतर भी जागरण की नवीन लहर फैल रही थी। परन्तु बंगाल की राष्ट्रीयता का बौद्धिक आंदोलन भारत की सरजमीं से पूरी तरह नहीं जुड़ पा रहा था। आगे जब उसका विस्तार हिन्दी प्रदेशों में हुआ तो एकबारगी उसका स्वरूप बदल गया और राष्ट्रीय स्तर पर देशभक्ति की नई चेतना फैली। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में न तो कोई बंदरगाह थी और न ही शिक्षा का वैसा प्रसार जैसा बंगाल, महाराष्ट्र या मद्रास में था। बावजूद भारतेन्दु ने ऐसी कठिन परिस्थिति और संक्रमण काल में उस चेतना को देश की मूलभूत समस्याओं से जोड़ने की कोशिश की और मूक जनता को नया स्वर दिया। उनकी दी गई उसी प्राण-शक्ति से आगे चलकर हिन्दी जैसी नितांत अविकसित भाषा, भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की प्रमुख वाहिका बन गई। इस भाषा में ग्राह्यता, गतिशीलता और परिवर्तनशीलता की अद्‌भुत क्षमता थी। लेकिन ऐसा करने में भारतेन्दु अपने परिवार की वह अकूत संपत्ति पूरी तरह लुटाकर स्वयं कर्जदार हुए, जिस संपत्ति को प्राप्त करने में उनके पूर्वजों ने अंग्रेजी सरकार को देश के विरुद्ध मदद की थी। भारतेन्दु कहते थे— 'इस संपत्ति ने मेरे पूर्वजों को खाया है और अब इसे मैं खाऊंगा?'

जिस भारतेन्दु ने मात्र चौंतीस वर्ष चार माह की अल्पायु (1850-85) में ही न सिर्फ हिन्दी की भव्य इमारत खड़ी की बल्कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आंदोलन में सक्रिय हिस्सेदारी भी ली। पांच वर्ष की उम्र में मातृहीन और दस वर्ष की अवस्था में पितृहीन भारतेन्दु का जीवन करुणा और संघर्ष से भरा हुआ था।

विमाता की देखरेख में व्यतीत हुए बचपन के बाद जब बालिग हुए तो पैतृक संपत्ति के प्रति विराग हो गया। हिस्से में प्राप्त कई गांवों की जमींदारी, बागीचे, जमीन, खेत, हवेलियां रास नहीं आईं। उदारता का ऐसा आलम कि मित्रों को इच्छाएं व्यक्त करने में वक्त लगता था मगर पूरी करने में भारतेन्दु एक पल भी जाया नहीं करते थे। पटना गायघाट स्थिति चैतन्य पुस्तकालय के संस्थापक राधालाल गोस्वामी उनके अंतरंग थे। उनके पास आज भी भारतेन्दु की भेंट सुरक्षित है। जरूरतमंदों को लेकर बेसहारा गरीब युवतियों के विवाह सड़कों पर भीख मांगते दरिद्रों को दुशाले ओढ़ा कर भारतेन्दु ने पूर्वजों की दूषित संपत्ति की कालिमा पोंछी। शेष संपत्ति हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए मुक्तहस्त खर्च किया कि अपनी नाव कर्ज में डूबो दी मगर हिन्दी के जहाज को डूबने से बचा लिया। वह आनरेरी मजिस्ट्रेट हुए और म्युनिसिपल कमिश्नर भी। सरकार उनकी पत्रिकाओं की जो सौ-सौ प्रतियां खरीदती थी— वही एकमात्र आगत आय थी। राजद्रोह की गंध सूंघकर उसे भी बंद किया गया मगर भारतेन्दु ने पत्रिकाओं का प्रकाशन बंद नहीं किया।

भारतेन्दु की राष्ट्रीय-भावना पर संदेह करने वाले लोग उनमें देशभक्ति के तत्त्व निकाल ही लाते हैं। वे उन्हें वैसा महत्त्व नहीं देना चाहते जैसा डॉ. रामविलास शर्मा देते हैं। डॉ. शर्मा पर परम्परा-पूजक और श्रद्धावाद का आरोप भी लग जाता है। ऐसे लोग राष्ट्रवाद हिन्दूवाद के उदय और उसके प्रभाव की मीमांसा में नहीं जाते। वे तत्कालीन समय में कंपनी से विक्टोरिया रानी के हाथों आए शासन के स्वरूप और स्वभाव की अनदेखी करते हैं। स्वयं भारतेन्दु की सारी सामग्री अभी तक सुलभ नहीं हुई। उनकी राजभक्ति को तत्कालीन राजनैतिक परिवर्तनों के सापेक्ष अपनाई गई रणनीति के आलोक में देखने की जद्दोजहद उठानी पड़ेगी। बिना पूरी छानबीन और सहानुभूति से की गई परख के भारतेन्दु की राजभक्ति को समझना असंभव है। दूसरी बात यह है कि उनकी देशभक्ति और राजभक्ति में कितना हिस्सा किसका है और कौन मुख्य है— परिवर्तन और विकास की क्रमबद्धता आगे की ओर है या पीछे, बिना इस पर विचार किए फतवा जारी करना समझदारी की बात नहीं। अंग्रेजी राज की सुधारवादी और लोकहितार्थ योजनाओं या कार्यों की प्रशंसा और कालानुसार धीरे-धीरे जनविरोधी नीतियां तथा गतिविधियों का विरोध अगर संतुलित राष्ट्रीयता न होकर राजभक्ति दिखे तो ऐसे आरोपी शोधार्थी समालोचकों का खुदा ही मालिक है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भारतेन्दु के पीछे का समय पूर्णतया सामंती था लेकिन अंग्रेजी शासन में इससे द्वंद्व शुरू हो चुका था। जो लोग भारत में सामंतवाद को पिछड़ा मानकर उसकी तुलना में ब्रिटिश साम्राज्यवाद को प्रगतिशील मानते हैं— वे भारत में ब्रिटिश सत्ता और भारतीय सामंतवाद के सघन रिश्तों की अनदेखी करते हैं। भारत में अंग्रेजों के आने के पूर्व जो औद्योगिक और व्यापारिक व्यवस्था थी, शिक्षा का जो स्वरूप था उसे सबसे पहले अंग्रेजों ने ध्वस्त किया। उन्होंने फिर जिस तरह की व्यापार पद्धति शुरू की उसमें उन्होंने आर्थिक शोषण इसी विनिमय प्रणाली के द्वारा निर्बाध तरीके से चलाया। उद्योगों के टूटते ही कृषि और गांवों पर जो मार पड़ी, लोगों पर भारी बोझ बढ़ा, उसमें भारतीय कृषि व्यवस्था की कमर ही टूट गई। इसका ग्राम्य-जीवन पर व्यापक असर पड़ा और सांस्कृतिक विपन्नता भी बढ़ने लगी। समवेत रूप में सामाजिक संपन्नता का क्षय होने लगा। अशिक्षा के इस ह्रास की ओर सोचने की स्थिति ग्रामीणों में नहीं थी। एक हद तक तो आज भी सही स्थिति घिसटती दिखाई पड़ती है। सामंती शासन का जो अपना सर्वोच्च सांस्कृतिक स्वरूप था, वह रीतिकाल के साथ ही गुजर चुका था। सामंती व्यवस्था भी अपने अंतिम दौर में क्षीण होती जा रही थी, लेकिन उसकी क्रूरता लगातार बढ़ रही थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की निर्मम दोहरी मार से जनता की स्थिति अत्यन्त जर्जर हो गई थी। आप पाएंगे जैसे-जैसे अंग्रेजी शासन की पोल खुलती गई, भारतेन्दु और उनके समकालीनों का विरोध स्वर तीखा होता गया।

भारतेन्दु के पीछे भक्ति और रीति की दो काव्य धाराएं गुजर चुकी थीं। भारतेन्दु ने भक्ति की वैष्णव परम्परा को स्वीकार किया लेकिन 'कहां करुणानिधि केशव सोए, जागत नाहिं अनेक जतन करी, भारतवासी रोए।' उन्होंने भक्ति की परम्परा को राष्ट्रीयता से जोड़ दिया। रीतिकाल में बिहारी की दरबारी परम्परा का निषेध कर घनानंद की मुक्तधारा को प्रश्रय दिया। उन्होंने भूषण की संकीर्ण हिन्दू राष्ट्रीयता से अलग हटकर हिन्द और हिन्दी राष्ट्रीयता का विकास किया। उन्होंने राष्ट्रीयता को राजनीतिक भावना तक सीमित नहीं रखकर उसे जनता की व्यापक और सामयिक समस्याओं से जोड़ दिया। स्त्री शिक्षा, विधवा-विवाह, जन शिक्षा, विदेश यात्रा जैसे सामाजिक सवालों को जोड़कर राष्ट्रीय चेतना को व्यापक और जनवादी स्वरूप प्रदान किया। यही कारण था कि वह जनता के साहित्य की बात करते थे और जनता के बीच साहित्य ले जाने को कटिबद्ध और प्रयत्नशील रहे।

मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गांव-गांव में साधारण लोगों में फैलेंगी उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और विदित है कि जितने शीघ्र ग्राम-गीत फैलते हैं और जितना काव्य का संगीत

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता।

इस तरह साहित्य को जनता से जोड़कर ग्राम-साहित्य शैली में भारतेन्दु ने विपुल साहित्य रचा और रचने की प्रेरणा दी। इन रचनाओं में जन समस्याओं और शासन की गलत नीतियों से उत्पन्न समस्याओं पर गंभीरता से विचार किया। सामंती और साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध आधुनिक विचारों से जनता को शिक्षित करने की जो कोशिश की, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। इसकी जरूरत आज भी उतनी ही ज्वलंत और जरूरी है। भारत की प्राचीन सांस्कृतिक अस्मिता को नए आलोक में उद्घाटित करके जनता के सामने अतीत और वर्तमान के फर्क को रखा है। नि:संदेह उनका ढंग पुनरुत्थानवादी नहीं था। लगभग डेढ़ हजार से अधिक पृष्ठों के लेख, हजार-हजार पृष्ठों तक कविताएं और नाटकों के अतिरिक्त अनेक असंकलित सामग्री और सैंकड़ों पत्र हैं— यह सब कुछ निश्चय ही हमारी भाषा का पहला और सच्चा जनवादी साहित्य है। इतनी अल्पायु में गुणवत्ता और परिणाम की दृष्टि से विपुल साहित्य रचने वाले वह संभवत: एकमात्र हिन्दी साहित्यकार हैं।

शासन और समाज की तमाम बुराइयों पर तीखे व्यंग्य, जनता के दुखों की मार्मिक अभिव्यक्ति और प्रगतिशील मूल्यों की आस्था ने एक ऐसे महान-युग को आकार दिया-जिसकी तुलना किसी दूसरे युग से नहीं की जा सकती। एक-एक विधा की पूर्ति में नए-नए प्रयोग किए गए और गद्य की शानदार शुरुआत हुई। नाटकों की दिशा में तो भारतेन्दु युग की देन बेमिसाल है। भारतेन्दु सिर्फ कलम से क्रांति लाने वाले आज जैसे बावनवीर रचनाकार नहीं थे, बल्कि वह सीधे जनता के बीच जाकर सक्रिय हिस्सेदारी लेते थे। उन्होंने पूरे देश में अनेक जगहों की लंबी यात्राएं की थीं। वह पूर्वी-पश्चिमी प्रदेशों के सारे प्रमुख स्थानों पर गए थे। कलकत्ता, बुलंदशहर, कानपुर, लखनऊ, अयोध्या, बस्ती, गोरखपुर, जयपुर, उदयपुर, आगरा, पटना, पुरी सहित खूब यात्राएं कीं और पूरे राष्ट्र की विविध सांस्कृतिक गतिविधियों को नजदीक से देखा। इस क्रम में वह सिर्फ शहरों तक ही सीमित नहीं रहकर दूरदराज गांवों तक भी गए और गरीबी के कारणों को, सामंती और साम्राज्यवादी शासन की दरिंदगी को बखूबी पहचान कर उन पर विस्तार से लिखा।

बाबू ब्रजरहन दास ने भारतेन्दु की जीवनी में उल्लेख किया है कि पुरी में भोग लगाने के समय उन्होंने भैरव की मूर्ति रखवा दी जिसके विरोध में किसी ने तहकीकात पुरी लिखी। भारतेन्दु ने तहकीकात पुरी की तहकीकात लिखकर धार्मिक अंधविश्वास और शोषण को खुली चुनौती दी। एक बार बचपन में पिता

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
को गंगा में तर्पण करते देख टोका— 'बाबूजी! पानी में पानी डालने से क्या फायदा?' उन्होंने धार्मिक रूढ़ियों पर खुलकर प्रहार किया और जनता को नवीन विचारों से लैस करने का भगीरथ प्रयत्न भी।

हिन्दू संकीर्णता, सांप्रदायिकता, आपसी द्वेष, मुकदमेबाजी, विदेश गमन करने वालों का बहिष्कार— इन तमाम बुराइयों पर भारतेन्दु युग के रचनाकारों ने करारी चोट की। विधवा-विवाह, स्त्री शिक्षा और जन शिक्षा की जोरदार वकालत की। एक ओर गलत विचारों का विरोध तो दूसरी ओर नवीन और प्रगतिशील विश्वासों का जन्म— ऐसी सार्थक और जनोपयोगी कार्यों में ही वह अंत तक समर्पित रहे।

भारतेन्दु ने गांवों की यात्रा में जनता की जिस गरीबी, अशिक्षा, पिछड़ेपन और नारकीय जीवन को देखा था उससे बेहद मर्माहत हुए थे। सरकार की घोर उपेक्षा और जनविरोधी नीतियों के कारण ही जनता की ऐसी दुरावस्था थी— इस बात को भारतेन्दु ने गंभीरता से समझा था। कल-कारखानों के बंद होने, उद्योगों के ध्वस्त होने तथा हस्तशिल्पों और दस्तकारों के नष्ट होने को बड़ी शिद्दत से महसूस कर स्वदेशी का पहली बार मंत्र दिया। वही मंत्र जिसे लेकर महात्मा गांधी ने स्वाधीनता का आंदोलन किया। भारत की भव्य व्यापारिक और कलाकारी का उल्लेख करते हुए बड़ी पीड़ा से कहा हम एक माचिस भी नहीं बनाते हैं। वह हमेशा जनता की बेहतरी के लिए मौलिक ढंग से सोचते रहते थे और अपने विचारों से परिचित भी कराते जाते थे। उन्होंने कुछ स्कूल और स्वास्थ्य केन्द्रों तक की स्थापना की थी। साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक-संगठनों या समितियों का निर्माण किया। अन्याय के विरुद्ध उनकी ललकार ज्वलंत राष्ट्रीयता से भरी होती थी। वह जमकर देशभक्ति का उद्‌बोधन करते थे।

'हिन्दुस्तान? तेरी ऐसी दशा हो गई, तू अपने निवासियों का यह अपमान देख के फट भी नहीं जाता, अरे तू फिर कब अपने को सम्हालेगा और हम लोगों की इस दीन दशा को सोचेगा!!'— भारतेन्दु कितनी गंभीरता से ब्रिटिश हुकूमत के क्रूर दमन को समझ रहे थे इसकी एक मिसाल वह मुसलमानों से अंग्रेजों के दमन का फर्क बतलाते हुए व्यक्त करते हैं— 'उन सबों ने अपना घर यहीं बनाया था। इसमें यहां की लक्ष्मी यहीं रहती थी।' दूसरी ओर अंग्रेजों के बारे में लिखा— 'सरकारी पक्ष का कहना है कि हिन्दुस्तान में पहले सब लोग लड़ते-भिड़ते थे और आपस में गमनागमन नहीं हो सकता था— यह सब सरकार की कृपा से हुआ। हिन्दुस्तानियों का कहना है कि उद्योग और व्यापार बाकी न रहा। रेल आदि से भी द्रव्य के बढ़ने की आशा नहीं। रेलवे कंपनी वाले ने जो द्रव्य व्यय किया है

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उसका ब्याज सरकार को देना पड़ता है और उसे लेने वाले बहुधा विलायत के लोग हैं। कुल मिलाकर 26 करोड़ रुपया बाहर जाता है।'

यही कारण था कि 8 जून 1874 ई. को कविवचन सुधा के संपादकीय में भारतेन्दु ने जयघोष किया। उनकी ललकार आज भी रोमांचित करने वाली है— 'भाइयो! अब तो सन्नद्ध हो जाओ और ताल ठोंककर इनके सामने खड़े हो जाओ। देखो भारतवर्ष का धन जाने न पावे— यह उपाय करो।' वह सही अर्थों में स्वाधीनता आंदोलन के महान-पुरोधा थे। कुछ अन्य उद्धरण लें, जिस पर टिप्पणी की कोई खास जरूरत नहीं।

'कपड़ा बनाने वाला, सूत निकालने वाले, खेती करने वाले आदि सब भीख मांगते हैं— खेती करने वालों की यह दशा है कि लंगोटी लगाकर हाथ में तुंबा ले भीख मांगते हैं और जो निरुद्यम हैं उनको तो अन्न की भ्रांति है।'

भारत के उद्योग नष्ट हो गए, सामंती तंत्र में कृषि उत्पादक किसान भूखे और नंगे।— अब तो प्रतिवर्ष कहीं-न-कहीं दुष्काल पड़ा रहता है, मुख्य करके अंग्रेजी राज में उसका घर है और बहुधा ऐसा सुनने में आया है कि विसूचिका का रोग जो अब संपूर्ण भारतखंड में छा रहा है, अंग्रेजों के राज के आरंभ से इसका आरंभ हुआ है।

आगे लिखते हैं— जब अंग्रेज विलायत से आते हैं, प्रायः कैसे दरिद्र होते हैं और जब हिन्दुस्तान से विलायत को जाते हैं तब कुबेर बनकर जाते हैं ... इससे सिद्ध हुआ कि रोग और दुष्काल इन दोनों के मुख्य कारण अंग्रेज ही हैं।

वह गंभीरता से परख रहे थे कि किस तरह अंग्रेजों ने भारतीय जनता के उद्योग-धंधों को चौपट किया। इसके बावजूद कुछ लोग लगे रहे तो उनकी दुर्दशा को लक्ष्य कर लिखा— 'विलायत पर के माल का महसूल न्यून होता है और देशी माल पर विशेष महसूल लगाने का उद्योग किया है।' अंग्रेजों की व्यापारिक कुटिलता, यहां की अर्थव्यवस्था को कुतरते जाने की प्रक्रिया— इस सबका गहरा एहसास था भारतेन्दु को! स्पष्ट सिद्ध हुआ कि हिन्दुस्तान के विषय में उनकी दुष्ट बुद्धि और भत्सर्ना प्रत्यक्ष हैं। 6 जुलाई 1874 ई. की कविवचन सुधा में छपी टिप्पणी है—

'मुसलमान लोग अंग्रेजों की अपेक्षा सौ गुना अपव्ययी थे परन्तु वे लोग इस देश के निवासी थे, इससे उनका अर्थ-समुदाय इसी देश में व्यय होता था और उनके अपव्यय से इस देशवासियों का उपकार ही होता था।' उनके भीतर भारत के प्रति गहरा ममत्व था और वे इसकी आजादी की विकल कामना रखते थे, जिस प्रकार अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वाधीन हुआ वैसे ही भारतवर्ष भी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

स्वाधीनता लाभ कर सकता है'— भारतेन्दु को सचमुच यह बात बार-बार कचोटती थी कि 'बीस करोड़ भारतवासियों पर पचास हजार अंग्रेज शासन करते हैं।'

ये उद्धरण सिर्फ बानगी हैं। इसके अलावा उनकी साहित्यिक रचनाओं में जो व्यक्त विचार हैं, भावनाएं हैं, उन्होंने अल्पायु होने के बावजूद जितने और जिस तरह के काम किए— वे असाधारण हैं। अगर उनकी संपादित पत्रिकाओं को भी उपलब्ध कर संकलित-संपादित किया जाए तथा कुछ बिखरी सामग्री भी समेटी जाए तो उनका साहित्य तो सुरक्षित किया ही जा सकता है। उनका लिखा एक व्याकरण भी देखने को मिला था जो बाद में नागरी प्रचारिणी पत्रिका में छपा था। उनकी रचनावली का आज तक अपेक्षित संपादन-प्रकाशन नहीं हुआ। जो रचनावली उपलब्ध हुई— उसके संपादन में काफी त्रुटियां हैं। आज हमारे देश में फिल्मों, वृत्तचित्रों, दूरदर्शन, आकाशवाणी, समाचारपत्रों, सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थानों, प्रकाशनों तथा अनेक संस्थाओं की भरमार है। इस उत्सवी और आयोजनी सरकार में प्रायः हर रोज महोत्सवों और समारोहों की लड़ी लगी ही रहती है। परंतु अपने निधन के सौ-सवा सौ वर्षों के बाद भी भारतेन्दु ऐसी अहमियत नहीं पा सके कि इन माध्यमों के द्वारा अपने ही देश की जनता में जाने जाएं। सबसे बड़ी चिंता की बात तो यह है कि कुछ मार्क्सवादी विद्वान (?) डॉ. रामविलास शर्मा के प्रति अपनी खीझ नवजागरण और भारतेन्दु पर ही उतारने लगते हैं। यह शर्म से डूब मरने वाली बात है कि उन जैसी हस्ती की दुर्लभ और अप्राप्य सामग्री आज भी बिखरी पड़ी है और नष्ट हो रही है। कुछ तो मुझे भी अत्यन्त असुरक्षित स्थिति में देखने को मिली।

भारतेन्दु के व्यक्तित्व और उनकी बहुविध रचनात्मक सक्रियता का आकलन आसान नहीं है। उनकी समृद्ध विरासत की गहरी छानबीन होनी चाहिए। उनके पितामह की एक टिप्पणी है— 'अब चारों ओर दरिद्रता फैल गई है। विलायत से असबाब आने और सस्ता बिकने के कारण यहां के कारीगरों का काम बंद है और वे तबाह हो गए।' इसके 46 वर्षों बाद पौत्र ने लिखा— 'पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।' आप उनके यात्रा संस्मरणों को पढ़ें तो उनके अनुभव स्पर्श का अंदाज होता है। वह सराय के खाट के खटमलों और भटयारिनों का लड़ना अपनी आंखों देख चुके थे। उनके लेखन को गंभीरता से देखने पर यह स्पष्ट लगता है कि उनकी समझ और उनके विचार सचमुच एक युग के नायक के हैं। पूरी दुनिया की पीड़ित जनता से उनकी हमदर्दी थी। ब्रजरत्न दास ने अपनी जीवनी में एक विज्ञापन का हवाला दिया है, जिसमें भारतेन्दु ने अपनी पत्रिका के पाठकों से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

फ्रांस की पीड़ित जनता के लिए प्रो. गार्सा द तासी को चन्दा भेजने की अपील की है। भारतेन्दु का राजाराम मोहनराय से लेकर पिंकार तक से अपने समय के नायकों के साथ मित्रता रही, पत्राचार हुए। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि भारतेन्दु के लिए पत्रकारिता, साहित्य और देश सेवा अलग-अलग नहीं थी। वह नवजागरण के अग्रदूतं थे।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हिन्दी नवजागरण और प्रेमघन का गद्य

चौधरी बद्रीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' भारतेन्दु-मंडल के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाकारों में थे। उनकी रचनावली के दो खण्ड 'प्रेमघन-सर्वस्व' नाम से हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने प्रकाशित किए, लेकिन तीसरा खण्ड वर्षों से मुद्रणाधीन है। वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक गुरु थे। शुक्ल जी ने उनके महत्त्व का आकलन अपने एक संस्मरणात्मक आलेख और हिन्दी साहित्य के इतिहास में किया है। डॉ. रामविलास शर्मा ने भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा में थोड़ी आनुषंगिक चर्चा की है। लेकिन जिसकी रचनाओं का प्रकाशन ही अभी अधूरा हो, उसके सम्यक मूल्यांकन की अपेक्षा तो दूर की बात है। दरअसल आधुनिकता और परम्परा का विवाद ही हम अभी तक सुलझा नहीं पाए हैं। आधुनिकता की जमीन पर अतीत को आकलित करने का विवेक हमारे समय में सुनिश्चित नहीं हो पाया है, न परम्परा को आधुनिकता के आसंग में प्रासंगिक कर पाना ही। हमें इस बात का इल्म तक नहीं कि परम्परा और आधुनिकता के अपेक्षित, वैज्ञानिक और विवेकसम्मत बोध के अभाव में हमारा चिंतन मजबूत पांवों पर खड़ा अप्रासंगिक लगता है या हर पुरानी चीज संग्रहणीय। इसका लाभ उन तमाम आधुनिकतावादियों को मिलता है जो विकृतियों का लगातार आयात करते हैं और उन पुराणपंथियों को भी जो विकास के रथ को समय के साथ आगे बढ़ने ही नहीं देना चाहते। इन दोनों की पोषक शक्तियों में दिखाई पड़ता तीव्र विरोध चाहे जितना प्रखर हो, उनके बीच उद्देश्य की एकता निर्विवाद है वह है प्रगतिशीलता और जनवाद के विकास में गतिरोध! ये ताकतें भाषायी और सांस्कृतिक स्तर पर रूढ़िवाद और इच्छित आधुनिकता को बनाए रखना चाहती हैं जिसे तोड़ने की पहली शर्त यही है कि हम समय के इस दोहरे संक्रमण को पहचानने की कोशिश करें और उसकी जटिलताओं के विश्लेषण में गहरे उतरें। समय की जरूरतों को आसंग में स्वस्थ और जरूरी आधुनिकता का निर्धारण करें और परम्परा से विवेकसम्मत चयन। हिन्दी में इसका प्रस्थापन बिन्दु मेरी समझ में

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
भारतेन्दु युग ही है।

भारतेन्दु युग के लेखक हमारे ऐसे पूर्वज हैं जिन्होंने हिन्दी गद्य के निर्माण का ऐतिहासिक दायित्व पूरा किया। अत्यन्त दुष्कर और बंजर जमीन में खेती करने वाले वे लोग पहली कतार के किसान थे। उनके अथक श्रम और समर्पण ने ही वह उर्वर भूमि तैयार की जिस फसल के आज हम सभी हिस्सेदार हैं। भारतेन्दु युग हिन्दी में आधुनिकता का प्रवेशद्वार हैं। यह ऐसा संधिस्थल है जब देश में कई पुरानी परम्पराएं टूट रही थीं और नई जन्म ले रही थीं। यह भारतेन्दु के नेतृत्व में होने वाला महान युग परिवर्तन था। उनके साथ और उनके समकालीन अनेक रचनाकार थे जिनमें कम से कम बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, ठाकुर जगमोहन सिंह और बद्रीनारायण उपाध्याय प्रेमघन ऐसे अवश्य थे जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ये सभी अकूत मेधा वाले अपने समय के सुपठित, जागरूक, सक्रिय और समर्पित रचनाकार थे, जिनके लेखन का सामाजिक और राष्ट्रीय आशय था। इनका अध्ययन हमारे समय के गतिरोधों को तोड़ने और जरूरी अवधारणाओं के निश्चय में निःसंदेह कारगर सिद्ध होगा क्योंकि वे अपने समय के सर्वाधिक आधुनिक और सचेत लोग थे। इनकी रचनाओं में भारतेन्दु को छोड़कर और किसी की पर्याप्त सामग्री सहज सुलभ नहीं है। उस युग की पत्रिकाएं तेजी से विलुप्त हो रही हैं जिन्हें मशीनी प्रतिलिपि की सुविधा से सुरक्षित किया जाना जरूरी है। भारतेन्दु संपादित 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका', 'बाला-बोधिनी' की सुलभ प्रतियों का तो यथावत प्रकाशन ही होना चाहिए और शेष हिन्दोस्तान, सार सुधा निधि और हिन्दी प्रदीप की विवेकसम्मत छानबीन कर, प्रासंगिक सामग्री का चयनित-संपादित रूप सामने आना चाहिए। ब्राह्मण, भारतेन्दु, नागरी-नीरद और आनंद कादंबिनी ऐसी पत्रिकाएं हैं, जिनमें सर्वोत्तम स्वयं इनके संपादकों प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी और प्रेमघन जी का है, जिसे उनकी संपादित सामग्री चयन में भी समेटा जा सकता है। इन सबकी वैज्ञानिक रचना विवरणिका भी छप सके तो शायद नए शोधार्थियों का आकर्षण जगे। यह कार्य विश्वविद्यालय के हजारों शोध-निदेशकों और शोधार्थियों के लिए ज्यादा दायित्वपूर्ण और सुगम है, जिनका संबंध या प्रभाव सरकारी सांस्कृतिक संस्थाओं से भी अपेक्षाकृत ज्यादा सघन है। अभाव नीयत, समझ और संकल्प का है।

भारतेन्दु युग के रचनाकारों का एक आत्मीय और दिलचस्प पक्ष है—उनकी जीवंतता, जिन्दादिली। वे बेहद मस्त लोग थे और उनका व्यक्तित्व ठोस जमीन पर खड़ा था। प्रेमघन जी भी इसके अपवाद नहीं। यह एक विरल संयोग

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है कि भारतेन्दु की तरह ही प्रेमघन जी के पूर्वजों ने भी अंग्रेजी हुकूमत की तरफदारी की थी और पुरस्कार में काफी गांव पाए थे। इनके पितामह पं. शीतला प्रसाद जी कुलीन ब्राह्मण थे। रईस जमींदारों का-सा रुतबा था। कानों में मंत्र-फूंक गुरुआई से कुल ने 'चौधरी' की लोकोपाधि पाई थी। मिर्जापुर के पूरे इलाके में इनकी यजमानी थी। 'मिर्जापुर' प्रेमघन जी का मीरजापुर, लक्ष्मीपुर था यानी मीर = समुद्र + जा = पुत्री + पुर। चेलों का साम्राज्य दूर-दूर तक फैला था। धार्मिक वर्चस्व और अंग्रेजी हुकूमत से आई संपत्ति से पितामह को संतोष नहीं हुआ। पूंजी के पांव फैले। मिर्जापुर तब जबरदस्त व्यावसायिक नगर था। व्यापार ने सामंती रुतबे को और समृद्धि दी। बड़े पैमाने पर शहरी भूखंड लेकर रईसों में अपना रुतबा बुलंद किया। संपत्ति और कीर्ति की यह समवेत सत्ता आई—प्रेमघन जी के पिता श्री गुरुचरण उपाध्याय के हाथों। वह अपने पिता से अलग स्वभाव के शीलवान और उदार व्यक्ति थे। संस्कृत, फारसी और हिन्दी के विद्वान थे। संपत्ति और शील के संयोग से परमार्थ पनपा। भोजन-वस्त्र की सुविधा सहित संस्कृत की पाठशालाएं खुलीं, जिसे संपत्ति की कालिमा कमी। समाज में संपन्नता को नया संस्कार दिया तथा प्रतिष्ठा बढ़ी।

प्रेमघन जी के परिवार का मूल निवास इलाहाबाद संगम के पास झूंसी के समीप दत्तापुर गांव में था। प्रेमघन का जन्म वहीं पर भाद्रपद कृ. 6 विक्रम संवत् 1912 को हुआ था। प्रेमघन जी को अपने जन्म-स्थान से सघन संबंध का सुयोग तो न मिला बावजूद उन्होंने जीर्ण जनपद में उसके प्रति मोह-ममता की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। गांव के प्रति उनकी इस मार्मिकता में रोमांस नहीं था बल्कि उसके उजाड़पन की टीस भरी कसक थी। जिन्दादिली और करुण मार्मिकता हिन्दी जातीयता की मूल अभिव्यक्तियां रही हैं।

प्रेमघन जी की पहली हिन्दी शिक्षिका थीं उनकी विदुषी माताश्री। पांच वर्ष की अवस्था में फारसी और अंग्रेजी की शिक्षा भी शुरू हो गई। पढ़ाई अक्रमित तरीके से ही चल रही थी इसलिए पिता ने व्यवस्थित शिक्षा के लिए उन्हें गोंडा भेजा। अमीरी और सामंती तबियत की बादशाहीयत ने घुड़सवारी, शिकार और लक्ष्यभेद की आदतें आमंत्रित कीं। शानदार यारबासी की उमंगों ने चढ़ती जवानी की दहलीज पर पांव रखा। लंबा और दोहरा बदन, रेख उठानी, उम्र का सजीलापन, सुगठित और सुडौल शरीर, लंबी रोमांटिक आभा बिखेरती वक्र जुल्फें दोनों ओर लटकतीं उनके सांवले चेहरे में मोहक बांकपन भर देतीं। रईसी आबाकामा पर चौगोशिया टोपी पहन जब बैठकी जमाते तो उनका ताब देखते बनता। इच्छित सल्तनत उगाने वाले पितामह की थकी आंखें अपने वैभव का आखिरी सिंगार

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
देखना चाहती थी। माँ और पिता का सात्विक संस्कार, उम्र के दलकते पांवों को मर्यादा से बांध देना चाहती थी। वि.स. 1924 में प्रेमघन दूल्हा बने और मिर्जापुर के लोगों ने देखी एक यादगार बारात। प्रेमघन का युवा मन रम गया। वह गोंडा से मिर्जापुर आ गए। विवाह के कुछ वर्ष ही गुजरे कि पितामह का निधन हो गया। कुछ दिनों तक मिर्जापुर में स्कूल भी गए मगर पिता से रियासत संभलती न थी। वि.स. 1927 में पढ़ाई छोड़कर सल्तनत की बागडोर खुद थामी। घर पर ही एक शिक्षक रख लिया— पं. रामानंद पाठक (परमानंद जी) जो संस्कृत के विद्वान और काव्यानुरागी थे। उन्होंने प्रेमघन के मानस को परखा और साहित्य की लौ लगाई। फिर शुरू हुई भारतेन्दु युग के इस महान महारथी की एक नई यात्रा।

प्रेमघन जी ने जो तबियत पाई थी, वह सामंती ही थी लेकिन सामंती शरारतें एक भी नहीं आईं। मिजाज की मस्ती ने मर्यादा का बांध नहीं तोड़ा। संस्कार-साहित्य और संगीत में सने ताल-लय की बारीक परख आगे काम आई— सवैया रचने में। गेयता की दृष्टि से भारतेन्दु के बाद, उस युग में दूसरा प्रेमघन जी का सानी न था। वह रससिद्ध कवि हुए— उर्दू-फारसी में 'अब्र' और हिन्दी में 'प्रेमघन'। उनके दोस्तों में एक थे— पं. इंदुनारायण शुगलू— देशभक्त और नए विचारों वाले। उर्दू के अच्छे शायर थे। उन्हीं के कारण सन् 1873 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से संपर्क का सुयोग मिला। प्रेमघन जी का जीवन ही बदल गया। मैत्री की अनन्यता को रचनात्मक दिशा मिली। प्रतिवर्ष मिर्जापुर में कजली मेला लगता था। प्रेमघन जी ने एक वर्ष खुद आयोजित किया— भव्य कजली उत्सव! भारत-रत्न भारतेन्दु मुख्य अतिथि हुए। पूरे शहर में रौनक थी— सारा मिर्जापुर उमड़ आया था। कजली, कजली-उत्सव का इतिहास लिखने वाले प्रेमघन स्वयं कजली रचने में बड़े ही प्रवीण थे। जब तक भारतेन्दु रहे, एक पल भी उत्सव नहीं थमा। मजलिस जमी रही। उनका स्वागत, उनकी विदाई किसी राजपुरुष की तरह हुई थी। इलाके के सारे सामंत-सरदार आमंत्रित थे। महाराज तक पधारे। शुक्ल जी ने लिखा है— 'पान की तश्तरी लिए नौकर हमेशा पीछे लगा रहता। उनकी बातचीत में हमेशा वक्रता रहती। नौकर अगर गिलास वगैरह गिरा देता तो टोकते-' का रे बचा व नाहीं। प्रेमघन जी की बादशाहीयत के किस्से शुक्ल जी बड़ी ही दिलचस्पी से सुनाया करते। मगही पान के 6-6 बीड़े एक साथ। चौचक घमी रहती। नौकरों को हिदायत थी— क्या मजाल जो चांदी की तश्तरी में कभी पान कमे। भंग-भवानी के उपासक थे। पिस्ता, बादाम, मुनक्का, मग्ज कद्दू, गर्मियों में गुलकंद, संतरा, अंगूर तथा जाड़ों में केसर। पं. चन्द्रशेखर शुक्ल ने आचार्य शुक्ल जी की जीवनी में एक दिलचस्प घटना का उल्लेख किया है—

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

एक बार शुक्ल जी के सामने ही प्रेमघन जी को उल्टी हो गई तो पेट से दर्जन भर भांग की गोलियां ज्यों की त्यों बाहर। शुक्ल जी ने स्वयं लिखा है कि एक बार वह पूरे सवा तीन घंटे तक 'द्वादेव ब्राह्मणों रूपे मूर्त चैवामूर्त च' (ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दो ही रूप हैं) की व्याख्या ही करते रह गए। इसी बीच लैम्प की बत्ती भभकी। शुक्ल जी उठाने चले तो घुड़क दिया। रामधनियां नौकर को पुकारा। लैम्प फूटने को आया, भभकना तेज हो गया। शुक्ल जी दोबारा उठे मगर प्रेमघन जी ने फिर रोक दिया। 'भला यह भी कोई भलमनसाहत है कि जो मेरे यहां आए वह लैम्प बुझाए, चिरागबत्ती करे, पानी पिलाए, पान खिलाए और झाड़ू दे।' जब तक रामधनियां आया, लैम्प फूट चुका था। उसने लैम्प बदल दिया। न तो उसने कुछ कहा, न ही प्रेमघन जी ने।

प्रेमघन जी कैसे थे— यह चाहे जितना दिलचस्प हो, महत्त्वपूर्ण यह कि उन्होंने साहित्य या संस्कृति में क्या कार्य किए? उन कार्यों का महत्त्व क्या है? जैसा आज भी अनेक लेखकों का यह विश्वास है कि संगठनधर्मिता, रचना और रचनाकार के हित में नहीं होती। ऐसे लोग या तो संगठनों से परहेज करते हैं अथवा संगठनों में शामिल होकर भी उदासीन अथवा निष्क्रिय होते हैं। भारतेन्दु और उनके मंडल के तमाम लेखक इसके विपरीत संगठनों की अनिवार्यता पर जोर देते थे। लगभग हर रचनाकार ने अपने शहर में सांस्कृतिक-सामाजिक संगठनों का गठन किया और जागरूक सक्रियता का परिचय दिया। प्रेमघन जी ने वि.स. 1930 में 'सद्धर्मसभा' और वि.स. 1931 में 'रसिक समाज' नाम से दो साहित्यिक संगठन बनाए। इसके नियमित सदस्यों में पं. बद्रीनाथ गौड़, भगवानदास हालना, लक्ष्मीशंकर द्विवेदी, उमाशंकर द्विवेदी, परमानंद त्रिपाठी, प्रमथनाथ भट्टाचार्य, नागरी प्रचारिणी सभा काशी के संस्थापकों में एक पं. केदारनाथ पाठक, प्रयागदास रामायणी, 'मतवाला' के संपादक महादेव प्रसाद सेठ के बड़े भाई बैद्यनाथ सेठ, कैलाशनाथ सेठ, उनके चाचा श्री केदारनाथ सेठ और हिन्दी आलोचना के मेरुदंड आचार्य रामचन्द्र शुक्ल थे।

जैसा कि मैंने बताया कि प्रेमघन जी के परिवार की यजमानी दूर-दूर तक थी। वह अक्सर अपने पिता के साथ यात्राओं पर निकलते। इस कारण अवधी ब्रजभाषा, भोजपुरी, मगही, मैथिली, बघेलखंडी, बैसवाड़ी, बुंदेलखंडी और राजस्थानी यानी हिन्दी बोलियों के सघन संसर्ग में आए। इससे उनके गद्य में जातीय ताकत आई। भाषा मुहावरेदार हुई। उनके गद्य निर्माण में इस सुयोग की अद्‌भुत भूमिका रही। प्रेमघन जी बंगला साहित्य के भी रसिया थे। बंगला अच्छी बोल-पढ़ लेते थे। गुजराती-मराठी भी जानते-समझते। संस्कृत, पालि और प्राकृत

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

में पारंगत तो थे ही उर्दू, फारसी में कविता भी करते। अंग्रेजी जानते ही न थे बल्कि लिखते भी थे और इसके साहित्य का भी अध्ययन किया था। पृथ्वीराज रासो, सूर-तुलसी, कबीर, मीरा, केशव, बिहारी, रसखान, भूषण, मतिराम, घनानंद बैठे थे। सुनाने लगते तो रुकने का नाम न लेते। वेदांत सूत्र, शांकर, श्रीभाष्य से वेद, उपनिषद, पुराण, महाभारत, रामायण, कादम्बरी, कालिदास तक परायण कर चुके थे। संस्कृत वाङ्मय को छान मारा था। जो लोग आज जॉनसन और चेस्टरटन पढ़कर हिन्दी वालों को बेशर्म करने की अभद्र धृष्टताएं करते हैं, उन्हें भारतेन्दुयुगीन रचनाकारों को भी अवश्य पढ़ लेना चाहिए। इससे उनमें भाषा के प्रति ही नहीं, भारत के प्रति भी सुबुद्धि आएगी और कथन में विनम्रता। मेरा ख्याल है तब वे जॉनसन और चेस्टरटन को भी ज्यादा समझ-समझा सकेंगे। प्रेमघन जी ऐसी तैयारी के बाद हिन्दी लिख रहे थे जब हिन्दी थी ही नहीं। हिन्दी का जातीय गद्य जन्म ले रहा था।

भारतेन्दुयुगीन लेखकों में ध्यान देने की एक बात और है- वह है उनका अखंड स्वाभिमान। दादाभाई नोरोजी को भद्र ब्रिटिश संसद में शीलवान अंग्रेज सांसद लार्ड सालिसवारी ने 'काला' कह दिया था। हिन्दी के पत्रों ने कड़ी आपत्ति की। प्रेमघन ने लिखा—

कारन ही के कारन गोरन लहन बड़ाई।
कारन ही के कारण गोरन लहि प्रभुताई।
अचरज होत तुमहूं सन गोरे बाजत कारे।
ता सो कारे कारे शब्दहुं पर हैं बारे।
यहै असीस देत तुम कहं मिलि हम सब कारे।
सफल होहिं मन के संकल्प तुम्हारे॥

हिन्दी गद्य को जन्म चापलूसों ने नहीं, स्वाभिमानियों ने दिया। उनकी राजभक्ति सहानुभूति से नहीं, आलोचनात्मक ही देखनी चाहिए। लेकिन यह मानकर चलना चाहिए कि उन्हें लेखन में कितने विद्रोही होने की तत्कालीन गुंजाइश थी ? वह भी ऐसी भाषा में जो अपने पांवों खड़ी भी नहीं हो पाई थी। क्या उनकी राजभक्ति उनकी देशभक्ति को कलंकित करने वाली ही थी ?

प्रेमघन जी ने लिखा है— वह मनुष्य कहिबे के योग न कबहुं नीच नर।
जन्मभूमि निज नेह नाहि जाके उर अंतर॥

प्रेमघन जी ही नहीं, भारतेन्दु युग के हर रचनाकार के लेखन में विपुल विविधताएं हैं। यह सच है और स्वाभाविक भी कि इनके संपूर्ण लेखन का काफी हिस्सा अब अप्रासंगिक है। लेकिन इस आधार पर उनके सर्वोत्तम और जरूरी हिस्से की उपेक्षा भी हरगिज उचित नहीं होगी।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
हिन्दी नवजागरण की एक अनिवार्य और सशक्त मांग थी भाषा की, भारतीय भाषाओं के वर्चस्व के सवाल की। भारतेन्दु सहित प्रेमघन जी ने भी हिन्दी भाषा को रचने में योग दिया। पूरी तर्क-ताकत से इसकी लड़ाई लड़ी। भाषा के प्रति उनका अनमोल दाह इतना सघन है कि पढ़कर रोमांच हो आए। हिन्दी भाषा को लेकर उनके लिखे लेखों में अचंभित कर देनें वाली पक्षधरता है। भाषा के प्रति उनकी यह आस्था भावनात्मक ही नहीं, सुविचारित भी है जो आज भी उतनी ही प्रासंगिक है। हिन्दूपन से ज्यादा बिदकने की जरूरत नहीं बल्कि विचार करने की है वहां सांप्रदायिकता का जोर नहीं है। समय का एक अपना पिछड़ापन और प्रभाव होता है। तब उर्दू, फारसी में लिखने वाला, मराठी, गुजराती, बंगला, संस्कृत और अंग्रेजी पढ़ने-लिखने वाला लेखक, अपने समय में दूसरों की तुलना में आखिर कितना सांप्रदायिक होगा ? तब मार्क्सवादी विचारधारा का प्रसार नहीं हुआ था। सांप्रदायिक दंगों का सिलसिला न था। लोगों में गहरी धार्मिक आस्था थी। धर्म सांस्कृतिक जीवन की अभिव्यक्तियों का लगभग अकेला माध्यम था। ऐसे में विचार करते समय हम अपने समय की प्रगतिशीलता को सामने रखते हैं। ध्यान रहे, अगर खुद हम अपनी प्रगतिशीलता का मिलान करें, तो शायद नतीजा उतना क्रांतिकारी न निकले जैसा हम बिना यह सब समझे दूसरों से अपेक्षा करते हैं। भारतेन्दु युग में जितनी प्रगतिशीलता थी, उसका स्वाभाविक और सच्चा विकास तो यहां तक होना ही चाहिए था कि हिन्दी के तमाम आधुनिक लेखक जाति, धर्म, भाषा, संप्रदाय की संकीर्णता से ऊपर उठ चुके होते। लेकिन ऐसा है नहीं क्योंकि आधुनिकता का ज्यादातर आयात ही हुआ। विचार, व्यवहार और संवेदना के स्तर पर आधुनिकता एकाकार नहीं हुई। इसके बावजूद उस युग की प्रतिकूल या प्रतिगामी सामग्री का भी समर्थन अनुचित ही है। महत्त्वपूर्ण यह है कि भाषा के सवाल को शताब्दी पहले उठाने और नवजागरण के मुख्य मुद्दा बनने के बावजूद, स्थिति में अपेक्षित अंतर नहीं आया। इस आसंग में प्रेमघन जी का भाषा संबंधी मुद्दा अब भी महत्त्वपूर्ण है।

प्रेमघन जी की एक संपादकीय टिप्पणी है— 'समाचार पत्र व अखबार किसे कहते हैं ?' उन्होंने अखबार को आजकल का 'कल्पद्रुम' बताया। उनमें नई रोशनी की आकुल ललक थी। वह देशवासियों को बताते हैं कि अखबारों से हमें पता चलता है कि अमेरिका ने कौन-सी नई मशीन बनाई, यूरोप कैसे उन्नति कर रहा है ? लंदन-फ्रांस की रौनक क्या है ? वह यहां यह भी जोड़ते हैं कि अयोध्या और इन्द्रप्रस्थ क्यों 'उजाड़' हैं ? अंग्रेज कैसे विद्वान् और साहसी हैं तथा हम 'मूर्ख ?', आलसी और कायर! हम लोगों को चुल्लू भर पानी में डूब मरना

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

चाहिए, या मूंछ पर ताव देना चाहिए, चोली, कुर्ती, ओढ़नी ओढ़ पर्दानशीं होना चाहिए अथवा निर्लज्ज हो, कोट, पतलून धारण कर मिथ्या अंग्रेज बन मिस्टर कहलाना चाहिए— इन बातों को एक जिह्वा से कह करोड़ों कानों में पहुंचा देना इसी का काम है। यह वह सैरबीन है जो घर बैठे सारे संसार की सैर कराती है, और यह वह नाट्यशाला है जो देश के प्रत्येक दशा का दृश्य दिखा, योग्य-अयोग्य कार्य और कर्त्तव्य कथा के प्रबंध का तमाशा दिखाती है।' उद्‍बोधन उत्तेजन के साथ अखबारों के महत्त्व की चर्चा प्रेमघन जी के समय में सचेत सक्रियता के प्रमाण हैं। देश को आधुनिक और देशी बनाने के उद्योग में प्रेमघन जी ने अंत में अखबारों के वास्तविक कर्त्तव्य का सहज ही मापदंड भी रख दिया है।

'नागरी भाषा' नाम से उनका अपेक्षाकृत एक बड़ा आलेख है जिसमें उन्होंने हिन्दी के उदय से मची खलबली का जायका लिया है। तब हिन्दी अपने नाम के अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही थी। हिन्दी के संघर्ष की अनवरत यात्रा का यह प्रारंभिक पड़ाव हमें गहरे उद्वेलित भी करता है। इस दृष्टि से यह लेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए प्रेमघन जी के पास पांव रोपने की गुंजाइश नहीं थी। तब भी उन्होंने पाए जुड़ाने की सहूलियत नहीं तलाशी। उन्होंने पांव रचने का ही उद्योग किया। 'हिन्द, हिन्दू और हिन्दी' इसी विषय पर तीसरा लेख है। इसमें हिन्दूपन की गंध है। यह नि:संदेह प्रेमघन जी की सोच को सीमित सिद्ध करता है, लेकिन भाषा के प्रति उनके विचारों का महत्त्व यहां भी है। 'उस देश की भाषा की उन्नति नहीं, तब तक उस जाति की उन्नति कैसे मानी जाएगी?' वह खुद प्रश्न पूछते हैं— 'भारत अब उन्नति कर रहा है'— नहीं, नहीं और कदापि नहीं। वह तो कहता है कि 'अजी ओस चाटने से कहीं प्यास बुझती है।' दरअसल यह प्यास काफी गहरी थी। यह देश और भाषा की मुक्ति के पहले बुझने वाली थी ही नहीं। उनका चौथा लेख 'हमारी प्यारी हिन्दी' है। इसके शीर्षक में ही भाषा-प्रेम का पुट है। दरअसल भारतेन्दु युग हिन्दी के जन्मदाताओं का युग था, स्वभावत: उसमें भाषा-प्रेम का उत्कट रूप मिलेगा। भाषा-प्रेम और उसके संघर्ष में शहादत देने वालों की परम्परा हिन्दी में लंबी रही है। इस आलेख में उन्होंने हिन्दी की बोलियों के संबंध पर संक्षिप्त टिप्पणी की है। हिन्दी के व्यापक आधार को स्थापित करने के लिए उसकी बोलियों को समेटने पर बल दिया है। पांचवां लेख हमारे देश की भाषा और अक्षर में उन्होंने अंग्रेजी हुकूमत द्वारा हिन्दी की न्यायालय और विश्वविद्यालय में उपेक्षा पर रोशनी डाली है। लिखते हैं— 'ब्रिटिश साम्राज्य में अन्य देशों की अपेक्षा भारत में यद्यपि उदारता न्यून है, परन्तु भारत के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भी भिन्न-भिन्न भागों से अभागे पश्चिमोत्तर प्रदेश में उदारता के स्थान पर संकीर्णता प्रचलित है, क्योंकि यहां जो अनुशासक आते ही प्राय: चुने चुनाए, ऐसे कि जैसे अभागे के लिए आवश्यक है।' दरअसल अंग्रेजी हुकूमत की असल चिंता हिन्दी प्रदेश ही था जिसके उठ खड़े होने पर पूरे देश में उनका टिकना असंभव था। तीखे लगातार और व्यापक विरोध के कारण अपेक्षाकृत अन्य प्रांतों की तुलना में, इसकी उपेक्षा अधिक रही। प्रजा अपने हिताहित का ध्यान नहीं रखती और परस्पर द्वेष की जड़ें गहरी हो रहीं— यह पीड़ा प्रेमघन जी को सालती है। वह इसे उन्नति के बाधक कारकों में प्रमुख मानते हैं। उन्होंने इस लेख में बताया है कि किस तरह पुलिस की रिपोर्ट और दस्तावेजों को अरबी या फारसी में जानबूझ कर दिया गया, गूढ़ शब्दों के प्रयोग से छोटे अधिकारी सत्य का गला घोंट बड़े अधिकारियों को धोखे में रखते हैं। इसकी तुलना आज शासन में अंग्रेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के प्रयोग के साथ रखकर की जा सकती है। प्रेमघन जी इस बात का प्रबल समर्थन करते हैं कि शासन में अगर जनता की भाषा का प्रयोग नहीं होगा तो उसका परिणाम निश्चित रूप से जनता को बरगलाने, ठगने अथवा शोषण करने के लिए होगा। इस आंदोलन को उठाने में आलस्य करने के लिए वे कोसते हैं और प्रार्थनापत्र देने, आवेदन करने, मांग रखने, अपनी बात मनवाने के लिए हिन्दी भाषी जनता को सचेत करते हैं। लिखते हैं— 'यह जानना चाहिए कि यह तभी संभव है जब देश के मुख्य अग्रसर और हिन्दी हितैषी जन इस पर बद्ध परिकर हो अपना द्रव्य और समय व्यय कर तथा कुछ कष्ट सहन करना स्वीकार करेंगे और यथार्थ रीति से इसके लिए तत्पर होंगे। निदान अब सच्चे हिन्दी हितैषियों को अपनी मातृभाषा की भक्ति दिखाने का बहुत अच्छा अवसर हाथ लगा है, जिसे उन्हें कदापि न खोना चाहिए।'

तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन कलकत्ता के सभापति पद से दिया गया प्रेमघन का व्याख्यान 'भारतीय नागरी भाषा' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पचास से भी अधिक पृष्ठों का यह विस्तृत भाषण इतना गहन और विद्वतापूर्ण है कि इसकी संक्षिप्त चर्चा संभव नहीं। प्रेमघन जी ने अपना व्याख्यान भाषा उत्पत्ति के भारतीय दार्शनिक स्रोतों से शुरू किया है। वह आगे बताते हैं कि किस तरह पाश्चात्य विद्वान भारत के बारे में ज्ञान के क्षेत्र में गहरी दिलचस्पी ले रहे हैं, वे विद्वान मनमाने निष्कर्षों से गलत मूल्यांकन कर रहे हैं। वे चिंतन के आत्म-गौरव की जमीन पर खड़े होकर बड़े आत्मविश्वास से इस बात पर आपत्ति करते हैं कि जब तक पाश्चात्य विद्वान किसी चीज को प्रामाणिक नहीं मानते तब तक हमारे यहां भी यह प्रामाणिक नहीं मानी जाती। अंग्रेजी में लिखे को आंख मूंदकर विश्वास

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

करने वाले बुद्धिजीवियों को यह बात याद रखनी चाहिए कि उनकी परख हिन्दी में प्रारंभ से ही होती आई है। उनके अंध समर्थन और लगातार ऐसी सामग्री के आने से प्रेमघन जी वाजिब भय भी कर रहे हैं कि कहीं ये भ्रम पैदा करने वाली गलत या नाकाफी स्थापनाएं सिद्धांत रूप में सही न मान ली जाएं। ऐसा हुआ भी।

प्रेमघन जी का यह व्याख्यान अत्यन्त गंभीर और सारगर्भित है। इसमें उन्होंने वैदिक संस्कृत, प्राकृत से लेकर लोकभाषाओं तक हिन्दी के संबंधों का गहन विवेचन किया है और हिन्दी भाषा के जनाधार को सत्यापित भी। ऐसा करते हुए वह तमाम प्राचीन और समकालीन भारतीय, गैर भारतीय विद्वानों के प्रमाण भी देते हैं। शाब्दिक स्तर पर हिन्दी के संस्कृत और जनस्रोतों को दिखाते हैं। यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि वह हिन्दी का मूल आधार जनबोलियों को बताते हैं- संस्कृत को नहीं। इसे आगे आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने सिद्ध किया और डॉ. रामविलास शर्मा ने इस तथ्य की विस्तृत विवेचना की। इस व्याख्यान का एक महत्त्वपूर्ण अंश वह है, जहां वह मुगलकाल में भाषा का विवेचन करते हैं। इसके समानांतर आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और भारतेन्दु को समेटते हुए वह हिन्दी कविता के उत्कर्ष का बहुविध आकलन करते हैं जो उनकी परख, पहचान, बोध और आलोचनात्मक विश्लेषण की क्षमता का प्रमाण है। प्रमाणों और उसके बारीक विश्लेषण को देखकर उनकी मेधा और अध्ययन क्षमता चकित कर देती है। भाषा और काव्य-मर्मज्ञता प्रकट होती है। यहां उनके लोकवादी रुझान में आगे आने वाली आधुनिकता के पदचाप भी सुनाई पड़ते हैं। छायावाद के आदिस्रोतों के सूत्रों की तलाश अगर यहां हो तो निःसंदेह सार्थक निष्कर्ष निकल सकते हैं। शोधार्थी आलोचकों को इस दिशा में गंभीर कार्य करने चाहिए। आज कविता की जनभाषा को लेकर जो केन्द्रीय जोर दिया जा रहा है इसका सबल समर्थन प्रेमघन जी ने काफी पहले किया था।

कविता में बोलचाल की भाषा का आना बहुत बड़ा गुण है। पर उनकी कविता या तो संस्कृत सी पढ़ी जाती या उर्दू सी सुनी जाती है। जिसका प्रधान कारण यह है कि वह अधिकांश या तो संस्कृत के छंद या उर्दू-फारसी के छंदों में ही अपनी कविता करते हैं। क्या हमारी भाषा के इतने छंदों में से कोई भी उनके काम का नहीं है? वह आगे भाषा की भद्रता पर चोट करते हैं और जनभाषा के शब्द, पद और मुहावरे लाने का समर्थन करते हैं। जनता से जुड़ने में जन प्रचलित छंद या अन्य काव्य उपकरणों पर जोर देना प्रगतिवादियों और जनवादियों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है।

राष्ट्रभाषा के सवाल पर वह संस्कृत, प्राकृत के इतिहास सापेक्ष में चर्चा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

करते हुए, हिन्दी के निरादर पर कठोर टिप्पणी करते हैं। इसके बहुमूल्य रत्नागारों की अवहेलना करते लोगों को कहते हैं कि 'वे बहुत ही बेतरह बहक रहे हैं। इसका निरादर कर वे पीछे पछताएंगे और उसी चने को खाएंगे।' हिन्दी-उर्दू की प्रारंभिक पृष्ठभूमि का उन्होंने जैसा विवेचन किया है, उसकी प्रासंगिकता आज और भी है। वे सरल उर्दू शब्दों के मेल से भाषा को सहज और सुबोंध बनाकर जनप्रिय बनाने की जोरदार वकालत करते हैं। उर्दू-हिन्दी अभेद की चर्चा इस आलेख की महत्त्वपूर्ण बातों में है। वह भारतेन्दु का एक उद्धरण रखकर अपनी बात का अतिरिक्त अनुमोदन भी कराते हैं। भारतेन्दु का समर्थन उनके मंडल के तमाम रचनाकारों के लिए आखिरी कसौटी होती थी। हिन्दी भाषा के अधिकार और प्रसार के लिए ठोस आंदोलन पर बल देते हुए वह उद्यमशील होने का संदेश देते हैं। हिन्दी के विनाश और उपेक्षा का मर्म जगह-जगह उभर कर आया है। हिन्दी जिस देश की भाषा है, हमारी सरकार से वहां की एक दूसरी ही भाषा और वर्णावली स्वीकार की जाती है। अपनी ही एक कविता पंक्ति उद्धृत करते हैं—

'बहु दिवसन तैं राज सभा सों रही निकारी।'

यह कटु सत्य इन आत्माओं के लिए शताब्दी बाद भी मार्मिक विडंबना बनकर कायम है। अपने भरोसे चाहे जितनी लतरें फलें, साम्राज्यवादी सांस्कृतिक उपनिवेश से हिन्दी अभी तक वास्तविक आजादी नहीं पा सकी है। अब तो देश के मध्य वर्ग का भी धीरज जवाब दे चुका है। भाषा के मसान पर भारतेन्दुयुगीन लेखकों की आत्माएं भटकती, एकान्त रुदन को आज भी विवश हैं।

हिन्दी नवजागरण का एक स्वर नारी मुक्ति आंदोलन का भी रहा है। प्रेमघन सामंत थे और सामंती प्रवृत्ति पिछड़ेपन और जड़ता की स्रोत भी रही है। नारी शोषण का कलंक इससे अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। प्रेमघन जी का एक आलेख है— 'विधवा विपत्ति वर्षा'। इसमें सामाजिक पिछड़ेपन और नारी दशा का विवेचन करते हुए वह कुरीतियों की गहरी पड़ताल बहुत ही गंभीरता और विस्तार से करते हैं। बाल विवाह का निषेध, प्रेम विवाह और विधवा विवाह का शास्त्र सम्मत समर्थन, इस लेख का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। वैसे विधवा विवाह के पक्ष में पूरे भारतेन्दु युग में सबसे जोरदार और धारदार लेखन का श्रेय राधाचरण गोस्वामी को जाता है। गोस्वामी जी के लेखन का यह सबसे मुखर पक्ष रहा है और वह इस आसंग में आंदोलन की हदों तक सक्रिय रहे।

हिन्दी नवजागरण का वैचारिक आधार जिन अवधारणाओं पर खड़ा हुआ उनमें स्वदेशी की धारणा प्रमुख थी। ध्यातव्य हो कि महात्मा गांधी के राजनीति में आने के कई दशकों पूर्व ही, भारतेन्दु और उनके युग के अन्य रचनाकारों ने

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

स्वदेशी के विचारों को मुखर किया। प्रेमघन जी की राजनीतिक जागरूकता के प्रमाण में उनका स्वदेशी वस्तु स्वीकार और विदेशीय बहिष्कार एक प्रमुख लेख है। लेख का प्रारंभ होता है— जब हम विशेष ध्यान से देखते हैं, तब एक प्रकार का सारा भारतवर्ष ही बदला सा दिखाई पड़ता है। प्रेमघन जी देश के परिवर्तनों की देखते ही नहीं बल्कि उस पर गंभीरता से विचार भी करते हैं। इस सोचं के पीछे उनका गहरा देश-राग है जिसके भीतर दमित भारत के लिए मार्मिक पीड़ा का एहसास दिखाई पड़ता है। उन्हें 'विशुद्ध भारत' मुगलों के पूर्व लगा। मुगलों के आने से 'चार आना' कमा, लेकिन 'जब से इंडिया कहलाया इसने अपना सब कुछ गंवाया और कदाचित अब उसे आना, आध आना कह देने में भी कुछ भी विशेष संकोच नहीं होता।' वह आगे इसके कारणों पर विचार करते हुए बताते हैं कि शिक्षा-दीक्षा विदेशी, विद्या-बुद्धि विदेशी, मति-गति विदेशी, रीति-नीति और प्रीति विदेशी, चाल-ढाल और माल-ताल भी विदेशी, खान-पान विदेशी, व्यायाम विश्राम और नाम तथा काम सब विदेशी— विदेशी की ही भरमार है। चारों ओर वही नजर आता है। प्रेमघन जी विदेशी उपस्थिति गिनाने से पार नहीं पा सकते। रग-रेशे में समा गया है विदेशीपन। आज के अनेक आधुनिकतावादी इस अवधारणा को पिछड़ेपन से जोड़ सकते हैं। मगर एक गुलाम देश में अपनी पहचान का मतलब बहुत बड़ा होता है। प्रेमघन जी कहते हैं— 'स्वदेशी वस्तुएं प्रात:कालीन दीपशिक्षा से स्वल्पायु हो रही हैं।' नवजागरण और जातीय चेतना की अवधारणा के ये मजबूत आधार हैं। ऐसे आधार भारतेन्दुयुगीन साहित्य में भरे पड़े हैं। बेशक पिछड़ी और प्रतिगामी प्रवृत्तियों की मौजूदगी भी मिलती है जो उस युग और रचनाकार के अंतर्विरोधों की पहचान कराती है। रामविलास जी ने भी इसकी अनदेखी की है लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि रामविलास जी के विरोध में नवजागरण को ही नकार दिया जाए अथवा तमाम प्रगतिशील प्रवृत्तियों को भी प्रतिगामी सिद्ध किया ही जाए। ऐसी उद्दंडता उचित नहीं। सबसे पहली दिक्कत तो यह है कि इस युग की विपुल सामग्री तो अभी भी ओट में है— कम से कम बिना पड़ताल किए पूरे युग पर एकांगी टिप्पणी करना एक जरूरी और शानदार अतीत की रचनात्मकता का अपमान है। परम्परा से चयन हमेशा अपने समय की समझ पर खड़े होकर ही किया जा सकता है। आज जब अतीत होगा तो इसका भी अधिकांश अप्रासंगिक और अवांछनीय हो जाएगा। इसलिए आधुनिकता और प्रगतिशीलता जितनी सही, ठोस और वैज्ञानिक होगी, परम्परा से उसका चयन उतना ही उपयुक्त और सही होगा। जिस तरह पूरी उपेक्षा कर देने वाले गलत हैं, उसी तरह सब कुछ लाद ले चलने वाले भी। संग्रह और त्याग की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अवधारणा समय की जरूरत पर निर्भर होती है। यह जरूरत उसके विकास और प्रगति के आधार और उसकी दिशा से तय होती है।

प्रेमघन जी सामंती सुविधाओं में थे और उनके संपर्क उच्च तबके तक थे। उनके चरित्र की परख वह ठोस भौतिकता और उससे दिखाई पड़ती मानसिकता को लेकर करते हैं। उच्च वर्ग के घरों में विदेशी वस्तुओं की भरमार ही नहीं दिखाते, वह ज्यादा गहरे और बारीक विश्लेषण पर उतरते हैं। वह बताते हैं कि ये वस्तुएं यूरोप की बनी होती हैं— कदाचित ही इनमें एशियाई वस्तुएं भी हों। यह विवेचन उन्होंने अनायास किया होगा, ऐसी बात नहीं। इसके पीछे लगातार सोचने-विचारने का सिलसिला था। ठेठ जातीय अवधारणा थी कि पड़ोसी देशों का संबंध, उनसे निकटता ज्यादा जरूरी है। वह आगे भारतीय उद्योगों वाले शहरों को वर्णन सहित बताते हैं और पूछते हैं कि क्या दुर्लभता संदिग्ध है? ऐसी उपनिवेशवादी गुलामी पर वह तीखा व्यंग्य भी करते हैं— 'वह अब साहेब लोग बनने की लालसा में मर रहे हैं।'

भारतीय उद्योगों को ध्वस्त कर अंग्रेजों ने भारतीय जीवन को काफी पीछे कर दिया था। इसका एहसास प्रेमघन जी को बखूबी था। वह इस पर विस्तार से लगातार विचारते हैं। इस बात पर जोर देते हैं कि 'आवश्यक नवीनता के निर्माण' का 'यत्न करना चाहिए।' वह स्वदेश के प्रति लोगों की जागरूकता के लिए कोशिश करते हैं। इस बात पर जोर देते हैं कि भद्दे, घटिया और महंगे होने पर भी लभ्य देशी चीजों को ही अपनाया जाए। उन्होंने देशी चीजों के नाम गिनाते हुए उनके प्रति गहन प्रेम और लगाव प्रदर्शित किया है। यह प्रेम और लगाव उनकी देशभक्ति और भावनात्मकता के प्रमाण हैं। अंग्रेजों ने किस तरह भारत में उद्योगों का विनाश किया, लोगों को बेरोजगार किया— इस पर प्रेमघन जी ने बार-बार विचार किया है।

'विदेशी व्यापारियों ने भी लूट का डंका बजा ऐसा इस देश के व्यापार का सत्यानाश किया कि जिन घरों में व्यापार करने की परिपाटी चली आ रही थी, अब वे घूमते-चिल्लाते चार पैसे की मजदूरी ढूंढ रहे हैं। विलायती व्यापारियों ने जैसी दीन दशा इस देश की की, और किसी प्रकार हो ही नहीं सकती थी। जो प्राचीन नगर व्यापार में विख्यात थे, अब वहां खंडहरों का दृश्य विदेशी व्यापारियों की निर्दयता को सूचित कर रहा है।'

ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने जो भीषण संहार किया, वह और किसी प्रकार संभव नहीं था। उसकी निर्ममता के गवाह में पूरे देश का रौंदा गया उद्योग है। आखिरी वाक्य में प्रेमघन जी का आक्रोश, देशभक्ति और करुणा एक साथ व्यक्त

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हुई है। प्रेमघन जी इस घड़ी में विवश हैं लेकिन हताश नहीं। वह इसके उपायों पर गौर करते हुए बताते हैं कि बिना 'समाजबद्ध' व्यापार की वृद्धि, देशी वस्तुओं का संग्रह, विदेशी का बहिष्कार संभव नहीं है। वह लोगों में इसकी चेतना भरना चाहते थे।

'भारतवर्ष के 25 करोड़वासियों में कोई भी ऐसा न होगा जो विलायती कपड़ा न पहनता हो और दूसरी आवश्यक सामग्री को इन्हीं विलायतियों के घर की बनी न लेता हो। जब आवश्यक शारीरिक वस्त्र को हमें परदेशियों से लेना पड़ता है, तब धन का रहना कैसे संभव है, निदान व्यापार का नाश हो जाना ही देश की दरिद्रता का मुख्य कारण है।' ध्यान देने की बात है कि प्रेमघन जी ने साम्राज्यवादी शोषण के मूल कारक पर ही अंगुली रखी है। वह समस्या की वास्तविकता को अच्छी तरह पहचान चुके हैं। साम्राज्यवादी व्यापार का आधार दलाल पूंजी भी होता है। वह शोषण में सहायता करता है। तथ्यों के सही विश्लेषण में किस तरह प्रेमघन जी बिना मार्क्सवाद समझे भी यथार्थ का विवेचन कर लेते हैं। लिखते हैं—

'नाम मात्र का एक व्यापार करते हैं जिन्हें हम व्यापारी न कहकर दलाल कहेंगे क्योंकि वे विलायती वस्तुओं के बेचने के बिचवई हैं, यद्यपि किसी प्रकार इनकी जीविका चली जाती है, तथापि इस देश के धन की वृद्धि दलाली से नहीं हो सकती। इन दलालों की एक बड़ी भूमिका रही है— अंग्रेज व्यापारियों के पांव जमाने की और देश के उद्योगों को नष्ट करने की। हमारे देश का सारा श्रम बंधक हो गया, बेकार हो गया।'

'हमारे देश का हाथ विलायत की कलों (मशीनों) ने बांध रखा है। हमारी मूर्खता ही ने सब ओर से हमें लाचार कर बेकार बना दिया है। हम कभी इस दशा में उनकी बराबरी नहीं करते, इससे हमें 'समाजबद्ध' हो अपने व्यवसाय को बढ़ाना होगा।' समाजबद्ध होना यानी एकता। एकता पर वह बराबर बल देते हैं। स्वदेशी विचार, चेतना और आंदोलन से वह उत्साहित होते हैं। इसकी पहली आहट ही मानो सूखे खेत में पानी का आना हो। 'स्वदेशी आंदोलन ने हमारे देश के कारीगरों को उन्निद्रत कर उन्हें मरते-मरते बचाया है। हाथ पर हाथ धरे ऊंघते, अपने माल की खपत न देख अपने प्रारब्ध पर खीझने, न जाने कितने रोजगारियों के मुरझाए गालों पर अब सुर्खी आ गई है।' स्वदेशी आंदोलन से दम तोड़ते राष्ट्रीय रोजगारों को नया जीवन मिलता है। भावी भारतीय महासम्मेलन में कांग्रेस अधिवेशनों में स्वदेशी प्रदर्शनी और इस पर विचार सम्मेलन होते थे। इसके प्रति अपना उत्साह प्रकट करते प्रेमघन जी ने लिखा है—

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

'केवल कुछ विदेशियों की आंखों से अश्रुधारा चलेगी, क्योंकि वे अपने नाश की सूचना इस प्रदर्शनी में देखेंगे। जिनके कानों को 'वन्देमातरम्' शब्द कराल कुठार था, वह सब इस देश के कौशल के अपार भण्डार और व्यवसाय की चमत्कार विभूति को कैसे देख सकेंगे? स्वदेशी महत्ता पर लिखते हुए वह विशेष जोर देते हैं। वह मानते हैं कि स्वदेशी लोगों के जीवन-मरण का प्रश्न है इसलिए इसके विकास की धारा बाधित नहीं की जा सकती। वह लिखते हैं कि 'स्वदेशी की रुकावट उनकी शक्ति से परे है। इसमें हमारा कल्याण है, जीविका है, स्थिति है। सर्वग्रसी दुर्भिक्ष से बचने का यही एक उपाय है। मोह-निद्रा और आलस्य में सोते भारत को जगाने की यही एक तीखी, गुणकारी और नीतिबद्ध अद्वितीय सुंघनी व नस्य है। अतएव आशा है कि भारत के सच्चे हितैषी व्यापारी कभी इस सुअवसर को हाथ से जाने न देंगे और यथाशक्ति वे इस प्रदर्शनी में अपने प्रांत की बनी वस्तुओं को भेजते हुए उसके सुसंपन्न करने में कोई कसर न रखेंगे।'

प्रेमघन जी स्वदेशी को तीखी गुणकारी और नीतिबद्ध कह रहे हैं तो वस्तुतः आने वाले दिनों में महात्मा गांधी के नेतृत्व में हुए स्वदेशी आंदोलन की सफलता को सुनिश्चित बता रहे हैं। गांधी जी के कठोर से कठोर मार्क्सवादी आलोचक भी स्वदेशी आंदोलन के महत्त्व की अनदेखी नहीं करते।

हिन्दी नवजागरण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्वर सांप्रदायिकता विरोध का रहा है। यह उसकी मूल अवधारणा का अनिवार्य हिस्सा है। जिन विद्वानों (?) को भारतेन्दु युग के साहित्य में कट्टर सांप्रदायिकता दिखाई पड़ती हो, उन्हें प्रेमघन जी के नीचे दिए उद्धरणों पर गौर से विचार करना चाहिए। देखना चाहिए कि उनकी दृष्टि किस तरह मूल कारण पर पड़ती है—

'हिन्दू और मुसलमान एक तीसरे भिन्न धर्मी राजा की प्रजा हैं। देश की समस्त प्रजा की प्रकार ही में देश का ईष्ट साधन होता है। परन्तु अब एक राजा ही एक जातीय प्रजा के स्थान पर, दो जाति की प्रजा होने से दोनों के परस्पर विवाद और विद्वेष के कारण प्रजा की शक्ति अत्यन्त निर्बल है। इसी से प्रजा के सुशिक्षित शुभचिंतक अग्रगण्यों को अब दोनों में विशेष एकता उत्पन्न करने के बिना देश की हीन दशा दूर होने की आशा नहीं है।'

देश के शुभचिंतक बुद्धिजीवी जब तक हिन्दू-मुसलमानों के बीच एकता कायम नहीं करेंगे— देश की दुर्दशा समाप्त नहीं होगी। ये विचार काफी पहले हिन्दी नवजागरण की धुरी बने थे। इनका महत्त्व आज भी उतना ही है। अगर सन् 1857 के स्वाधीनता संग्राम के पर्चों, दस्तावेजों से मिलान कर देखें तो स्पष्ट हो

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जाएगा कि अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध हिन्दू-मुसलमान की एकता पर बल देने का स्वर भारतेन्दु युग में स्पष्ट सुनाई पड़ता है। मैंने ऊपर के उद्धरण को संदर्भच्युत करके नहीं रखा है। प्रेमघन जी ने इस आलोक में काफी विस्तार से विचार किया है और बताया है कि अंग्रेजी राज्य के प्रारंभ पूर्व दोनों के बीच बंधुभाव कायम था।

'मुसलमान यह समझते थे कि अब यही हमारा देश है, यहां के सभी निवासी हमारे भाई हैं। इन्हीं से मिलकर रहने में हमें सब प्रकार का सुख और सहायता मिल सकती है, एवं विरोध के विरुद्ध फल मिलेगा और केवल धार्मिक विभेद के अतिरिक्त और किसी प्रकार की हम लोगों में भिन्नता भी नहीं है। सदैव यूरोपियनों के साथ भारतीयों का फिर कोई कारण ऐसा न रहा कि जो धार्मिक उत्सवों को छोड़ हिन्दुओं से विवाद का हेतु हो। इसी से दोनों में इतना स्नेह बढ़ गया कि जैसा ठीक परस्पर अपने समान धर्मियों से था। नित्य नैमित्रिक व्यवहार में दोनों दूध और पानी से मिल चले थे।'

प्रेमघन जी बताते हैं कि किस तरह होली और मुहर्रम में दोनों एक-दूसरे से खुशियां बांटते, शादी-विवाह में शरीक होते। वह कहते हैं कि जिस तरह बौद्ध, जैनी व वैष्णव और शाक्त रहे उसी तरह हिन्दू और मुसलमान हैं। इसे बाधित करने वाली असल शक्ति ब्रिटिश हुकूमत है। लिखते हैं— 'परन्तु प्रजा में ऐसा एकाएक तीसरे भिन्न धर्मी विदेशी राजा के अपने कूटनीति विशारद प्रधान, राज कर्मचारियों की दृष्टि में अपनी स्वेच्छापूर्ण शासन में कदाचित कुछ बाधक प्रतीत होने लगी। अंग्रेजी में एक कहावत है कि 'फूट उपजाओ और शासन करो।'

मैं नहीं समझता कि इससे बेहतर पहचान तत्कालीन किसी राजनेता अथवा अंग्रेजी पत्रकारिता ने रखी होगी। लेकिन उस काल पर विचार करने वाले चिंतकों में अंग्रेजी तथ्यों के आधार पर उस युग के विचारों को संकीर्ण सिद्ध करने की होड़ करता है। अंग्रेजी के जोम में हिन्दी के चिंतक को विचारणीय माना ही नहीं जा सकता। हिन्दी में जो श्रेष्ठ है वह अंग्रेजी की नकल मात्र है। अतः उसकी उपेक्षा सही है। मेरा पक्का विश्वास है कि सन् 1857 से सन् 1947 के बीच का भारतीय नवजागरण में लिखा गया संपूर्ण भारतीय भाषाओं का लेखन यहां तक कि लोकभाषाओं का लेखन भी चयनित-संपादित होकर उन पर विचार-विवेचन और विनिमय किया जाए, तभी भारत के आधुनिक चिंतन का स्वरूप निखर कर सामने आ सकता है। सांप्रदायिक कूटनीति को प्रेमघन जी अच्छी तरह समझ रहे थे और हिन्दू-मुसलमानों की एकता के महत्त्व को रेखांकित कर रहे थे— उस पर विशेष बल दे रहे थे।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh. Funding by IKS-MoE 2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पश्चिम के अंधानुकरण की समस्या प्रारंभ से ही रही है। अब इसको उस रूप में वापस नहीं किया जा सकता लेकिन इनकी अंतहीन और निर्बाध प्रक्रिया को अगर बदला नहीं गया तो संभव है भारत की सांस्कृतिक मानसिकता हमेशा के लिए पश्चिमी औपनिवेशिक संस्कृति की गिरफ्त में आ जाए। दूसरी ओर इसकी प्रतिक्रिया में अत्यन्त संकीर्ण पुरातनपंथी खड़े हो जाएं। इसके प्रमाण आज पर्याप्त मिल रहे हैं। पूंजीवादी और साम्राज्यवादी ताकतें इसमें लगातार सफल भी हो रही हैं। प्रेमघन जी ने इस पर टिप्पणी की है—

'आज सभी हिन्दुस्तान निवासी चाहे वे आर्य सन्तान हों वा मुसलमान, हिन्दुस्तानी कहलाते लजाते, सफेद साहब बनने की लालसा से अपनी पुरानी चाल-चलन को छोड़ने और दूसरों को ग्रहण करने में कुछ भी संकोच नहीं करते। उन्हें दूसरों के अच्छे-बुरे की कुछ भी तमीज नहीं, उन्हें तो सीधा आंख मूंद वही करना भाता जो आज श्वेतांग लोग करते हैं।' वे आगे अंग्रेजियत की मानसिकता पर सीधी चोट करते हुए लिखते हैं— 'आज सभी हिन्दुस्तानी अपनी आंखों पर भांति-भांति के चश्मों (ऐनक) की ढोके लगाए, मानो ऊपरी आंखों के साथ हिय की भी गंवाए अंधे बन बेतकल्लुफ घोड़े और बछड़े बने उसी दिन समान डबलजीन और गर्मी में भी फलालीन की पोशाक में कसे कसाए चारों ओर कूदते-फांदते नजर आते हैं।'

अंग्रेज शासक और पश्चिमी सभ्यता का यह अनुकरण अनेक स्तरों पर घातक सिद्ध हुआ। एक तों ऐसे लोग आसानी से शासकों के समीप गए और देश की जनता से कटकर उनसे घृणा करते रहे और उन्हीं के विरोध में होते गए। दूसरे भारत में एक ऐसी विजातीय संस्कृति ने जन्म लिया जिसने देश की मूल अस्मिता से अपने संपर्क तार तोड़ लिए। आज अनेक समस्याओं की जड़ में यह मुख्य कारण है। इस खतरे को प्रेमघन जी ने बहुविध परखा था। इस आसंग में एक अपेक्षाकृत लंबा उद्धरण ध्यातव्य है—

'यूरोप या श्वेतद्वीप तो मानो पश्चिमी सभ्यता का मायका अथवा पीहर ही ठहरा कि जिसको वर कर भारत आज श्वेतांग होने की अभिलाषा से सांवले से काला बन जाता है। यदि इंग्लैंड उसका बाप तो फ्रांस उसकी मां है। जहां यदि प्रात:काल में वह और, तो संध्या होते और ही ढब की हो जाती है। वास्तव में पश्चिमी सभ्यता अभी बाला और तृतीया नायिका व वेश्यावृत्ति धारणीय है। क्योंकि वह संसार के सामान्य जनसमुदाय से अर्थ संग्रह कर श्रीमती बनती जाती है। वह औरों की चाल, चालाकी से लेकर मुकर कर चोचले बघारती किसी प्रकार नहीं हारती और न यह विचारती कि यह जिसकी वस्तु है उसी के आगे

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अपनी बनाने में कुछ लज्जा की आवश्यकता है या नहीं ? इसके अतिरिक्त वह अभी परिपुष्ट नहीं हुई, इसी से उसमें अधिक छिछोरापन और कचाई है कि जिसे उसे अपना पेट भरने को चारों ओर फिरना पड़ता और उलट-पुलट कर नया स्वांग भरना पड़ता है। अभी कुछ ही दिनों में वह ग्राम्य व जंगली से नागरीय बनने की प्रयासी बनी है, अतः उसमें बहुत कुछ चटक-मटक की लालसा स्वाभाविक है। उसी चटक-मटक पर हमारा हिन्दुस्तान सौ जान से कुर्बान है।'

पश्चिमी सभ्यता का एक केन्द्र फ्रांस है। दूसरी बात यह है कि पश्चिमी साम्राज्यवाद ऐसी वेश्या है जो 'संसार के सामान्य जनसमुदाय से अर्थ संग्रह करके पतिव्रता बन बैठी है। इस रिश्ते की चटक-मटक पर कुर्बान भारतीय प्रेमघन जी आलोचना के केन्द्र में हैं। वह मानते हैं कि इसके अनुकरण से भारत का सर्वनाश हुआ है। पश्चिमी साम्राज्यवादी वेश्या किस तरह यौनाकर्षण बढ़ाती है।

'उनके बाल, ड्रेस व नृत्य परिच्छेद के देखने से अनेक अवसरों पर यदि मानसिक उद्वेग होता है तो मन में प्रायः दया और जुगुप्सा का भाव भी उदय होता है क्योंकि वह ऐसे अंगों को भी प्रत्यक्ष खोल कर दिखलाती, जिसे देखकर वास्तविक सभ्यता कोसों दूर जा चिल्लाती कि 'अरी बावरियों! यह कैसी जघन्यता है। रसाभास कर क्यों शृंगार की मूड़ी मरोड़ती है। निर्लज्जा सरसता की सौत है।' इसमें व्यंग्य भरे मुहावरे देशी जातीय स्वभाव को सामने तो रखते ही हैं, नफरत को और तीखा भी करते हैं। शृंगार के प्रतिकूल पड़ती यह निर्लज्जता आधुनिक जीवन की विकृति बन गई है— यह खतरा प्रेमघन जी काफी पहले भांप चुके थे। संभव है कुछ की आधुनिकता नवजागरण की इस जातीय चेतना को प्रतिगामी माने।

भारतेन्दु युग और संपूर्ण नवजागरण आंदोलन में किसान और गांव संबंधी लेखन और चिंतन की एक सुपुष्ट धारा दिखाई पड़ती है। किसानों के जीवन, उनकी दुरावस्था को लेकर यह रचनाकार लगातार सोचते-विचारते रहे। पराधीनता ने गांव की जिन्दगी को दयनीय बनाया— ऐसा आज तक है। प्रेमघन जी ने लिखा है— 'पराधीनता ने साधारणों को निर्बल और दरिद्र बना दिया है। इनमें वह तिग्मता जो विजयी जाति में होती है कभी आ ही नहीं सकती है। इसी से जो काम बल से हो सकता था, उसे धन से करने की आवश्यकता हुई है। सामना भी ऐसे लोगों से करना पड़ता है जो पृथ्वी में अपने बल और कौशल में विख्यात हैं।' इसमें अंग्रेजी जाति की ताकत और कौशल का एहसास भी है। ब्रिटेन के शासन ने मुगलों की तुलना में गांवों के किसानों पर करों का बोझ ज्यादा डाला था। लिखते हैं—

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

'अंग्रेजी राज्य में कर के कारण जो कलेश किसानों को सहना पड़ता है, वह पहले मुसलमानों के राज्य में न था। पहले की अपेक्षा कर अब इतना बढ़ गया है कि बिक्री का पता लगाने पर भी यह अधिक ही जान पड़ेगा। क्योंकि पहले उपज बांट लेने की प्रथा विशेष थी। उससे जब प्राकृतिक कारणों से किसान को कुछ न मिलता, बांटने वालों को भी कुछ नहीं मिलता था।'

किसानों की दयनीयता, कर का भार, उपज के लागत की भी वापसी नहीं— ये सारे सवाल आज भी किसानों के आंदोलनों में उठाए जाते हैं। भारत को किसानों का देश कहा जाता रहा है, मगर उनके हित में वास्तविक शासन की प्रतीक्षा अब भी है। कृषि के अवैज्ञानिक होने, जमींदारों को उपज का हिस्सा देने और प्रेमचन्द की होरी की दुरावस्था से उनकी महाजनी संस्कृति का पूर्व स्तर प्रेमघन जी के नीचे दिए उद्धरण में सुनाई पड़ता है। किसानों की दयनीयता पर यह अत्यन्त मार्मिक टिप्पणी है—

'जितनी प्रजा हिन्दुस्तान की है उनको किसी न किसी तरह पालना कृषिकारों के मत्थे पड़ा है। दयालु भारतभूमि ने अपने अंक में लक्ष्मी से तिरस्कृत शक्ति और विद्या से शून्य, हस्तकारी में मुग्ध, आधुनिक यंत्र और पदार्थ विद्या में अकुशल, इसी से इतर देशियों के बराबर काम करने में अशक्त अपने आलसी संतानों को स्थान दिया है। परन्तु अब वह भी अपनी संतान की 'वृद्धि के कारण उन सबको पालने में निश्चय असमर्थ ही दिखाई पड़ रही है। प्राकृतिक शक्ति ने भी इसे जवाब दिया है। निरंतर पीड़ित होने से इसमें अब उपज की शक्ति भी वैसी नहीं रही और कर के बढ़ जाने से उनके मालिकों में परिवर्तन हुआ करता है।' किसानों को जमीन के मालिक बेदखल कर देते हैं और इस बेदखली से वे धनहीन होकर कुटिल और निर्दयी छोटी पूंजी वाले बनिए और महाजनों की शरण में जाते हैं। प्रेमघन जी लिखते हैं कि ये कुटिल बनिए उनकी हड्डी चूस जाने में अन्याय और पाप नहीं समझते। प्रेमचन्द की महाजनी सभ्यता के सूत्र इससे जोड़े जा सकते हैं।

तब शायद ही किसी राजनेता के पास किसानों का इतना मार्मिक अध्ययन हो। इतिहासकारों ने इस काल की भारतीय भाषाओं में लिखी सामग्री की उपेक्षा कर वास्तविक यथार्थ को ओट में तो किया ही, नवजागरण के महान साहित्य की भी उपेक्षा की। अब तो हिन्दी के कई कपूत ही नवजागरण के विरोध में चल पड़े हैं।

प्रेमचन्द के होरी का इतिहास प्रेमघन जी काफी पहले लिख चुके थे। लिखते हैं – 'एक बार ऋणी हो जाने से किसान के गले की फंसड्डी महाजन के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हाथ हो जाती है, और वह जीते-जी इस ऋण से मुक्त नहीं हो पाता। अनपढ़ किसान मारे भय के चूं तक नहीं कर सकता, अपनी बात नहीं खोता, महाजन नहीं बिगाड़ता, क्योंकि कल को फिर कहां जाएगा।'

किसानों की बेबसी का यह मार्मिक दस्तावेज है। प्रेमघन जी ने लिखा है कि जमीन के मालिक जमींदार से भी सरकारी तहसीलदार टैक्स वसूल करते हैं यानी सामंतवाद से साम्राज्यवाद का संबंध! 'ग्रामों के स्वामी लोग सरकारी तहसीलदारों से बिना कर दिए नहीं छुटकारा पाते।'- जिस बात को प्रेमघन जी समझ रहे थे उसे अनेक मार्क्सवादी (?) नहीं समझना चाहते। वे मानते रहे हैं कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद सामंतवाद को समाप्त कर रहा था- वह प्रगतिशील कर्म था। अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने सामंतवाद से क्या रिश्ता रखा? इसकी वे अनदेखी करते हैं। दूसरी बात यह कि सामंतवाद को अगर वे सचमुच समाप्त कर रहे थे तो बना क्या रहे थे? क्या वे पूंजीवाद का विकास कर रहे थे? तब अंग्रेजों द्वारा तमाम देशी उद्योगों को नष्ट करने के प्रमाण कैसे झुठलाए जाएंगे? ब्रिटिश शासन और जमींदारों दोनों से त्रस्त किसानों की करुण जिन्दगी का गहरा एहसास प्रेमघन जी को था। लिखते हैं—

'वे (ग्रामों के स्वामी) अपने असामियों से निर्दयता से, चाहे उनके खेतों में वर्षा तथा और कारणों से कुछ भी उत्पन्न न हुआ हो, कर भर देते हैं। दैवात दो तीन वर्ष यदि उक्त करणों से किसान को कुछ भी न मिला तो उसे खेती त्यागनी पड़ती है। अंत में दुर्भिक्ष के कारण मुखमोड़ चोरी और भिक्षा की ओर दौड़ता है। इसी से किसानों को वन पशुओं के समान मनुष्यों से भी तिहाई की रक्षा करनी पड़ती है। निदान कर के बढ़ने से परती ऊसर तक के उठ जाने से, इसी से पृथ्वी के तृण विहीन हो जाने से पशुओं के दु:ख पाने से, दरिद्रता के कारण जलाशयों के न होने से, अन्न का परदेश चले जाने से, नित्य परिवर्तन से, खेती ही की ओर और मार्गों के रुक जाने से सबके दौड़ने से किसान भी नित्यप्रति दीन और दरिद्र होता जाता है।'

प्रेमघन जी को गांवों और किसानों की जिन्दगी का प्रत्यक्ष अनुभव था। उनके कठिन जीवन का मार्मिक एहसास उन्हें उद्वेलित करता था। उनकी इस संवेदना का एक और प्रमाण— 'गांव में लंगोटी चढ़ाए पेट खलाड़े दुर्भिक्ष का रूप बनाए, चौथे उपवास पर भोजन पाने वालों को देख कोई नहीं कह सकेगा कि इस देश के चौथाई निवासियों के अर्थ सदाकाल नहीं पड़ा रहता।'

इस गरीबी का स्पष्ट कारण था जमींदारों और बनियों द्वारा शोषण! देश की गरीबी और उजाड़ का कारण था ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा शोषण! देश का पैसा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बड़े पैमाने पर विदेश जा रहा था- 'पै धन विदेस चलि जात।' यही मुख्य बात थी। कई भारतेन्दुयुगीन लेखकों ने इस यथार्थ को उद्घाटित किया है। प्रेमघन जी ने भी इस पर विचार किया है- 'जब इस देश में परदेशी नहीं थे और राज्य का भार देशियों पर था, तब इस देश के लोग नौकरी पाते थे। जब विदेशी राजा के होने से नौकरियां विलायतियों को विशेषकर दी जाती हैं और देश के लोगों को परिश्रम कर उनके विद्याओं के पढ़ने पर भी नौकरी नहीं मिलती। यदि ये विदेशी यहां नौकरी कर यहीं रह जाते और अपने धन को इसी देश में रखते तो थोड़ा बहुत उपकार इस देश का उनसे होता पर वे तो नौकरी का कड़ांकुल पक्षियों की भांति ऋतु परिवर्तन होते ही पिन्शिन से उड़कर अपने देश को चले जाते हैं। हमारे देश की दरिद्रता तब पूर्णरूप से अत्यंत हो जाती है।'

कुछ विद्वानों ने भारतेन्दु युग की राजभक्तिपरक रचनाओं जिनमें बेशक प्रेमघन जी की भी रचनाएं भी शामिल हैं- यह एतराज उठाते हैं कि उनकी गैर-राजभक्तिपरक रचनाओं को विशेष या एकांगी महत्त्व नहीं देना चाहिए। वे उसे अंतर्विरोध के रूप में विवेचित करने की बात करते हैं। लेकिन ये अंतर्विरोध तब बनते जब राजभक्ति और गैर-राजभक्ति एक साथ, एक समय में होती। ऐसा नहीं है। सन् 1858 में जब सन् 1857 के संग्राम के बाद, शासन ईस्ट इंडिया कंपनी से महारानी विक्टोरिया के हाथ आया, तब अनेक जनकल्याणकारी घोषणाएं हुईं। परन्तु आगे की स्थितियों का यथार्थ इसके विपरीत रहा, फलतः राजभक्ति-राजविरोध में बदल गई। दूसरी बात यह कि कई सामाजिक सुधारों के मामलों में अंग्रेज सचमुच भरतीय समाज के प्रगतिशील थे या कहिए आधुनिक थे। उनकी शासन-व्यवस्था को तो अनके बूढ़े-बुजुर्ग कांग्रेसी शासन से बेहतर बताते मिल जाते हैं। इस सच के स्वीकार से कोताही की जरूरत नहीं। सती प्रथा पर रोक, विधवा विवाह का समर्थन, बाल विवाह पर रोक या ऐसी ही अन्य स्थितियों को अंग्रेज अपनी सत्ता और जनता के प्रतिरोध से तालमेल बैठाते हुए समय-समय पर सामाजिक प्रगतिशीलता का भ्रम भी दिए रहे जिससे वे भारतीय समाज से खुद को श्रेष्ठ सिद्ध करते। इसे लेकर अंग्रेजियत वाले बुद्धिजीवियों को ज्यादा दूर तक खींचने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। अंग्रेजी शासन के दुष्प्रभावों का उन्हें पक्का बोध रहा और वे यथार्थ को अच्छी तरह समझ रहे थे। इस आसंग में प्रेमघन जी की टिप्पणी है-

'सन् 1858 ई. का राजघोषणा से यहां की प्रजा को यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि वास्तव में अंग्रेजी शासन का अभिप्राय निःस्वार्थ भाव से केवल भारतोन्नति मात्र है। परन्तु बहुत दिन आशा लगाकर भी जब देख पड़ा कि वे

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मनोहर बातें केवल कहने ही भर की थीं, कार्य में आने वाली नहीं, वरन उसके विरुद्ध अब प्रत्यक्ष देश के अर्थ निपट हानिकारक अनेक कार्य होते ही चले जाते।'

डॉ. रामविलास शर्मा ने उपर्युक्त आक्षेपों के उत्तर में कई बातें रखीं हैं। कुछ उनके मौलिक तर्क भी हैं। वैसे भी सन् 1857 के भयानक दमन के बाद आतंक और सुधार के वातावरण में तीखे विरोध की गुंजाइश नहीं थी। अपने विरोध को रणनीतिक सूझबूझ से ही रखा ज़ा सकता था। जनता में कोई आंदोलन न था। जब स्थितियों में परिवर्तन हुआ तो विरोध भी उग्र से उग्रतर होता गया। बिना विरोध किए ही तो भारतेन्दु और बालकृष्ण भट्ट की पत्रिकाओं को नुकसान उठाना नहीं पड़ा था। आखिर वे क्यों सरकार का कोपभाजन बनीं? तब तो पत्रिकाओं का आज जैसा प्रभाव भी न था। लेकिन इसका यह कतई मतलब नहीं कि भावुक मोह या उछाह में उन लेखकों की राजभक्ति पर रचनाओं के लिए उन्हें पूरी तरह निर्दोष ही माना जाए। ठाकुर जगमोहन सिंह को छोड़कर लगभग सारे रचनाकारों में यह दोष रहा और नि:संदेह यह ऐसा दाग है जो नहीं रहता तो ज्यादा अच्छा लगता। लेकिन जो है, वह एक सच्चाई भी है।

हिन्दी नवजागरण के लेखन में एक विवादास्पद कारक धर्म प्रभावित लेखन का है। हिन्दू धर्म के प्रति स्पष्ट झुकाव का है। यह बात सही है कि नवजागरण के लगभग सभी रचनाकार धार्मिक रहे हैं, लेकिन सांप्रदायिक कोई नहीं था। धार्मिक और सांप्रदायिक होने में जो अंतर होता है, वह इनके लेखन में भी था। संभव है नवजागरण काल के किसी गौण लेखक में सांप्रदायिकता की गंध हो, लेकिन प्रमुख लेखकों में ऐसा कोई नहीं था। बल्कि वे सभी सांप्रदायिकता विरोधी थे। अगर धार्मिक होना और आस्तिक होना सांप्रदायिकता है तो पूरी दुनिया की आबादी में गैर-सांप्रदायिक शायद एक प्रतिशत भी न निकले। प्रेमघन जी भी धार्मिक और आस्तिक लेखक थे। उस समय जितनी प्रगतिशीलता संभव हो सकती थी-उतनी थी। कम से कम आज के अनेक प्रगतिशीलों की तरह उनमें कोई भी पाखंडी न था। प्रेमघन जी का एक लेख है- 'हमारे धार्मिक, सामाजिक या व्यावहारिक संशोधन' लिखते हैं-' वर्तमान समय के बचे बचाए बुड्ढे लोग अधिकांश मूर्ख, दुराग्रही और अनेक मिथ्या विश्वास के फंदे में पड़े बहुत कुछ देश की अवनति के कारण हैं, तो साथ ही पाश्चात्य शिक्षा संपन्न नवीन ज्योतिधारी युवक उनसे अधिक अकर्मण्य प्रमादी और विपरीत बुद्धि और दुष्टाचरण वाले दिखाई पड़ते हैं।

यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्धरण है। इसमें प्रेमघन जी ने एक ओर रूढ़

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

परम्परावादियों पर चोट की है जो प्रगतिशीलता के बाधक हैं तो दूसरी ओर आधुनिकतावादी लुंपन वर्ग को भी लिया- जो अपनी जड़ों से कटकर, समय और समाज से विच्छिन्न थे। कैसी विडंबना है कि आज देश अंततः इन्हीं दोनों के प्रभाव में आया। इसलिए प्रेमघन जी की संतुलित दृष्टि आज भी अत्यन्त जरूरी है। प्रेमघन जी इन दोनों अतिवादियों के मध्य मध्यमार्गियों का समर्थन भी नहीं करते। वह उनकी यथास्थितिवादी प्रवृत्ति पर भी चोट करते हैं— 'मध्यवर्ती लोगों ने यही सिद्धांत कर लिया था कि जैसे चर्खा चल रहा है, चलने दो, इसका उखाड़ पछाड़ ठीक नहीं, क्या जाने भला करते कहीं और भी निकृष्ट फल न हो।'

प्रेमघन जी के लेखन में तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों में सार्थक सक्रियता के कारक तत्त्वों पर भी विचार मिलता है। वह कांग्रेस की गतिविधियों को आशा की नजर से देखते जरूर थे लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि वह यहां भी आलोचनात्मक रहते थे। उनका एक आलेख है— भावी भारतीय महा-सम्मिलन। इसमें लिखा है कि 'यद्यपि सदैव पढ़े-लिखे देशवासी ही विद्याशून्य देशवासियों के प्रतिनिधि होंगे, परन्तु उनसे प्रत्यक्ष संबंध स्थापन करने के लिए गांव-गांव में पंचायत बनाने की बड़ी भारी जरूरत हुई है। इस बार की कांग्रेस में यदि और किसी बात की आलोचना न हो तो केवल इसी बात की ओलाचना कर पंचायत स्थापन करने की व्यवस्था पक्की करने की बड़ी भारी आवश्यकता हुई है। उन्हीं पंचायतों द्वारा वर्तमान पढ़े-लिखे लोग ही प्रतिनिधि बनकर कांग्रेस करेंगे। उस दशा में कांग्रेस को जन साधारण में संबंध रहित कहने वाले वैसा फिर कहने का साहस नहीं करेंगे।'

प्रेमघन जी ब्रिटिश शासन पद्धति के विरुद्ध पूर्व पंचायती राज के समर्थक थे जिसमें लोकतांत्रिक तरीके से चुने सचेत लोग आएं। महत्त्वपूर्ण यह है कि उनके पास भारत की मौलिक शासन-व्यवस्था की सोच का विकल्प था।

प्रेमघन जी की साहित्यिक अभिरुचि विकसित थी। अंग्रेजी में शेक्सपीयर के वह अनन्य प्रेमी थे। उन्होंने लिखा है कि शेक्सपीयर को पढ़ने से ऐसा लगता है मानों कालिदास का संस्कृत से मन तृप्त न हुआ तो सैर करने विलायत गए और अंग्रेजी सी भ्रष्ट विद्या में अपनी करामात दिखाई। इससे अंग्रेजी के भी भाग जागे। भ्रष्ट अनुवादकों की आलोचना करते हुए वह लिखते हैं कि— 'जानना चाहिए कि चाहे अनुवाद हो या कल्पित, परन्तु नाटक की तो लिखावट ही जुदी है, यह साहब जज की तज़बीज नहीं कि फर्राटे से तर्जुमा करते चले जाइए, यह तो कविता है, कुछ बुद्धि को कलेश दीजिए और दिल को दौड़ा कर कुछ करतूत दिखाइए 'सतगुर दत्त शिवदत्त-दाता' से काम नहीं चलने का, ऐसी ही हाथ-

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लपकोअवल ठीक नहीं कि जो बेताह उधर से कुछ उड़ा लिया और इधर ठूंस लीया और असल में कुछ कांट-छांट किया, और बदले उसके कुछ अपनी अक्ल लगा दिया।' गद्य में ठेठ जातीय रंग पूरे टोन में है। उर्दू और तत्सम के साथ तद्भव के प्रयोग में सहजता और सजीवता व्यंजित होती है। अपने समय की कविता के समकक्ष का गद्य है। भारतेन्दु युग की एक बड़ी देन नाटक के क्षेत्र में रही। हिन्दी नाटकों के इतिहास की महान-शुरुआत इस युग की उपलब्धि रही। आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है कि पहली बार जब 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के मंचन में भारतेन्दु स्वयं मंच पर आए तो प्रेमघन जी को शैव्या का पार्ट मिला। भारतेन्दु ने पूछा— 'तुम्हारे पिता जीवित हैं, मूंछों का सफाया कैसे होगा?' प्रेमघन जी ने छूटते ही उत्तर दिया— 'हिन्दी के लिए गरदन तक कटा सकता हूं मूंछ निगोड़ी क्या चीज है!' प्रेमघन जी ने लिखा है— 'नाटक और अभिनय वह वस्तु है कि जब देखने वाले को इसका परिज्ञान न रह जाए कि हम नाटक देखते हैं व सत्य लीला।' अभिनेता अगर पढ़ा-लिखा न हो तो— 'बुड़न्त' हो जाती है। वह अपील करते हैं कि धनी लोग नाटकों के विकास के लिए सामने आएं। वह खेद जाहिर करते हैं कि ऐसे लोग अरसिक हो गए हैं। इन बातों से उनके मन और मस्तिष्क के स्वभाव का पता चलता है।

प्रेमघन जी के गद्य लेखन में एक पक्ष सांस्कृतिक विषयों पर है। 'बनारस का बुढव मंगल' उनका एक बड़ा ही मनोरम लेख है। काशी के सांस्कृतिक अतीत वैभव की चर्चा करते हुए उसके पतन पर अपना दुःख प्रकट करते हैं। उन्हें होली के इस उल्लास भरे समय में भारतेन्दु की मार्मिक कमी खटकती है। काशी के इतिहास का सजीव चित्रण बहुत ही आकर्षक है। काशी में दिलचस्पी रखने वालों के लिए यह बहुत ही उपयोगी लेख है। ऋतु-वर्णन, बेसुरी तान, त्रिवेणी-तरंग जैसे आलेख रीतियुक्त धारा की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को व्यंजित करने वाले हैं। इसीलिए मेरा यह जोर है कि छायावाद के सूत्र भारतेन्दु युग से जितना जुड़ते हैं उतना शायद और किसी पूर्ववर्ती युग से नहीं।

हिन्दी नवजागरण के इस अमर योद्धा का गद्य लेखन हमारी ऐसी विरासत है जिससे जुड़कर हमें अपने समय में वैचारिक अवधारणा को सुदृढ़ करने में मदद मिलती है। न सिर्फ इतना ही बल्कि अपने दायित्व का सहज बोध भी जगाता है। उस संकल्प और सोच को मूर्त करने वाली सक्रियता और बेचैनी भी पैदा करता है। इसलिए इसकी मूल्यवत्ता असंदिग्ध है।

(साक्षात्कार 134-136, जनवरी-मार्च 1991)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हिन्दी नवजागरण और राधाचरण गोस्वामी

तमाम बहसों-विवादों के बावजूद भारतीय नवजागरण की अवधारणा को अभी तक सर्वमान्य स्वीकृति नहीं मिली है। राष्ट्रवादी और औपनिवेशिक विचारकों के बीच यह विवाद अब भी कायम है। इसका सबसे बड़ा कारण देश पर उस प्रभु वर्ग का वर्चस्व है, जो इस हठ को जीवित रखना चाहता है कि इस देश का विकास और भविष्य अंग्रेजी तथा अंग्रेजियत से ही संभव है। अंग्रेजी और पश्चिम को आधुनिकता का पर्याय मानने वाले, इसे भारत के सौभाग्य से जोड़ते हैं और यह दावा करते हैं कि अगर अंग्रेज नहीं आए होते, तो न भारत एक होता न ही आधुनिक। अंग्रेज और अंग्रेजी से भारत शिक्षित हुआ इसी से आजादी की भावना आई और अन्ततः देश को स्वाधीनता हासिल हुई। इस विचार के सूत्रों को वे साम्राज्यवादी और बहुराष्ट्रीय पूंजी के निवेश तक ले जाते हैं। इस तरह वे बड़े पैमाने पर भारत के शोषण को संभव करते हैं। इस अवधारणा के लोग सन् 1857 की राजक्रांति को भारतीय जनता का विद्रोह नहीं मानते। उनका विश्लेषण यह सिद्ध करना है कि अंग्रेज भारत को आधुनिक बनाने आए थे, जिनके विरुद्ध देश की सामंती रूढ़िवादी ताकतें विद्रोह कर रही थीं। इसलिए सन् 1857 की राजक्रांति एक प्रतिगामी संघर्ष था। ऐसे लोगों के तथ्य-तर्कों की धज्जियां बिखेर वैचारिक स्तर पर मुकम्मल मरम्मत करने का कार्य डॉ. रामविलास शर्मा ने किया। लेकिन जानबूझकर देश के विरुद्ध सोचने वाली शक्तियां इन विचारों का हठ, व्यापक और जायज सहमतियों के लिए नहीं पालती। पूरी पराजय के बावजूद वे इसे लोकतांत्रिक बौद्धिकता के नाम पर सूक्ष्म से सूक्ष्म तर्कों द्वारा जिलाए रखती हैं। यह लोकतांत्रिक व्यापक सहमति के लिए ही कल्पित की गई, जिसकी छूट से वे अपने हठ को तानाशाही से मनवाना चाहते हैं। चर्चिल ने कहा था कि भारतीयों को आजादी देने से क्या लाभ? इनके दिमाग में भूसा भरा होता है, यह राजकाज

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
नहीं चला सकते। सार्वजनिक स्तर पर तो नहीं, लेकिन निजी स्तरों पर इस कथन को सिद्ध करने वाले अंग्रेजियत वाले लोगों का अभाव नहीं। चर्चिल ने यह कथन यों ही नहीं कहा था। अंग्रेजों ने इस बात की पूरी व्यवस्था और इतमीनान के बाद ही भारतीयों को सत्ता सौंपी कि शासन अंग्रेजी और अंग्रेजियत वालों के वर्चस्व में ही रहेगा। इसका गहरा सांस्कृतिक और बौद्धिक असर हुआ। सन् 1857 से सन् 1947 के बीच भारतीय साहित्य में जो राष्ट्रवादी प्रगतिशील चिंतन हुआ, उसकी व्यापक उपेक्षा की गई। अकारण नहीं, आज तमाम क्षेत्रों में पाश्चात्य औपनिवेशिक चिंतन से देश को चलाया जा रहा है और सुनियोजित तरीके से नवजागरण के चिंतन और साहित्य की उपेक्षा की जा रही है।

भारतीय नवजागरण की शुरुआत के संकेत काफी पहले से मिले हैं लेकिन सन् 1857 के बाद इसका तार्किक और व्यवस्थित स्वरूप स्पष्ट होने लगा। भारतीय भाषाओं में गद्य का विकास तेजी से हुआ और अपेक्षित आधुनिक विचारों के लेखन की शुरुआत हुई। इसकी मुख्य अवधारणा थी—हिन्दू-मुसलमानों की एकता, धार्मिक रूढ़ियों-पाखंडों का पर्दाफाश, भारतीय भाषाओं के वर्चस्व का आंदोलन, किसानों, देशी उद्योगों और कारीगरों की पक्षधरता, साम्राज्यवादी शोषण और लूट का विरोध, नारियों के उत्थान, दमन का विरोध, सामाजिक जड़ता के विरुद्ध प्रगतिशील और आधुनिक विचारों का वरण, विज्ञान, नई तकनीक और नए उद्योगों का आमंत्रण, भारतीय इतिहास की वास्तविक गरिमा की प्रतिष्ठा, व्यापक शिक्षा, अछूतोद्धार, भारतीय ज्ञान-विज्ञान की मीमांसा, औपनिवेशिक संस्कृति का विरोध। आप सन् 1857 से 1947 के बीच न सिर्फ हिन्दी, बल्कि अन्य भारतीय भाषाओं के विपुल लेखन का आकलन करें, तो वे स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ेंगे। जो मुद्दे भारतेन्दु युग में अनुपस्थित थे— आगे वे बड़ी मुखरता से सामने आए जैसे जाति विरोधी आंदोलन। निःसंदेह इसमें गहरे अंतर्विरोधी स्वर थे, प्रतिगामी भी थे— बावजूद इसके आपको एक विकासमान और प्रगतिशील परम्परा की सशक्त धारा मिलेगी। दुर्भाग्य से नवजागरण साहित्य का दशांश भी उपलब्ध नहीं होने दिया गया। लेखकों, पत्रकारों और तमाम लेखक संगठनों तथा संस्थाओं को इसके लिए जोरदार अभियान चलाना चाहिए कि सरकारी, गैर सरकारी स्तर पर तमाम भारतीय भाषाओं में नवजागरण साहित्य को उपलब्ध कराया जाए और व्यापक प्रसार की व्यवस्था हो।

तमाम औपनिवेशिक और अंग्रेजियत चिंतन के स्तरीय बौद्धिक प्रयत्नों के बावजूद नवजागरण की वास्तविकता झुठलाई नहीं जा सकती। सन् 1857 में जिस संचित आक्रोश का विस्फोट हुआ उसी के गर्भ से नवजागरण का उदय

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
हुआ। इसकी गूंज न सिर्फ भारतीय भाषाओं में बल्कि लोकभाषाओं तक में सुनाई पड़ती है। हिन्दी में इस नवजागरण का नेतृत्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया। जब वह सन् 1873 में हिन्दी के नये चाल में ढलने की बात करते हैं, तो वस्तुतः मानस के नए करवट की ही चर्चा करते हैं। यह करवट भाषा की ही नहीं, विचारों की भी थी। यह भारत में चिंतन का ऐसा संधिकाल था जब एक ओर आधुनिकता का प्रवेश हो रहा था तो दूसरी ओर पुरानी परम्पराएं टूट रही थीं। आधुनिकता, वैज्ञानिकता और चुनौती थी, कि वे आगे बढ़कर रूढ़िवादी विश्वासों का विरोध करते तथा नए परिवर्तनों का अलख जगाते। भारतेन्दु ने अपने मंडल के तमाम लेखकों के साथ इन चुनौतियों से सार्थक संवाद किया। इस सार्थक संवाद का आधार था— परम्परा का विवेक सम्मत विरोध और विवेकसम्मत स्वीकार। आधुनिकता का आमंत्रण और भारतीयों के विपरीत आधुनिकता का विरोध। इसी आधार पर निरंतर विकास से ही हिन्दी नवजागरण की मूल्यवान अवधारणा निकल कर सामने आती है। 'नए चाल' में ढलने की बात इसी नवजागरण के पदचाप का संकेत-स्वर है। भारतेन्दु के नवजागरण के नेतृत्व में जिस सूझ-बूझ का परिचय मिलता है और उन्होंने अपने दुर्लभ मानवीय व्यवहार से लेखकों का जैसा मंडल कायम किया— उसकी दूसरी मिसाल शायद ही भारतीय साहित्य में मिले। बावजूद उस युग की अपनी सीमाएं थीं। उस समय दक्षिण में दलितों का जो आंदोलन चल रहा था, महाराष्ट्र में ज्योति बा फुले ने जो आंदोलन खड़ा किया था, वह आने वाले भारत का केन्द्रीय मुद्दा बना। लेकिन भारतेन्दु युग में उसकी आश्चर्यजनक अनुपस्थिति मिलती है। यह एक बड़ी चूक थी, जो भारतीय नवजागरण में हिन्दी नवजागरण को द्वितीय स्तर का सिद्ध करती है। इसका यह असर पड़ा कि बाद तक हिन्दी चिंतन में यह मुद्दा शामिल नहीं हो सका। सामाजिक आंदोलनों का हिन्दी क्षेत्रों में पूर्णतया अभाव तो नहीं था लेकिन कमी जरूर थी। जो सामाजिक संघर्ष छोटे-मोटे स्तरों पर चल रहे थे, उसे भी व्यापक स्वर नहीं मिल रहा था, लेकिन राधामोहन गोकुल और संतराम बी.ए. जैसे कई लेखक सामने आते हैं, जिन्होंने इस अभाव की काफी हद तक क्षतिपूर्ति की। बावजूद भारतेन्दु युग में इसकी कमी रही लेकिन जो था, जिस हद तक था, उसके प्रति सकारात्मक रुख रखकर इस परम्परा को आगे बढ़ाने की जरूरत थी। डॉ. रामविलास शर्मा की सीमाओं और उनके अभावों पर अशिष्टता की सीमा तक उतर कर जितना विरोध हुआ, क्या हमने यह सोचा कि यह कितनी शर्मनाक बात है कि भारतेन्दु की संपादित पत्रिकाओं, उस युग की अन्य प्रमुख पत्रिकाओं और भारतेन्दु को छोड़कर शेष अन्य लेखकों की पूरी सामग्री क्यों नहीं तलाशी गई?

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

क्यों नहीं संपादित-प्रकाशित हुई? शायद तब हम उन अभावों को रचनात्मक रूप से दूर कर सकते थे। दरअसल उद्देश्य में ही खोट थी।

भारतेन्दु मंडल के ऐसे ही उपेक्षित लेकिन अत्यन्त प्रमुख लेखकों में राधाचरण गोस्वामी एक हैं। वह जागरूक लेखक और प्रखर पत्रकार थे। रामविलास जी ने लिखा है— गोस्वामी जी भारतेन्दु युग में संभवतः सबसे अधिक उग्र विचारों के मालूम पड़ते हैं। भारतेन्दु-मंडल के अन्य प्रमुख रचनाकारों की तो आधी-अधूरी सामग्री संकलित, संपादित होकर जहां-तहां से प्रकाशित भी हुई, मगर राधाचरण गोस्वामी की कोई सामग्री, कहीं से देखने को नहीं मिली। रामविलास जी के आग्रह पर इन पंक्तियों के लेखक ने उनकी रचनाओं की एक संपादित पुस्तक प्रकाशित की, जिसकी आज तक एक भी समीक्षा प्रकाशित नहीं हुई।

राधाचरण गोस्वामी का जन्म 25 फरवरी 1859 को वृंदावन में एक घोर रूढ़िवादी परिवार में हुआ था, जिसकी जीविका का आधार था पुरोहिती। इनके पूर्वज महाप्रभु चैतन्य के शिष्य थे। वृंदावन के अति प्राचीन राधारमण मंदिर का निर्माण कर वहीं इनका वंश वैष्णव संप्रदाय का संचालन करता था। प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा घर पर ही हुई थी। माताश्री विदुषी महिला थीं, गहरे विद्या संस्कार उन्हीं से मिले, लेकिन उनका शीघ्र ही निधन हो गया। पुरोहिती कार्य में पिता की छत्रछाया में यात्राएं करते इनका अध्ययन बाधित होता रहा। लेकिन विद्याध्ययन की अटूट निष्ठा सघन होती गई और इन्होंने किशोरावस्था में ही संस्कृत, व्याकरण और काव्य के साथ-साथ अपने संप्रदाय के मानक ग्रंथों का भी अध्ययन किया। राधाचरण जी के भीतर नए विचारों के आवेग उठते मगर परिवार की बंदिशें बेहद कठोर थीं। उर्दू और अंग्रेजी के प्रति ऐसी घनघोर नफरत कि भूल से भी इन भाषाओं के शब्द उच्चरित हो जाते तो सारा परिवार मिलकर जबरन गंगाजल और तुलसी के पत्ते से मुखशुद्धि करता था। इसका एक बड़ा कारण यह था कि उनके पारिवारिक शिष्यों में विद्रोह उठने लगता। फलतः राधाचरण जी को भी अपनी अलग रणनीति अपनानी पड़ी। लिखा है— 'काहू नै लौह नलिका में श्याम चूर्ण मरि कै अग्नि संस्कार कर दयौ तौ भड़ास सो शब्द भयौ।'

लेकिन अध्ययन की गहरी पिपासा ऐसी थी कि वह छिपकर उर्दू और अंग्रेजी सीखने लगे। इसका गहरा असर हुआ। इन्होंने अपने चचेरे भाई मधुसूदन लाल गोस्वामी के सहयोग से 'कवि कुल-कौमुदी' सभा स्थापित की। इसका उद्देश्य था हिन्दी और संस्कृत का प्रसार। सभा के प्रथम अधिवेशन के मात्र तीन दिन पूर्व राधाचरण जी की पहली पत्नी का स्वर्गवास हुआ लेकिन दुर्लभ हिन्दी निष्ठा से प्रेरित वह सभा में शामिल हुए। बिना ऐसी निष्ठा के तब हिन्दी नवजागरण

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

का आंदोलन संभव ही नहीं था। सारी परिस्थितियां प्रतिकूल थीं। बंजर पर भाषा और साहित्य की फसल उगानी थी। इसलिए तत्कालीन परिस्थितियों में उन लेखकों को अपने जीवन में जो सुविधाएं-असुविधाएं मिली थीं— उन्हीं के बीच विरोध-समर्थन का तालमेल कर नवजागरण के उद्देश्यों को आगे बढ़ाना था। इसलिए उनके कार्यों की प्रकृति और तरीके अक्सर समय और परिवेश के अनुरूप रणनीतिक हुआ करते थे।

राधाचरण गोस्वामी का परिवार बेशक कट्टर वैष्णवी था बावजूद उनमें अन्य धर्मों के प्रति कटुता का भाव नहीं था। सच्ची धार्मिकता थी। उन्होंने स्वयं अपने संक्षिप्त जीवन-चरित्र में यह लिखा है कि— 'मैं एक कट्टर वैष्णव, कट्टर हिन्दू हूं। अन्य धर्म अथवा समाज के लोगों से वृथा विरोध करना उचित नहीं समझता। बहुत से आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, मुसलमान, ईसाई मेरे सच्चे मित्र हैं और बहुधा इनके समाजों में भी जाता हूं।'

असांप्रदायिक भारतीयता की यह दुर्लभ चेतना हिन्दी जातीयता की मूल पहचान थी। यह भारत की विविधता में एकता की लोकतांत्रिक व्यवस्था का आदर्श था-जिसमें उनका अटूट विश्वास था। उनमें ज्ञान की गहरी जिज्ञासा थी, इसलिए उन्होंने अन्य धर्म-ग्रंथों का अनवरत अध्ययन किया। इसी प्रक्रिया में उन पर 'ब्रह्म-समाज' का असर पड़ा और उन्होंने 'ब्रह्म-बांधव' में दस मत के पक्ष में लगातार लेख लिखे। भारतेन्दु हरिश्चन्द को उनके लेखों की भाषा और तर्क-ताकत तो पंसद आई लेकिन वह स्थापनाओं से बिल्कुल असहमत थे। उन्होंने सोची-समझी रणनीति के तहत छदमनाम से लिखकर इसका विरोध किया। राधाचरण जी उनकी असहमति से प्रभावित हुए और 'ब्रह्म-समाज' के विचारों से मुक्त भी। आर्य समाज का बढ़ता तत्कालीन प्रभाव बड़े पैमाने पर लोगों को आकृष्ट कर रहा था। राधाचरण जी ने इससे जुड़ी सामग्री का अध्ययन कर स्वामी दयानंद से लंबा शास्त्रार्थ किया। हिन्दी नवजागरण के एक लेखक की ओर से विचार करें तो यह एक बड़ी बात थी। उन पर स्वामी दयानंद के व्यक्तित्व और विचारों का सघन प्रभाव पड़ा, जिसका असर उनके विधवा-विवाह समर्थन और दूसरी तमाम सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध क्रांतिकारी विचारों में देखा जा सकता है।

भारतेंदु हरिश्चन्द के प्रति उनके मंडल के रचनाकारों का स्नेह-सम्मान सचमुच अद्भुत था। ऐसी दुर्लभ अनन्यता के बिना उस महान मंडल की कल्पना ही संभव नहीं थी। सभी भारतेन्दु को गुरुवत सम्मान करते लेकिन स्वयं भारतेन्दु विनम्रता, कृतज्ञता और सम्मानित व्यवहार की दुर्लभ प्रतिमूर्ति बने रहते। राधाचरण

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जी से उनके हुए पत्राचार प्रकाशित हैं, जिसमें दोनों की सघन मैत्री देखी जा सकती है। उनके निधन पर राधाचरण जी ने लिखा है— हरिश्चन्द हरिश्चन्द थे। उनके स्थान की पूर्ति करने वाला मुझे तो अब तक कोई दिखाई नहीं दिया। भारतेन्दु के साथ उनकी पहली मुलाकात की घटना अत्यन्त दिलचस्प है। राधाचरण जी अपने पिता के साथ काशी गए थे। उनका एकमात्र लोभ भारतेन्दु से मिलने का था लेकिन यह आसान नहीं था। रूढ़िवादियों ने भारतेन्दु को नास्तिक के रूप में प्रचारित कर दिया था और धार्मिक विश्वास वाले लोगों के बीच उनको अनवरत तिरस्कृत किया जा रहा था। जो लोग भारतेन्दु और उनके युग पर वैष्णवी भावुकता और धार्मिक झुकावों की आलोचना करते हैं— उन्हें इस तथ्य पर भी गौर करना चाहिए। पिता के कठोर धार्मिक अनुशासन और धार्मिक संपर्कों के बीच भारतेन्दु की छवि के कारण भारतेन्दु से मिलने की अनुमति की गुंजाइश नहीं थी। प्रबल इच्छा आवेग में उनकी विकलता चरम चढ़ती गई और अंततः पिता के सो जाने पर रात को वह चुपके से भारतेन्दु से मिलने चले गए। अपने संस्मरण में इस दुर्लभ मिलन की राधाचरण जी ने बड़ी ही दिलचस्प और आत्मीय चर्चा की है।

हिन्दी नवजागरण के लेखकों में एक विशेषता यह मिलती है कि वे सिर्फ कलम चलाने वाले रचनाकार भर नहीं होते थे बल्कि अपने समय और देश के प्रति सकर्मक जागरूकता रखते थे। भारतेन्दु-मंडल के लगभग सभी रचनाकारों ने विभिन्न संगठनों का निर्माण किया था और आगे बढ़कर जनता के संघर्षों में भागीदार भी हुए थे। इनकी बुनियादी विशेषता समूहवाद की थी। राधाचरण गोस्वामी भी इसके अपवाद नहीं थे। उन्होंने भी 'कवि कुल कौमुदी' नामक एक सांस्कृतिक संगठन बनाया था। उन्होंने लगभग तीस वर्षों तक वृंदावन के म्युनिसिपल कमिश्नर और ऑनरेरी मजिस्ट्रेट की हैसियत से अनेक जनोपयोगी कार्य किए थे। मथुरा और वृंदावन में ऐसी अनेक संस्थाएं खड़ी कीं। उनकी पांच हजार दुर्लभ पत्रिकाओं और पुस्तकों का संग्रहालय आज भी अवस्थित है। वह कांग्रेस के सक्रिय और जागरूक कार्यकर्त्ता थे। उन्होंने कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने के लिए लाहौर तक की यात्रा की थी। मथुरा से कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करने के अवसर दूर-दूर तक की राजनीतिक यात्राएं किया करते थे। लार्ड रिपन की अध्यक्षता में जब शिक्षा-कमीशन गठिन हुआ तो उर्दू-फारसी के वर्चस्व को लेकर गोस्वामी जी ने एक बड़ा आंदोलन खड़ा कर दिया। उस जमाने में इक्कीस हजार लोगों के हस्ताक्षर से विरोधपत्र कमीशन को सौंपा और हिन्दी के विरुद्ध एक बड़ी साजिश को निरस्त कर दिया।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

राधाचरण गोस्वामी हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, अंग्रेजी, बंगाली, मराठी, गुजराती, उर्दू, और उड़िया भाषा के भी जानकार थे। उनका बौद्धिक संपर्क भी व्यापक था। वह भारतेन्दु नाम से एक मासिक पत्र निकालते थे, जिसमें राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक सामग्री प्रकाशित होती थी। बाबू राधाकृष्ण दास ने हिन्दी के सामयिक पत्रों का इतिहास में लिखा है कि — 'इनके भारतेन्दु पत्र के कितने लेख, इनके हिन्दी पत्रों में उद्धृत और अंग्रेजी पत्रों तक में अनुवादित होकर छपते थे। 'भारतेन्दु' पत्र ने आंदोलन करके मथुरा से वृंदावन तक रेल निकलवा दी— जब हिन्दी अभी बिलकुल शैश्वावस्था में थी— तक उसके पत्रों से लेख अंग्रेजी में अनूदित होकर छपते थे। यह गौर करने वाली बात है। भारतीय शासन को सुदृढ़ करने और व्यापारिक लूट को सुगम बनाने के उद्देश्य से जब अंग्रेजों ने रेल-व्यवस्था की शुरुआत की तो लोगों को बताया गया कि यह जनता की सुविधा के लिए किया जा रहा है। इसका देश के तमाम क्षेत्रों और तमाम भाषाओं में विरोध हुआ। गोस्वामी जी ने एक आंदोलन खड़ा कर दिया कि अगर यह सुविधा जनता के लिए है तो सरकार क्यों नहीं मथुरा से वृंदावन तक रेल-पथ का निर्माण कराती? इस आसंग में काफी सामग्री भारतेन्दु के अंकों में देखने को मिली। इस आंदोलन का इतना असर पड़ा कि सरकार बाध्य हो गई और उसे मथुरा से वृंदावन के बीच रेल-पथ का निर्माण कराना पड़ा। हिन्दी पत्रकारिता की ऐसी मूर्त विजय का उदाहरण उस युग में लगभग एक आश्चर्य ही है। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है— वह कांग्रेस के उत्साही कार्यकर्त्ता थे परन्तु उनके राजनीतिक और सामाजिक विचार उस समय के साधारण कांग्रेस नेताओं को बहुत पीछे छोड़ चुके थे। उनका नाम उन महान साहित्यकारों में लिया जाएगा जो साहित्य में सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों को प्रतिबिम्बित करके ही बस नहीं करते, वरन साहित्य में वह प्रेरणा भर देते हैं— जो ऐसे आंदोलनों का सूत्रपात करती है और उन्हें निश्चित लक्ष्य तक पहुंचाने में सहायक होती है।

भारत की तत्कालीन सामंती व्यवस्था में नारी शोषण की स्थिति बड़ी दयनीय थी। बाल-विवाह और इसी से जुड़ी विधवाओं की समस्या पूरे समाज में नासूर की तरह थी। इसलिए हिन्दी नवजागरण में यह प्रमुख मुद्दा बनकर उभरा। महात्मा गांधी जैसे महान-विचारक भी उन्हीं विधवाओं के विवाह की अनुमति दे पाए, जो अक्षत-यौवना थीं। उनके काफी पूर्व गोस्वामी जी ने विधवा-विवाह का जो आंदोलन खड़ा किया उसमें ऐसी कोई संकीर्णता नहीं थी। विधवा-विवाह की समस्या का उन्होंने गहन सामाजिक और सांस्कृतिक अध्ययन किया और समाज तथा परिवार के तीखे विरोध को दृढ़ता से झेलते हुए व्यापक आंदोलन की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

शुरुआत की। उनकी विधवा-विवाह विवरण पुस्तिका सोद्देश्य पत्रकारिता का एक सुन्दर उदाहरण है जिसकी तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में व्यापक चर्चा हुई। पं. मदनमोहन मौलवीय ने इंडियन यूनियन में विधवा-विवाह विवरण की तारीफ में लेख भी लिखा था। इसमें उन्होंने भारतीय वाङ्मय की छानबीन कर इसे शास्त्र-सम्मत सिद्ध किया। अंनेक विधवाओं से साक्षात्कार लिए और उनकी बातचीत को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया। विधवाओं की गणना, भ्रूण हत्याओं के आंकड़े रखकर उन्होंने मौलिक तर्कों द्वारा यह बताया कि अंध परम्परा और सही परम्परा में क्या फर्क होता है। किसे छोड़ना और किसे अपनाना चाहिए। लिखा है—

'परम्परा दो प्रकार की है— एक अंध परम्परा और दूसरी शिष्ट परम्परा। अंध परम्परा तो वह कि जिसमें आंख मीचे काम किए चले जाते हैं, जैसा पहले से चला आया है, वैसे ही करते चले जाएंगे, चाहे इसमें लाभ हो, चाहे हानि। जैसा कि एक अंधे के पीछे दस अंधे चले जाते हैं और इस प्रकार की अंध परम्परा जंगली लोगों में विशेष शोभा देती है और शिष्ट परम्परा यह कि जो शिष्ट लोग बुद्धि विचार से करते चले आते हैं। वास्तव में इन दोनों परम्पराओं का मूल बुद्धि और विचार और समय पर है। जब जो बात समय के अनुकूल होती है वह प्रचलित हो जाती है वही थोड़े दिन पीछे परम्परा और सनातन रीति कहलाने लगती है।'

जो लोग भातेन्दु युग पर बौद्धिकता और तर्क के अभाव का दोष मढ़ते हैं उन्हें इस कथन पर गौर करना चाहिए। किस तरह वे सामाजिक कुरीतियों का विश्लेषण कर रूढ़ियों की मीमांसा करते थे और नए सामाजिक मूल्यों की रचना कर रहे थे। इसी क्रम में वह आगे लिखते हैं— ऐसा कोई नियम नहीं है कि परम्परा की रीति परम आवश्यक होने पर भी न बदली जाए। यदि मान लें कि बदली जाए, तो केवल मुख से कह सकते हैं। परन्तु कार्य यदि उसके विरुद्ध किया जाता है, वह न केवल लौकिक कार्यों में परंतु धर्म कार्यों में भी परिवर्तित हो जाता है।

सामाजिक गतिशीलता में रूढ़ियों के टूटने और सोच-विचार से परिवर्तन करते जाने की आधुनिकता और प्रगतिशीलता हम सहज ही देख सकते हैं। अंध परम्परा को छोड़ देना चाहिए क्योंकि वह जीवन और समाज को आगे नहीं ले जा सकती। इसके पीछे खड़ी नैतिकता के पाखंड को उन्होंने तार-तार कर दिया। उस पर तीखी चोट की। अंग्रेजी और अंग्रेजों की बदौलत प्रगतिशीलता और आधुनिकता मानने वाले आधुनिक औपनिवेशिक विचारकों को कौन बताए कि गोस्वामी जी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ने यह सब अंग्रेज चिंतकों को पढ़कर नहीं किया बल्कि अपने ही देश, अपनी ही विरासत की नई व्याख्या की। यह सूझ अंग्रेजियत की देन नहीं थी बल्कि उनकी अपनी अंतर्दृष्टि थी जो तत्कालीन परिस्थितियों से पैदा हुई थी। लिखते हैं— 'आज यदि कोई राजा महाराजा अपनी किसी विधवा कन्या का पुनर्विवाह करना चाहे तो राजन्न-पोषित सब पंडित व्यवस्था दे देंगे कि विधवा विवाहं सशास्त्र है। परन्तु इन दुखियाओं को कौन पूछता है? वरंच पंडितों ने विधवा विवाह का खंडन अपनी जीविका का हेतु बना रखा है। शास्त्रार्थ करके विधवाओं पर छुरियां चलाते हैं।' पंडितों की अर्थलोलुपता और स्वार्थ के साथ धार्मिक पाखंड की परत-दर-परत को गोस्वामी ने उकेरा है। वह इस समस्या के मूल आर्थिक और सामाजिक कारणों को स्पष्ट रूप से रेखांकित करते हैं।

धार्मिक रूढ़ियों और जड़ताओं को सामंती समाज की व्यवस्था ने ऐसी सुविधा सौंप दी थी कि मानसिकता में नए विचारों का प्रवेश ही अवरुद्ध था। इस व्यवस्था में सामंत और धार्मिक जागीरों का विशुद्ध आर्थिक हित सध रहा था। नवजागरण के रचनाकारों ने इस पर जोरदार चोट की। निःसंदेह इसमें गोस्वामी जी का स्वर अत्यन्त प्रखर था। आहत और आक्रोश के स्वर में उन्होंने लिखा—

'यह साठ लक्ष बाल विधवाएं आपकी जाति में हैं अथवा नहीं? यदि हैं तो इनके दुख दूर करने का क्या उपाय है? यदि कुछ उपाय नहीं, तो सबको एक बड़े मैदान में खड़ा करके तोपों से उड़ा दीजिए या जहाजों में बिठलाकर समुद्र में डुबा दीजिए। नहीं तो एक-एक पैसे का शंखिया दे दीजिए। बस उनका दुःख मिटे।'

ये शब्द उनकी कलपती आत्मा के स्वर हैं। गुस्सा और करुणा फूट पड़ी है। वह इस गंभीर सामाजिक समस्या को गहरी मानवीयता से देखते हैं। वह इसकी जड़ में कट्टर, कूपमंडूक और क्रूर ब्राह्मण व्यवस्था को मानते हैं। ध्यातव्य है कि इसी समस्या को लेकर महात्मा ज्योति बा फुले ने विधवा स्त्रियों के लिए एक आश्रम खोला था— जिसका तीखा विरोध महाराष्ट्र के पंडितों ने किया था। इस पर करारी चोट करते हुए गोस्वामी जी ने आगे लिखा है— वह ब्राह्मण पंडित महाशयों! अब आपकी निर्दयता पराकाष्ठा को पहुंच गई, अब ऐसा समय नहीं रहा। अब राजा और प्रजा दोनों में मनुष्य की प्राण रक्षा बहुमूल्य समझी जाती है। आपका हठ बहुत दिन नहीं चलेगा, आप दीन-दुःखित विधवाओं का क्यों शाप लेते हैं।

स्त्रियों की बराबरी, उनके आत्म-निर्णय के अधिकार और स्वतंत्रता के सवालों को उन्होंने बड़े ही जोरदार तरीके से उठाया। उनका पक्का भरोसा था कल ज्ञान का प्रसार बढ़ेगा और स्त्रियां खुद अपने अधिकारों के लिए खड़ी हो

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जाएंगी। आगे आने वाले दिनों में नारी स्वतंत्रता और अधिकारों के आंदोलन की आहट उनके लेखन में स्पष्ट सुनाई देती है। लिखते हैं—

'हे विधवा विवाह के विपक्षी गण! हे अन्याय के आश्रयदाता जन! यह अंधेर बहुत दिन नहीं चलेगा, ज्ञान का सूर्य उदय होता है। स्वतंत्रता भारत में बढ़ती जाती है। स्त्रियों की दशा बदलती जाती है।' आगे लिखते हैं- 'वहं समय दूर नहीं है जब स्त्रियां स्वतंत्र होकर विधवाओं का पुनर्विवाह करेंगी और गवर्नमेंट से सहायता लेंगी?' उन्होंने प्राचीन शास्त्रों से उदाहरण देकर विधवाओं के पुनर्विवाह को धार्मिक रूप से नैतिक सिद्ध करने की कोशिश की। समाज को उद्बोधित किया और कानूनी प्रावधानों की भी समीक्षा की।

उस समय सामाजिक रूढ़ियां इतनी जबरदस्त थीं कि विदेश यात्रा करने वालों को समाज और जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। वे जातिच्युत करार दिए जाते। इस सामयिक समस्या पर उनकी विदेश यात्रा विचार पुस्तिका का असाधारण महत्त्व है। उन्होंने शास्त्रों से सप्रमाण सिद्ध किया कि विदेश यात्रा का हमारी परम्परा में महत्त्व था और यह गौरवपूर्ण कार्रवाई मानी जाती थी। साथ ही इससे भारत और समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसके किस तरह बहुविध लाभ हैं— इस पर काफी विस्तार से विचार किया। लिखते हैं— 'हमें विदेश यात्रा से रोकने वाले प्रथम ब्राह्मण पंडित, द्वितीय जाति के मुखिया लोग, तृतीय आचार-विचार हैं, शास्त्र की कोई आज्ञा नहीं कि विदेश मत जाओ। सो आचार-विचार का प्रबंध तो हो सकता है, ब्राह्मण पंडित और जाति के पुराने बूढ़े अंध परम्परा के आगे ब्रह्मा को भी नहीं मानते।'— गोस्वामी जी हर रूढ़ि के जिम्मेदार वर्ग में ब्राह्मण-व्यवस्था और धार्मिक ठेकेदारों को पहले रेखांकित करते हैं। ये लोग देश और समाज को आगे बढ़ने से रोकने वाले विकास के लिए सबसे बड़े संकट थे। इनके प्रभुत्व और वजूद पर वह बार-बार चोट करते हैं। इस मामले में उनमें अद्भुत साहस था। लिखते हैं—

'हिन्दू जाति इस समय एक ऐसे अदूरदर्शी अनुदार लोगों के दल के हाथ में है, जिसका जोड़ा सारे संसार में ढूंढा जाए तो 'रोम के पोप लोगों' के सिवाय दूसरा न निकलेगा। वह दल आजकल के दुराग्रही, स्वार्थी, देश के शत्रु, थोड़े से ब्राह्मणों का है। जो अपने गर्व के आगे इन्द्र को खर्व और अपने वचन को ईश्वर के वचन से भी अधिक माननीय समझते हैं और आंखों के अंधे व कान के बहरे इतर हिन्दू लोग उनके ऐसे वशीभूत व गुलाम बन रहे हैं। आगे वह और कटु हो जाते हैं और सबकी जड़ में इनको ही कारण बताते हैं— 'चाहे उनके वाक्य से ये लोग मिट्टी में मिल जाएं, चाहे उनके कहने से इनकी संतान का सर्वनाश हो जाए,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

परन्तु वह वही करेंगे, जो इनके गुरु घोघा पंडित अपने तम्बाकू से कटु मुख से कहेंगे, व सुंधनी से गन्दे दिमाग से सोचेंगे। भारतवर्ष की इतनी दुर्दशा क्यों हुई? ऐसे ही महात्मा ब्राह्मणों के चरणों के प्रताप से। जितनी खराबी इस देश पर आई, वह ऐसे ही दुर्विचार ब्राह्मणों के विचार और आचार से।'— गोस्वामी जी आगे उन तमाम कारणों को गिनाते हैं— जिससे हमारा पतन हुआ और सबके लिए इन पंडितों को ही जिम्मेदार ठहराया। इसी में उन्होंने लिखा है कि — 'किसने हमें परलोक का सब्जबाग दिखलाकर हमारे इस लोक की धन-दौलत लूट ली? किसने छुआछूत और चौका-चूल्हा चलाकर हमारा चौका लगा दिया, और हमें चूल्हें में डाल दिया? किसने हमें यंत्र, मंत्र और ज्योतिष के जगडवाल में पागल बहमी और असभ्य बना दिया?' वह ब्राह्मणवाद की धज्जियां बिखेरते हुए आह्वान करते हैं कि हम मिथ्याडम्बर, चतुर, दुराग्रही ब्राह्मणों की एक बात को भी नहीं मानेंगे और न इनके कुटिल कटाक्ष, व वानरास्फालन से डरेंगे क्योंकि देश और समाज की उन्नति ही अपने जीवन का व्रत है।

समस्याओं के विश्लेषण में साफगोई और निर्भीकता हमें सहज ही प्रभावित करती है। संकीर्ण जड़ता और ब्राह्मणवादी कट्टरता पर सीधी चोट है। उन्होंने इन पंडितों और जाति मुखियाओं की भर्त्सना करते हुए आगे बताया है कि सुशिक्षित लोग समय की जरूरत के मुताबिक नियम बनाते थे जिन्हें राजा कानून बनाकर पास करता था। आज के पंडित उनकी गद्दी पर बैठ गए हैं मगर इनमें उतनी समझ ही नहीं। ये मूर्खता में अंध परम्परा के वशीभूत व्यवस्था देते हैं। समझ यानी बुद्धिवाद (रैशनलाइजेशन) की तार्किकता के ऐसे ठोस प्रमाणों के बावजूद लोग भारतेन्दु युग पर वैष्णवी भावुकता और प्रतिगामी होने का एकांगी आरोप लगाते हैं — तो समझ में नहीं आता। गोस्वामी जी पत्रकारिता और वैचारिक लेखन में अत्यन्त रैशनल थे। वह ठोस विचारों वाले सही अर्थों में आधुनिक थे। लिखते हैं—

'यदि कोई व्यवस्था हुई, तो देश ने लिखा आप मुट्ठी गरम करके हस्ताक्षर कर दिया। विचार ऐसी तैसी में गया। रही समाज की उन्नति सो किस चिड़िया का नाम है, जानते ही नहीं! देश की क्या अवस्था है, उसकी कैसे उन्नति होगी, यह तो स्वप्न में भी नहीं देखा। मुझे बहुत से शास्त्री लोगों से काम पड़ा, परन्तु कोई भी देश की चिन्ता में मग्न न मिला। हमारे सुशिक्षित लोग जिस पर देश की उन्नति-अवनति निर्भर करती है, इन बातों के विषय में पंडित लोगों के कान पर एक जूं भी नही रेंगती। देश, काल, पात्र, राजा, प्रजा के विषय में तो ये लोग निरे 'बछिया के बाबा' हैं, तो भला ऐसे गोबर गणेशों से हमारी राजनैतिक, सामाजिक,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आर्थिक अवस्था सुधरेगी ?'— देश के प्रबुद्ध पंडितों की यही स्थिति थी, जिसके प्रभाव में हमारा तत्कालीन समाज था। लगभग एक सौ बीस वर्षों पहले रूढ़िवादी, आत्मविद्यालीन विद्वानों पर दो टूक मुहावरेदार शैली में किया यह प्रहार हमारी ठेठ देशभक्त जातीयता की पहचान कराती है। यह करारी चोट हमें चकित ही नहीं करती बल्कि समकालीन संदर्भों में हमारे दायित्व को और गंभीर भी करती है।

वे रूढ़िवादी ताकतें जब आज भी कायम हैं तो आज भी राधाचरण गोस्वामी की यह चेष्टा प्रासंगिक है। इन पंक्तियों में छलकने वाली निर्दोष देशभक्ति निश्चित रूप से उन तमाम आधुनिक बुद्धिजीवियों की खूबसूरत शैली में किए बारीक चिंतन पर भारी पड़ती है— जो अंग्रेज और अंग्रेजी की एकांगी आधुनिकता को अनिवार्य मानते हैं। गोस्वामी जी 'सुशिक्षित लोग' यानी बुद्धिजीवियों पर देश की उन्नति-अवनति निर्भर मानते हैं। लेकिन उनकी मेधा उन्हें मोहती नहीं और वे नीयत का सवाल उठाते हैं। उनका चिंतन देश, काल, पात्र, राजा, प्रजा के आसंग में रचनात्मक रूप से सार्थक हो— यह कसौटी सामने रखते हैं। मुझे आज के संदर्भ में यह कसौटी और बेशकीमती लग रही है। गोस्वामी जी ने इस आलोचना को काफी विस्तार दिया है।

भारतीयों के लिए विदेश यात्रा क्यों जरूरी है, कैसे यह देशोन्नति के लिए अनिवार्य है- इस पर गोस्वामी जी ने गंभीरता से विचार किया है। 'भारतवर्ष के बहिर्वाणिज्य के बढ़ने से यहां से लाखों मन गेहूं, चावल आदि अन्न बाहर जाता है, जिससे यहां रोज अकाल-सा बना रहता है और गरीबों के बहुत से रोजगार कलों ने मार दिए। बिचारे दिन रात कठिनता से अपनी गृहस्थी का पालन करते हैं और दूसरे टापुओं में उत्तम रोजगार मिलता है।'—यही कारण है कि भारतेन्दु युग के रचनाकार अकाल का दोष ब्रिटिश हुकूमत को देते थे। मशीनों के आने से बेरोजगारी बढ़ने की बात भी वह लक्षित कर रहे थे। इन्हीं परिस्थितियों में भारतीय कुली और मजदूर दूसरे देशों में गए— यह बात भी स्पष्ट होती है। अंग्रेजों ने रेल-तार की व्यवस्था भारतीय जनता के लिए नहीं बल्कि अपने लाभ के लिए की— इसे भी गोस्वामी जी ने लक्षित किया। रेल-तार के होने से व्यापार का मुनाफा देश में नहीं है। जो कुछ लाभ हैं, वह विदेश के व्यापार से है। जब तक हम लोग स्वयं उन देशों में न जाएंगे तब तक वहां की यथावत व्यापार की व्यवस्था नहीं जान सकते। आधुनिकता के वरण की यह ललक देश की उन्नति के लिए अनिवार्य थी— इस बात को वह गंभीरता से समझ रहे थे। इसीलिए आगे उन्होंने जोर देते हुए और स्पष्ट किया। हिन्दुस्तानियों को वह कल की विद्या

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जिससे यूरोप आज मालामाल हो रहा है, बिलकुल नहीं आती और उससे जो देश को लाभ होता है व उसके बिना देश को जो हानि होती है— उसको सब लोग जानते हैं। क्या यह कल की विद्या हम अपने इसी घोंसुए में बैठे-बैठे जान लेंगे? जो कोई हिन्दुस्तानी जानना चाहता है तो सबसे प्रथम देश के शत्रु उसकी गर्दन मरोड़ने को तैयार हो जाते हैं और उसका उत्साह भंग कर देश का सत्यानाश करते हैं। विवेक और पुरुषार्थ पर वह लगातार जोर देते हैं और नवीन ज्ञान-विज्ञान को अपनाए जाने की वकालत करते हैं। वह कूपमंडूकता के प्रबल विरोधी थे। यह एकोनविशंति शताब्दी जिसमें केवल 13 वर्ष बाकी हैं, जिसमें यूरोप, अमेरिका आदि देशों ने इतनी उन्नति की, विद्या का सूर्य मध्य गगन में चढ़ता जाता है, इस समय हम लोग हिन्दुस्तान में ही कूपमंडूक बने पड़े रहें? भला यूरोप की विद्या कला में बराबरी करना तो दूर, क्या उस देश को देख भी न सकें? वह भारतीय समाज में मिश्रण संस्कृति के भी पक्षधर थे। यह महत्त्वपूर्ण बात है। वेश-भूषा को लेकर भी पुरानपंथियों में आक्रोश रहता था इसके विरोध में गोस्वामी जी की राय थी कि— 'वस्त्र ऋतु के उपयोगी होते हैं। फिर जिन जाति सवैद जेता के अनुकरण में प्रवृत्र होती है, यह प्राकृतिक नियम है। जैसे बहुत सी बातें हमने मुसलमानों से लीं, वैसे ही अंग्रेजों से भी लें तो क्या दोष है!' इस तरह गोस्वामी जी में विवेकसम्मत संग्रह-त्याग की पहचान थी।

धार्मिक नेताओं के अलावा वह अपनी आलोचना में बिरादरी के मुखियाओं पर भी तीखी चोट करते हैं। निरक्षरता और मूर्खता के बावजूद उनके वर्चस्व का कायम रहना समाज के पिछड़ेपन और कलंक का प्रमाण है। वह इन्हें सड़े दिमाग वाला, तम्बाकू, सुंघनी वाले गंदे विचारों का कुत्सित मानते हैं जो देश की दुर्दशा के कारण हैं। वे देश की दुर्दशा के लिए जिम्मेदार हैं संभवतः इसी कारण उनके भीतर इतनी तीखी घृणा भी है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इन्हें देशद्रोही कहा है। वह पढ़े-लिखे भारतीयों से अपील करते हैं कि वे विदेश जाएं। नए विचारों को सीखें और लौटकर देश की दबी-कुचली जनता की उन्नति करें। ये बातें सिद्ध करती हैं कि आधुनिकता के वरण की उनमें कितनी गहरी ललक थी और आधुनिकता को रोकने वाली ताकतों के प्रति कितनी तीखी नफ़रत!

राधाचरण गोस्वामी धार्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे बावजूद धर्म के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त विवेकसम्मत था। धर्म की सच्चाई और धर्म के पाखंड को वह आसानी से समझ जाते थे। 'दो-चार धूर्त पंडित हैं, जो धर्म के नाम से कुछ पैदा कर लेते हैं। वह कोलाहल करते हैं। यदि कहो काशी के पंडित व्यवस्था नहीं देते, तो थोड़े से रुपए खर्च कीजिए जो चाहे सो व्यवस्था ले लीजिए।' धर्म

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के दलालों पर इस कठोरतम प्रहार में कबीर की वाणी का जोर है। धर्म के इस पाखंड के मूल भूमिका पर वह अंगुली रखते हैं— पैसा! धर्म और पैसे के इस खेल को साफ खोल देते हैं। धार्मिक ढकोसलों पर चोट करने वाले हिन्दी नवजागरण के इस रचनाकार ने जड़ताओं को पारिवारिक परिधि में ही गहरे महसूस किया था। हमारे देश में थोड़े से अकर्मण्य लोग ऐसे हैं जो दिन-रात धर्म की धांय-धांय करके मर मिटते हैं। वे समझते हैं कि धर्म के झूठे शंख बजाकर ही देश को स्वर्ग में पहुंचा देंगे। वे नहीं जानते कि इस समय भारतवर्ष को धर्म की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। उनके ये शब्द आज भी हमें उत्तेजित और आकर्षित करते हैं। आज की धार्मिक संकीर्णता इस चिंतन की प्रासंगिकता को और अधिक प्रमाणित करती है। प्रारंभ में वह खुद धार्मिक आग्रह रखते थे। लेकिन देशोन्नति के विचार ने उनके दृष्टिकोण को बदल दिया। वह धर्म के बाधक चरित्र को समझ गए। इस समय धर्म के मृषाडम्बर से बहुत से कुपोष्य संतानों का पोषण होता है। बस इसी से वह सब आवश्यक बातें छोड़कर धर्म की हाहाकार कर रहे हैं। जितना वह लोग अपने-अपने डेढ़ चावल के धर्म में मरे मिटते हैं, उतना देश की उन्नति में परिश्रम क्यों नहीं करते? हमारे विचार में देशोन्नति के साधन, बिना किसी धर्म के विचार के धर्म के होने चाहिए। अब केवल धर्म के लिए प्राण देकर कुछ न होगा। भारतेन्दु के साहचर्य और प्रयत्न से गोस्वामी जी के विचारों में निखार और पैनापन जरूर आया लेकिन वह अपनी कोशिशों से और आगे निकल गए।

आज अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और प्रेस की आजादी को लेकर जिस लोकतांत्रिक गौरव को हम अपनी उपलब्धियों में गिनाते हैं— उसकी नींव नवजागरण की ही देन है। उसकी ईंट रखने वालों में गोस्वामी जी का भी ऐतिहासिक महत्त्व है। प्रेस-एक्ट लागू करके जब समाचार पत्रों की स्वाधीनता छीनी जाने लगी तो राधाचरण गोस्वामी का स्वर गंभीर हो उठा। उन्होंने सार सुधानिधि में लिखा हमारी गवर्नमेंट ने प्रेस-एक्ट का प्रचार करके समाचार पत्रों की स्वाधीनता हर ली, विलायत तक अपील करने पर भी वह नहीं फेरी गई, देशी भाषाओं के समाचार पत्र उसके बिना अंतः शून्य हो रहे हैं। ...प्रजा बेचारी कुछ नहीं कर सकती, पर ऐसे प्रवाद का प्रचलित रहना, और लोगों का एक झूठी बात में विश्वस्त होना, एक सुसभ्य, गवर्नमेंट के राज्य में बड़ा भारी दोष है। ये बातें वह 1879 ई. में लिख रहे थे। प्रेस की आजादी के लिए उठे स्वर में इसका ऐतिहासिक महत्त्व है। वह बड़ी निर्भीकता से लिखते हैं कि 'हम देशी पत्र संपादक हैं, हमारा सत्य कहना तुम्हें बुरा लगा, हमसे खुशामद कराने के लिए

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रेस-एक्ट की घुड़की दिखलाई, हमारे ऊपर अपना आधिपत्य जतलाया पर तुम्हें क्या ? हम झूठ तो नहीं बोलते, तुम्हारी वृथा खुशामद तो नहीं करते।' — ये शब्द हिन्दी नवजागरण की पत्रकारिता का आदि मानस प्रतिबिम्बित करते हैं। गोस्वामी जी की जागरूक पत्रकारिता का महत्त्व इस बात से भी प्रमाणित है कि उनकी अनेक रचनाएं अंग्रेजी और अन्य भारतीय भाषाओं में अनूदित होंती थीं।

अंग्रेजों की स्वार्थपरता, कूटनीतिज्ञता को वह किसी तत्कालीन राजनेता की तुलना में ज्यादा समझते थे और तीखे व्यंग्यों की देशी चोट करते थे। तुम्हें क्या ? एक चतुर्दिक मार करने वाली ऐसी ही व्यंग्य रचना है। उनके व्यंग्य में जहां बेधने की शक्ति थी वहीं देशप्रेम भी भरपूर छलकता था। 'देशोपकारी पुस्तिका' और भारतवासियों की महादुरावस्था उनकी क्रांतिकारी पत्रकारिता के सुन्दर उदाहरण हैं। देश के प्रति उनकी मर्माहत करने वाली पीड़ा देशभक्ति के ऊंचे प्रतिमान को प्रतिष्ठित करती है। अब इस देश का धन सब नष्ट हो गया। यहां के निवासी दरिद्र, अकिंचत कर हो गए। रुपया सब धीरे-धीरे विलायत को चला जाता है— पैधन बिदेस चलि जात, यही अतिख्वारी। के क्रम में आप पाएंगे— देश के धन का विदेश चले जाना-भारतेन्दुयुगीन लेखकों की बड़ी पीड़ा थी। वे चाहते थे— सारे देशवासी देश की पीड़ा को उन्हीं की तरह महसूस करें। आगे लिखा है— हम सब भारतवासियों को अपने देश भारतवर्ष पर ममता करनी चाहिए और देश की दुर्दशा देखकर दु:खित होना चाहिए और देश की उन्नति करना अपना कर्त्तव्य जानना चाहिए। देश में सामाजिक स्तर पर जातियों के आपसी विवाद पर भी उनका ध्यान था। वह चाहते थे सभी के बीच एकता रहे— हालांकि समाज में जातियों की जो दारुण व्यवस्था थी— उस पर भारतेन्दु युग के लेखकों में सामग्री प्राय: नहीं मिलती। बावजूद उनका भाव ब्राह्मणवादी नहीं था। लिखा है— 'ब्राह्मण, स्त्री, वैश्य, शूद्र, चारों' वर्ण आर्य हैं, और परस्पर भाई-भाई हैं। उच्चता-नीचता देश संबंध में कुछ नहीं है। जातिगत ईर्ष्या, द्वेष छोड़कर परस्पर सहायता करें और देशोपकार में सच्चे चित्त से एकमत हो जाएं और उद्योग करें। एक-दूसरे को घृणा न करें। वह धर्म परिवर्तन के खिलाफ थे और जिस हिन्दू ने ऐसा किया है— उसकी पुन: अपने धर्म में वापसी के समर्थक थे। स्वदेशी की बात भी सबसे पहले भारतेन्दु ने उठाई थी— गोस्वामी जी सहित उस युग के सभी रचनाकार इस आंदोलन को बल दे रहे थे। गोस्वामी जी ने भी इसी पुस्तिका में आगे लिखा है- 'विदेशी चीजों का बहिष्कार करके देशी चीजों का व्यवहार करो। विदेशी चीजें यहीं बनाओ। देशी कारीगरी फिर से चेताओ। यहां किसी पदार्थ की कमी नहीं। इस विषय में महाजन द्रव्य पात्र लोगों को धन लगाने का शौक पैदा कराओ।'-

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

देशी उद्योगों के विकास और देशी कारीगरी को पुनर्जीवित करने की बात नवजागरण की अवधारणा को महत्त्वपूर्ण बनाती है। यहां कच्चे माल की कमी नहीं है। देशी पूंजीपतियों को देशी उद्योगों के लिए प्रेरित करने की बात में कोई भी समझदार व्यक्ति उनकी सहज राजनीतिक समझ को पहचान सकता है। वह सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्त्ता थे इसलिए जनता को जगाने, उसके भीतर उत्संाह भरने में अपनी पर्याप्त निर्भीकता प्रकट करते हैं। राजनैतिक सभा में सरकार से जो प्रजा के विषय में कठोर आज्ञा हो उसे उस सभा के द्वारा विनयपूर्वक सरकार से निवेदन करो। अपनी यथार्थ अवस्था प्रकट करने में सरकार से मत डरो। पार्लियामेंट में भारतवर्ष की ओर से प्रतिनिधियों के होने का प्रस्ताव करो, विलायत जाओ। वहां राजनीति का आंदोलन करो। वहां सिविल बैरिस्टरी, डाक्टरी आदि की परीक्षा दो। वहां कोठियां खोल कर व्यापार करो। वहां कलों का कार्य सीखो। जो विलायत व अन्यत्र समुद्र यात्रा करे, उसे जाति से बाहर मत करो। यदि जी न माने तो प्रायश्चित करा लो। लोकतांत्रिक भारत, समृद्ध कारोबारी भारत, आधुनिक जीवनोपयोगी शिक्षाओं से संपन्न भारत तथा मशीनों और व्यापार से अमीर भारत की कामना— राधाचरण जी के उदात्त व्यक्तित्व को उजागर करती है। उनमें आधुनिक भारत की एक सगुण परिकल्पना थी, स्वप्न था। उनके लेखन की मुख्य चिंता में देश था, जनता थी। जनता के प्रति उनका अनुराग सच्चा और विश्वास अटूट था और इस मायने में वह सचमुच हमारे आदर्श हो सकते हैं— 'हम सब देश हितैषियों से प्रार्थना करते हैं कि वे देश की उन्नति का मूल पब्लिक को समझें और पब्लिक में विद्या, अखबार और राजनीतिक विज्ञान का प्रचार करें।' जनता ही मूल में है। देश की उन्नति यानी जनता की उन्नति और यह तभी संभव है जब जनता में शिक्षा का प्रसार हो, जनता समाचार पत्र पढ़े और राजनीतिक विचारों का प्रचार हो।

राधाचरण गोस्वामी हिन्दी के अतिरिक्त, संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला, मराठी, गुजराती, उर्दू और उड़िया भाषा के भी जानकार थे। मगर उनकी भाषा सहज बोलचाल वाली मुहावरेदार और 'विटी' है। व्यंग्य इतने बेधक हैं जो हमारे जातीय गद्य की बुनियादी पहचान हैं। भाषा में तनिक भी संकीर्णता नहीं— बहाव ऐसा कि अंग्रेजी से उर्दू तक संस्कृत से देशी बोलियों तक के शब्द बिना किसी कटुता के एक साथ आते हैं। राधाचरण जी के गद्य में उद्‌बोधन बहक और विचार की आवेगमय तेजी, खंडन-मंडन और देश के प्रति अविरल ममत्व तो है ही मगर सबसे अधिक आकर्षित करता है उनका व्यंग्य। इतना ठेठ अंदाज कि तबियत फड़क उठे। उदाहरण के लिए मिस्टर बूट— नौकरशाही पर लिखी एक रोचक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

व्यंग्य रचना है जिसकी क्षिप्रता की मिसाल आज भी कम ही देखने को मिलती है। इसमें अपेक्षित विवेक-विचार, कल्पनाशीलता और निर्भीकता है। भाषा अनुप्रासित और छायावादी काव्यात्मकता लिए। एक तरह की चुस्ती, सघनता। छायावादी गद्यकार आचार्य शिवपूजन सहाय के गद्य का पूर्व-रूप मिल जाता है। आपके विषय में लिखने को हंमारी कलम बहुत दिनों से सुरसुरा रही थी। दवात महीनों से उधार खा रही थी। कागज हफ्तों से झख मार रहा था। अखबार दिनों से ताक लगाए था, पर बहुत दिनों से अकल को अजीर्ण हो गया था। बुद्धि को बुखार चढ़ा था। आज जहालत का जुलाव और बेसमझी का सिन्कोना खाकर तबियत दुरुस्त है। इस छोटी-सी रचना में पूरे अंग्रेजी राज्य में नौकरशाही के प्रभुत्व, प्रभाव और हस्तक्षेप के व्यापक तथा विविध स्थलों को उकेरकर पूरा रूपक ही खड़ा कर दिया है। अंत में उसी मुद्रा में सोचा-विचारा है- सोद्देश्य रचना ऐसी लिखते-परसाई के पितामह की तरह।

राधाचरण गोस्वामी जी की एक प्रसिद्ध व्यंग्य रचना है— यमलोक की यात्रा! रामविलास जी ने इसकी काफी विस्तार से चर्चा की है और इसे पूरे युग की प्रतिनिधि रचना कहा है। इसमें ऐसा वर्णन है कि— वे कुत्ते के साथ यमपुर पहुंचकर कहते हैं कि 'यदि गौ की पूंछ पकड़कर पार उतर जाते हैं तो क्या बैल से नहीं उतर सकते । जब बैल से उतर सकते हैं तो कुत्ते ने क्या चोरी की है ?' वहां भी उन्हें अंग्रेजों का ठाटबाट और काले निरीह भारतीयों की दुर्दशा दिखाई पड़ती है। 'गोरे जीव के आगे मेज, टेबल आदि लगी हुई, और चाय, कॉफी, बिस्कुट आदि धरा था। काले के वास्ते टाट और टूटी खाट और पुराना-धुराना हुक्का और कूंड़े की रोटी।' डॉ. शर्मा ने लिखा है— 'बीसवीं सदी के प्रगतिशील लेखकों ने धर्म, उच्च वर्गों के स्वार्थ और शोषक अधिकारियों के प्रति जो आंदोलन आरम्भ किया है, उसकी एक बहुत तेज झलक राधाचरण गोस्वामी में हमें मिलती है।' हिन्दी प्रदीप में उनका एक रोचक कोष छपा था जो उनकी जागरूकता को प्रमाणित करता है। कुछ उदाहरण— 'इंद्र-गवर्नर लार्ड रिपन यमराज-जज। बैतरणी-फौजदारी की कचहरी। यमदूत-पुलिस। स्वर्ग-विलायत। नंदनवन-लंडन। नरक-देशी-रजवाड़े। चार वर्ण— अंग्रेज, मुसलमान, बौद्ध, हिन्दू। ब्राह्मण-पादरी। शूद्र-हिन्दू। यज्ञ-अंग्रेजों की दावत। सत्कर्म, जिसे साहब प्रसन्न हो। यशस्वी-सी.एस.आई.या ई से जेड तक खिताबचारी। पुण्यवान-दरबार में कुरसी पाने वाला। धर्म ग्रंथ-अंग्रेजी पुस्तकें। मधुर भाषा-अंग्रेजी। जंगली भाषा-संस्कृत और हिन्दी। परम कर्त्तव्य-खुशामद। अकर्त्तव्य-देश का हित। पुण्य का फल-गोरा रंग। पाप का रंग-काला रंग।' दरअसल हिन्दी में व्यंग्य

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लेखन की स्तरीयता भारतेन्दु युग से ही हासिल हो गई थी। हम लोग अपने आप ही दुःख पाते हैं या 'हमारा विश्वास करो' रचनाएं भारतीय मानस की तत्कालीन कुलबुलाहट की अभिव्यक्ति कराती हैं। उनके रचे रोचक प्रहसन में तन मन धन श्री गुसाईं जी के अर्पण- आठ अंकों का एक दिलचस्प प्रहसन है। एक अमीर सेठ-अत्यन्त धर्मभीरू है। गुसाईं जी एक पाखंडी साधु है जो इसका लाभ उठाकर सब कुछ अर्पित करा लेता है। सेठ दंपति तो अपनी पुत्रवधू तक के अर्पण को तैयार हो जाते हैं। लेकिन नई शिक्षा में पला पुत्र हस्तक्षेप करता है और गुसाईं जी जेल चले जाते हैं। एक ओर ब्राह्मणवादी धार्मिक व्यवस्था के पाखंड पर करारी चोट तो दूसरी ओर नई शिक्षा से आई जागरूकता। दूसरा प्रहसन 'बूढ़े मुंह मुंहासे' में एक धार्मिक चौधरी पैसे का लोभ देकर एक मुसलमान स्त्री का शील हरण करना चाहता है। नाटकीय संयोग से उसका भांडा फूट जाता है और वह अपराध कबूलकर चरित्र परिवर्तन की कसमें लेता है। जिनका हिस्सा हड़प लिया था- उसे वापस करता है। इस प्रहसन की भाषा अपने समय से आगे की है। इस प्रहसन का सार-संक्षेप प्रस्तुत करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने टिप्पणी दी है कि — 'भारतेन्दु युग के नाटकों में राधाचरण गोस्वामी की यह रचना श्रेष्ठ है। इसका-सा नपा-तुला व्यंग्य, सधा हुआ शिष्ट हास्य, गठा हुआ कथानक, स्वाभाविक वार्तालाप आदि अन्य नाटकों में भी मिलेंगे।' परन्तु हिन्दू-मुसलमान, किसानों की एकता और जमींदार के प्रति उनकी विद्रोह भावना हिन्दी साहित्य में नई है। 19वीं सदी की अन्य भाषाओं के साहित्य में भी यह आधुनिक दृष्टिकोण ढूंढने से ही मिलेगा।

स्वाभाविक और सहज रूप से देखें तो गद्य की शुरुआत करने वाले ये तमाम रचनाकार कवि भी थे। छायावादी गद्य की तरह इनके गद्य में भी कव्य का स्पर्श अधिक है। सजल गद्य है। कविताएं गोस्वामी जी ने भी लिखीं, 'मंजुल' उपनाम भी रख लिया था। उनकी अब तक उपलब्ध कविताओं में मुझे होली एकमात्र महत्त्वपूर्ण कविता लगी। इसके एक-एक बंध में तत्कालीन समय के दुखते रग पर अंगुली रखी गई है। उसका आशय गोस्वामी जी की क्रांतिकारी चेतना का प्रमाण है। इनकी मौलिक काव्य नाटिकाएं और कविताएं अपने समय में भी उतना महत्त्व नहीं प्राप्त कर सकीं लेकिन कालिदास के श्रृंगार तिलक के पद्यानुवाद की प्रशंसा बालमुकुन्द गुप्त ने 'भारतमित्र' में की थी।

गोस्वामी जी थोड़ी जिद वाले भी थे। बिहार के तत्कालीन रचनाकार अयोध्याप्रसाद खत्री ने स्वयं को भारतेन्दु के समानांतर खड़ा किया और खड़ी बोली कविता का एक आंदोलन ही खड़ा किया। खड़ी बोली बनाम ब्रजभाषा को

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लेकर 'हिन्दुस्तान' और भारतमित्र में लंबा विवाद हुआ। भाषा-विवाद गद्य और पद्य की अलग-अलग भाषा रखने, न रखने के आसंग में था। गोस्वामी जी पद्य की भाषा ब्रजभाषा ही मानते थे। इस संदर्भ की उपलब्ध तमाम सामग्री आचार्य शिवपूजन सहाय और आचार्य नलिन विलोचन शर्मा द्वारा संपादित 'खत्री-स्मारक-ग्रंथ' में संकलित है। इस विवाद में गोस्वामी जी आवेग और जिद में थे। जिसके कारण उनके तर्क और विचार निरस्त हो गए। ब्रजभाषा के पक्ष में उनकी दलीलें ब्रजभाषा के लिए उपयोगी और मूल्यवान हो सकती हैं।

उनकी अन्य रचनाओं में अधूरा नाटक 'कलक्यवतार' श्रीमदंग्रेज देव महापुराण, उल्लू गाथा, रेलवे स्त्रोत आदि बहुत ही दिलचस्प रचनाएं हैं। उनकी मौलिक और अनुवादित पुस्तकों की उपलब्ध संख्या लगभग पचास है। 'भारतेन्दु' के लगभग 40-42 अंकों में तथा तत्कालीन पत्रों में प्रकाशित अनेक रचनाएं असंकलित हैं। नवजागरण के साहित्य की ऐसी घनघोर उपेक्षा घातक है। आधुनिकता का प्रमाद और परम्परा की अंधभक्ति समान रूप से गलत है। हिन्दी को समय-सापेक्षता में दोनों के प्रति आलोचनात्मक और रचनात्मक रुख रखना होगा। यह दायित्व हम सब का है और निःसंदेह महत्त्वपूर्ण भी है।

(स्रोत : राधाचरण गोस्वामी की चुनी रचनाएं : कर्मेन्दु शिशिर)

(मधुमती : मार्च 1990 ई.)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हिन्दी नवजागरण और माखनलाल चतुर्वेदी

भारत का राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन, संभवतः दुनिया के किसी भी देश के मुक्ति आंदोलन से अलग और विशिष्ट रहा है। इसका कारण इस देश का सामाजिक ताना-बाना रहा है। एक ऐसा देश, जिसमें विभिन्न धार्मिक विश्वासों, दार्शनिक मत-मतान्तरों की अनिर्णित अंतर्धाराएं, उनकी बहुस्तरीय वर्गों के स्वार्थों का आपसी संघात, समाज में रूचियों और स्वभाव की आश्चर्यजनक अस्त-व्यस्तता, परम्परागत तथा आयातित आधुनिक जीवन पद्धतियों और संस्कृतियों का तुमुल संघर्ष— यह सब और परस्पर विरोध बहुत कुछ यहां एक साथ मौजूद रहा है। आश्चर्य यह भी कि इतिहास के कठिन दबावों के बावजूद इस सबकी अबाध परम्परा, थोड़े उलटफेर के बावजूद आज तक कायम रही। एकता का मूल सूत्र समन्वय और सामासिकता तमाम आघातों के बावजूद बना रहा। शायद यही कारण है कि हमारे समाज के प्रत्येक काल-खंड आपस में सघन रूप से गुंफित रहे। अंतर्विरोधों की भिन्न-भिन्न धाराओं और दिशाओं के बावजूद इसकी सांस्कृतिक शक्ल लगभग कायम रही। यहां तक कि राजनीतिक स्तर पर अलग होने के बावजूद पाकिस्तान से गहरे प्यार और घनघोर नफरत की अजीब सी आत्मीयता कई युद्धों के बावजूद अब भी बनी हुई है। नागरिक जीवन-प्रक्रिया में ऐतिहासिक रूप से अनगिनत सामाजिक समस्याएं पनपती रही हैं और उनके साथ-साथ संघर्ष की परम्पराएं भी जो किसी काल में धीमी भले पड़ी हों, बिलकुल अनुपस्थित कभी नहीं रहीं। इसीलिए भारत का मुक्ति आंदोलन सिर्फ अंग्रेजों से अजादी की ही बात नहीं थी, बल्कि यह बहुआयामी और बहुस्तरीय मोर्चों पर लड़ा जा रहा मुक्ति आंदोलन था।

हमें यह बात खास तौर से याद रखनी चाहिए कि तमाम विविधताओं के बावजूद एक विशाल भूखंड में बहुत लंबे काल तक बहुआयामी और बहुस्तरीय

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मुक्ति आंदोलन का चलते रहना कोई साधारण बात नहीं थी। आप ध्यान दें— राजनीतिक पराधीनता के बावजूद सांस्कृतिक साहित्य का यह उत्कर्ष काल रहा। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन और हमारे साहित्य का विकास एक-दूसरे के समानांतर हुआ, एक-दूसरे से अविच्छिन्न! बेशक नवजागरण काल का साहित्य ही राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की प्रामाणिक मूल स्रोत सामग्री है। यह बात दूसरी है कि अभी भी इसका विशाल वाङ्मय हमारी विचार परीधि से बाहर है और ओट में पड़ा तेजी से नष्ट हो रहा है। यह देख कर आश्चर्य होता है कि आज बुद्धिजीवियों की एक ऐसी पौध पनपी है— जो इच्छित उद्देश्यों को ध्यान में रखकर अपने प्रपंचों को अतीत में रोपने की कोशिश कर रही है। ऐसे में जरूरी है कि मूल स्रोत सामग्री को सुरक्षित, संपादित और प्रकाशित किया जाए, तथा उनको बार-बार उल्टा-पल्टा जाए। कहावत है कि एक चिड़िया भी इतिहास के बाहर नहीं उड़ती। इसलिए किसी रचनाकार या रचना का मूल्यांकन भी उसके अपने समय, समाज के सरोकारों की कसौटी पर ही होना चाहिए।

इस दृष्टि से देखें तो माखनलाल जी और 'कर्मवीर' की महत्त्वपूर्ण भूमिका दोनों विश्व-युद्धों के बीच में है। यह राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का लगभग मध्यकाल है, जब संघर्ष अपने पूरे उत्कर्ष पर था। हर सचेत नागरिक देश के गर्भ में कसमसाते एक नए भारत की हलचल महसूस कर रहा था। महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन की आंधी उफान पर थी। लेकिन माखनलाल जी की रचनात्मक भूमिका को समझने के लिए हमें थोड़ा-सा और पीछे जाना होगा, जिससे उनकी मानसिक बुनावट की प्रक्रिया को समझा जा सके। उन्होंने लिखा है— 1905 से मैं क्रांतिकारी था। मात्र 14 वर्ष के किशोर मानस के भीतर मुक्ति का क्रांतिकारी ज़ज्बा और उन्मील आंखों में तैरते आने वाले भारत का स्वप्न! स्वभाव ऐसा कि यदि कोई मुझे छेड़ता तो फिर मेरे वैष्णव पद मुझे लड़ने और मारपीट करने से नहीं रोक पाते।

रामविलास जी ने लिखा है—'प्रतिरोध की यह प्रवृत्ति आगे क्रांतिकारियों से जुड़ने में पुष्ट हुई।' 16 साल की उम्र में तो वह बाजाप्ता क्रांतिकारी दल में शामिल हो गए। राजनीतिक परिदृश्य पर यह तिलक का काल था और माखनलाल जी उनके प्रभाव में थे। उन्होंने तिलक पर कविता तक लिखी। लेकिन अगर माखनलाल जी के संपूर्ण जीवन की सक्रियता और सृजन को देखें तो कभी किसी व्यक्तित्व या विचारधारा के वह अनुशासित अनुयायी नहीं रहे। जहां तक मुझे लगा, वह अपने समय में सक्रिय तमाम हस्तियों और प्रमुख विचारों के साथ संपर्क में जरूर रहे, मगर उनसे हमेशा एक स्वतंत्रचेता का ही रिश्ता रखा और

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

निजी सोच-संवेदना का विकास किया। वह पूर्व निश्चित या सौंपी राह पर चलने वालों में नहीं थे। अपनी सक्रियता और सृजन से वह सही अर्थों में एक रिबेलियन थे। तभी तो 1906 में शिक्षक होने के एक साल बाद ही हरदा से खंडवा आने पर उन्होंने अपनी सक्रियता का ऐसा विस्तार किया कि 1910 में त्यागपत्र देकर मुक्ति संग्राम के होल-टाइमर बन गए।

उनमें स्वतंत्रचेता का परिचय हम अन्य स्तरों पर भी देखते हैं। उन्होंने तिलक के प्रभाव में राष्ट्रीयता और उग्र अंग्रेज विरोध के विचारों को तो लिया, लेकिन उनके सामाजिक विचारों को पूरी तरह छोड़ दिया। वह महात्मा गांधी के हरिजन मंदिर प्रवेश आंदोलन में जमनालाल बजाज के साथ शामिल हुए तथा 1936 में महाकौशल हरिजन सेवक संघ की कार्यकारिणी के सदस्य भी बने। अपने समय के शीर्ष राजनेताओं मोतीलाल नेहरू, मदन मोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, पं. नेहरु, पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, टंडन जी, मौलाना शौकत अली से वह जुड़े रहे। जयप्रकाश नारायण और नरेन्द्र देव तो उनसे मिलने खंडवा तक आए। गांधी जी ने 1922 में उनकी गिरफ्तारी पर यंग इंडिया में संपादकीय लिखा और उनके साथ उनका गांव देखने बंबई तक गए। नि:संदेह तिलक के बाद उनके सोच, संवेदन और सक्रियता पर सबसे गहरा असर गांधी जी का ही पड़ा। लेकिन उनके विचारों और गतिविधियों का भूगोल हमेशा निश्चित सीमाओं का अतिक्रमण करता रहा क्योंकि वह मूलत: रिबेलियन थे। दरअसल उनके भीतर मुक्ति की ऐसी तड़प थी, जो उन्हें राष्ट्रीय संघर्ष में बावला बनाए रही। उन्हें जब जो राह सूझी, उस पर बेधड़क चल पड़े और आने वाली बाधाओं की कभी परवाह नहीं की। उनके संदर्भ में व्यक्तित्व और विचारधारा से अधिक महत्त्वपूर्ण, विचारों के प्रति नैतिक सरोकार था। तभी गांधी जी के प्रति पूरी निष्ठा के बावजूद उन्होंने क्रांतिकारियों के प्रति अपने लगाव को न तो कभी छिपाया और न ही आगे बढ़ समर्थन देने से गुरेज किया। आप काकोरी कांड, लाला हरदयाल, गोपीनाथ साहा, यतीन्द्र दास संबंधी टिप्पणियों में इसकी पुष्टि कर सकते हैं। किसी राजनेता के व्यक्त या कार्यों की आलोचना में भी रिश्ते कभी आड़े नहीं आए। यहां तक कि रूस के बोल्शेविकों के विचारों और रामचंद्र वर्मा की लिखी पहली साम्यवादी पुस्तक के पक्ष में लिखकर, उन्होंने अपने ही रास्ते का खुला अतिक्रमण किया। किसानों, मजदूरों के पक्ष में या अंग्रेजी साम्राज्यवाद की बहुविध आलोचनाओं में भी उनकी दृष्टि परम्परागत कांग्रेसी और गांधीवाद से भिन्न थी। इसके बावजूद सत्याग्रह और असहयोग के पक्ष में उन्होंने जोरदार टिप्पणियां लिखीं तथा झंडा सत्याग्रह (1923) बैतूल के जंगल सत्याग्रह (1930) और असहयोग आंदोलन

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

(1931) में सक्रिय भूमिका निभाई।

उनकी सक्रियता के कई आयाम थे। वह मध्यप्रदेश की राजनीतिक परिषद जन-जागृति संगठन, राष्ट्र सेवा मंडल और मध्य भारत हित बर्द्धक सभा से गहरे जुड़े रहे। जनता में सीधी सक्रियता का एक उदाहरण उग्र को लिखे 1923 के पत्र में देखें— 'मैं यहां इस जंगली प्रदेश में पड़ा हूं। गोंड़ और भीलों की इनं झोपड़ियों में उनके साथ, बिना बिने और बिना छाने गेहूं के मोटे रोट, दूध और अमियों के टुकड़ों के साथ बैठकर खा सकूं।' जनता से सघन सरोकारों ने उनके अनुभवों को विस्तार दिया था और मुक्तिकामी संकल्पों को दृढ़ता।

इन तमाम सक्रियताओं के गहरे असर को हम उनके मानस की बनावट में देख सकते हैं। लेकिन वह मूलतः साहित्यकार थे जो अपने राजनीतिक उद्देश्यों के लिए कार्यकर्त्ता के रूप में सक्रिय थे। इसलिए उनके साहित्यिक संस्कारों के सूत्रों की अनदेखी उचित नहीं। इस आसंग में सबसे पहला नाम माधवराव सप्रे जी का है— जिनके खुद के सोच-संवेदन के सूत्र सखा राम गणेश देउस्कर से जुड़े थे जिनकी ऐतिहासिक पुस्तक 'देशेरकथा' ने एक पूरी पीढ़ी को राजनैतिक रूप से दीक्षित किया था। 1904 से 1908 के बीच इस पुस्तक के पांच संस्करण हुए थे और इसकी 15 हजार प्रतियां बिकी थीं। हिन्दी में इसके तीन अनुवाद, पराड़कर जी, माधवराव सप्रे जी और माधव मिश्र तथा अमृतलाल चक्रवर्ती ने किए थे। अंग्रेजों ने इसे जब्त जरूर किया लेकिन मराठी, बंगला और हिन्दी में इसका विस्फोटक असर पड़ा। अनेक लोग इसे पढ़कर राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में शरीक हुए। इसमें अंग्रेजों के बहुस्तरीय शोषण और उसके दुष्प्रभावों का ऐसा वर्णन है, मानों देश के अंदरूनी हालात की एक्स-रे रपट हो। पूरी पुस्तक में रखे गए तथ्य, विश्लेषण और नीतियों की समीक्षा मन-मस्तिष्क को झकझोर देने वाली है। चार सौ पृष्ठों की अंतिम दो पंक्तियां हैं— 'अह के कहिबे ये सुदीर्घ कथा सम सिंधु अपार अगाध व्यथा।'

माखनलाल चतुर्वेदी के प्रसंग में देशेरकथा की चर्चा अकारण नहीं है। उनके सोच और नजरिए के सूत्र इस पुस्तक से गुंथे प्रतीत होते हैं। सप्रे जी के बाद उनकी सघन मैत्री गणेशशंकर विद्यार्थी से हुई। 1913 में प्रभा के निकलने और बंद होने के बाद वह कानपुर चले गए, जहां विद्यार्थी जी के ही सहयोग से प्रभा का पुनर्प्रकाशन हुआ। विद्यार्थी के जेल जाने पर प्रताप का संवादन वे ही करते थे। 20 नवंबर 1923 को उग्र के नाम पत्र में है— 'प्रताप' के संपादन पर मुझे बधाई मत दीजे। मैं जानता हूं भाई गणेश जी के जेल रहने तक किस दुःख से यह कार्य-भार मुझे स्वीकृत करना पड़ा है। इसी कड़ी में उनके दो और संपर्कों की चर्चा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जरूरी है— ये हैं बालकृष्ण शर्मा नवीन और रामबृक्ष बेनीपुरी से जो बाद में पटना से खंडवा आकर कुछ समय कर्मवीर से संबद्ध रहे।

अकादमिक दुनिया में इस पूरे दौर को छायावाद कहा जाता है, जिसकी संकीर्णता यह कि पूरा छायावाद चार प्रमुख कवियों-निराला, पंत, प्रसाद और महादेवी तक सिमटा रहा। इस दौर के गद्य को कभी विचार परिधि में शामिल नहीं किया गया। बेशक माखनलाल जी के गद्य में उन तत्त्वों की मौजूदगी है-- जो छायावाद के हैं। रामविलास जी इसके सूत्रों को भारतेन्दु युग से जोड़ते हैं। माखनलाल जी का भी इस युग की परम्परा, प्रवृत्ति और विचार से रिश्ता रहा था। उन्होंने भारतेन्दु के बारे में लिखा-- 'उन्होंने किसी राजा अथवा धनिक की प्रशंसा में काव्य-रचना को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया।' आगे लिखा— 'जिस प्रधान सूत्र में हिन्दी साहित्य के ये मोती पिरोए गए थे, वह था लोकजागरण का तेजस्वी सूत्र जो भारतेन्दु के मुद्राराक्षस, भारत दुर्दशा और नीलदेवी नामक नाटकों में सुलभ होता है।' वह रूस के नवजागरण पर टिप्पणी लिखते हैं— 'राजनीति अथवा समाज में जागरण लाने के लिए साहित्य परम अमोघ अस्त्र है। रूस का नवजागरण मैक्सिम गोर्की जैसे कलाकारों का अत्यन्त ऋणी है।' उन्हीं जैसा रचनाकार खुले मंच से यह कह सकता था कि— 'साहित्य रचना सिर्फ स्वाधीनता प्राप्ति के उद्देश्य से होनी चाहिए।' उनके लिए ऐसा ही था।

उनकी सक्रियता का भूगोल बहुव्यापक और बहुआयामी है। उनकी रचनात्मकता के अनेक विशाल कीर्ति-स्तूप हैं, जिसमें हम यहां सिर्फ 'कर्मवीर' की भूमिका पर विचार कर रहे हैं। 17 जनवरी 1920 को शुरू होने 1922 में उनके जेल जाने पर 1923 में कर्मवीर के बंद होने की कथा जबलपुर में घटी। फिर 4 अप्रैल 1925 से 11 जुलाई 1959 तक लगभग 35 वर्षों तक 'कर्मवीर' का नियमित संपादन और प्रकाशन अपने-आप में कीर्तिमान है। मुक्तिबोध ने उनके नाम लिखे पत्र में बताया है कि किस तरह वह प्रदेश में बीजों से वृक्ष बना रहे हैं। खंडवा से प्रकाशित 'कर्मवीर' पर 'मतवाला' की टिप्पणी थी— 'इसका संपादन बड़ी योग्यता से होता है। इसकी नीति गरमागरम, निडर और खरी है।' (9.5.1925) दरअसल इस दौर में हिन्दी पत्रों की एक पूरी कतार थी, जो सख्त और उग्र भाषा का प्रयोग करती थी, खास तौर से वह जो गणेश शंकर विद्यार्थी से प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में जुड़े थे। 'कर्मवीर' के विषय में विस्तार और मुद्दों की विपुलता में नहीं जाकर हम कुछ पक्षों पर उनके मन-मिजाज को समझने-जानने की कोशिश करेंगे।

माखनलाल जी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रपंचों के रग-रेशे से वाकिफ थे और अंग्रेजों के अंदरूनी चरित्र की उन्हें अच्छी परख थी। लिखा है— यूरोप में अंग्रेज जाति वीरता के लिए विख्यात नहीं है, विज्ञान में भी वह गिरी पड़ी सी है, परंतु छल-कपट और चालबाजी में वह सबसे बढ़ी हुई है। इसी स्वभाव ने उसे हिन्दुस्तान का शासक बनाया। (5 जून 1926) न सिर्फ इतना ही, बल्कि वह पूरे यूरोप की सभी जातियों को धोखेबाज, कूटनीतिज्ञ और डिप्लोमेट में निपुण मानते थे। उनके अनुसार वे अपने शत्रु को पहले डिप्लोमेसी से हराते हैं और जब वे हाथ नहीं आते तब शस्त्र उठाते हैं। भारत को भी अंग्रेजों ने अपने 'छलबल' से ही 'अधीन' किया था। अंग्रेजों ने भारत का आर्थिक शोषण और एशिया पर दबदबा कायम रखने के उद्देश्य से इंग्लैंड और भारत के बीच के तमाम देशों को अपने प्रभाव में लिया तथा जलमार्गों पर एकाधिकार किया। उन्होंने बर्मा, मलाया, स्याम, मेसोपोटेमिया और अरबों पर चढ़ाई की तथा वहां आपसी कलह के बीज बोए। इन तमाम बातों में माखनलाल जी की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यूरोप का एशिया पर दबदबा बनाने और शोषण के सवाल को रेखांकित करने की है। आगे भी उन्होंने इस सवाल को लगातार विस्तार दिया और भारत को एशियाई देशों के साथ जुड़ने पर बल दिया। यही कारण है कि यूरोप और एशिया के बीच सामरिक और आर्थिक संघर्षों की राजनीतिक गतिविधियों पर उनकी गहरी नज़र रही। एशियाई देशों की हर छोटी-बड़ी घटना को वे 'कर्मवीर' में लेते थे और अंग्रेजों की कुटिल नीतियों पर चोट करते थे। विश्व राजनीतिक गतिविधियों पर उनकी गहरी नज़र रही। विश्व राजनीति के पटल पर जो कुछ घटित हो रहा था, माखनलाल जी उस पर लिखते हुए, उसकी ओट में छुपी साम्राज्यवादी मंशा को बड़ी सहजता से उजागर कर देते थे। उदाहरण के लिए देखें — 'यूरोप का नवीन रण-क्षेत्र: एशिया' (3.10.1925)

इसमें इराक और टर्की के बीच मोसल क्षेत्र को लेकर ठने तनाव का विश्लेषण है। यह जंगली मोसल क्षेत्र अत्यन्त सामरिक महत्त्व का है। 'गरज यह कि तेल की खदान वाला तथा जंगलों से गठा हुआ वह हिस्सा तुर्की लिए बिना मानते नहीं हैं और ब्रिटिश सरकार अपना कब्ज़ा रखने पर आमादा है। इराक पर ब्रिटेन और टर्की के पीछे फ्रांस। अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने एशिया को तबाह कर रखा था—'टर्की में अंग्रेजी सेना लड़ेगी, चीन में अंग्रेजी रुपया लड़ेगा और भारत में बैठकर अंग्रेजी सरकार अपना साम्राज्य-रक्षण करेगी। ज़रा एशिया महाद्वीप के इस चित्र पर एक सावधान नज़र डालिए। वह यहीं नहीं रुकते बल्कि एशिया में मौजूद इस संकट की घड़ी में देश के हिन्दुओं और मुसलमानों के आपसी वैमनस्य का सवाल उठाकर उन्हें कोसते हैं, सचेत होने की सलाह देते हैं। वह

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

राष्ट्रीय हितों के आसंग में विश्व राजनीति की ऐसी समझ पैदा करना चाहते थे। वह बार-बार एशियाई देशों की मुक्तिकामी जनता के बीच समझदारी और मित्रता की बात करते थे।'

विश्व राजनीति में रूस, चीन, जापान, ईरान, इराक, अफगानिस्तान, दक्षिण अफ्रीका समेत, तमाम ब्रिटिश उपनिवेशों, आयरलैंड का स्वाधीनता संघर्ष और टर्की में मुस्तफा कमालपाशा की गतिविधियों पर उनकी गहरी नज़र थी। वह दुनिया में तमाम साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों को बड़ी सकारात्मक निगाह से देखते थे। मुस्तफा कमालपाशा के वह बहुत बड़े प्रशंसक थे। उसके आधुनिक सुधारों के समर्थन में लिखते हुए भारतीय मुस्लिम समाज में जागरूकता और आधुनिकता आए— इस बात पर जोर देते थे। खास तौर से स्त्रियों की स्वाधीनता के पक्ष को उन्होंने प्रमुखता से रेखांकित किया और भारत में भी बाल-विवाह संबंधी जो शारदा एक्ट था, उसका समर्थन किया। टर्की में ब्रिटेन और यूरोप का जो दमन चल रहा था, उसकी तीखी प्रतिक्रिया भारतीय मुसलमानों में हो रही थी। एक बार तो काउंसिल से मुस्लिम सदस्यों से हटने की बात कह दी। पूरी दुनिया के भारतीय मुसलमान टर्की के दमन का विरोध कर रहे थे। 'कर्मवीर' टर्की के साथ था— 'दुनिया के खूंखार ईसाइयों को यह मौका मिला है कि वे मुसलमानियत को नेस्तनाबूद करने का यह मौका हाथ से निकल जाने दें? किंतु हम देखते हैं कि टर्की आज एक ऐसा गरिष्ठ पदार्थ बनता जा रहा है, जो सहज में हजम होने की चीज न होगा।' (27 मार्च 1920

दरअसल 'कर्मवीर' ही नहीं, उस दौर के अधिकांश हिन्दी पत्रों में ये राजनीतिक उथल-पुथल प्रमुखता से छप रही थी। मुस्तफा कमालपाशा पर तो कई पुस्तकें तक छपीं। उनकी विचार सीमा में भारत तक ही अंग्रेजों की लूट और दमन का दायरा नहीं था, बल्कि तमाम ब्रिटिश उपनिवेशों और एशियाई देशों में उनकी कुटिल चालबाजियां उनकी कलम के निशाने पर रही। वह दमन और लूट के एक-एक पक्ष को उकेरते थे। उनके प्रति घनघोर घृणा व्यक्त करने का कोई भी मौका हाथ से नहीं जाने देते। ऐसे स्थलों पर उनकी भाषा का तेवर भी तल्ख हो जाता।

भारतीयों को दुनिया भर के ब्रिटिश उपनिवेशों में ले जाकर बसाने का सिलसिला पुराना था। इसके लिए अंग्रेजों ने क्या कुछ किया इसकी चर्चा हम आगे किसानों के प्रसंग में करेंगे। अंग्रेज अपनी छवि बचाने के लिए इसे गुलामी प्रथा से अलग, कुली प्रथा कहते थे और 'सारसुधानिधि' इसे गुलामी प्रथा ही सिद्ध कर रहा था। इसके चालीस वर्षों बाद माखनलाल जी 'कर्मवीर' में लिखते

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हैं— 'स्वाधीनता का ढिंढोरा पीटने वाले ब्रिटिश साम्राज्य ने कुली प्रथा का आविष्कार किया और 'मॉरिशस, पूर्वी, तथा दक्षिण अफ्रीका, ब्रिटिश गायना और फिजी आदि उपनिवेशों को प्राणांतकारी परिश्रम करके, सफेद चमड़े वालों के रहने, ऐश-आराम से रहने योग्य बनाने के लिए हमें कुली बनाकर भेजा गया। वहां जाकर हमने देखा कि हम कुली नहीं, गुलाम हैं। (29 मई 1920) वह भारतीयों के इस तरह अपमानित किए जाने से मर्माहत थे। वह रोष प्रकट करते हुए धिक्कारते भी हैं कि हम ही संसार के सबसे निरीह प्राणी हैं? 'मॉरिशस' में ट्रिनिदाद में, जर्मन ईस्ट अफ्रीका में जहां-जहां भारत के पुत्र बसे हैं, अपमानित किए जाते हैं, तिस पर भी ब्रिटिश गायना में भारतीयों को बसाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस तरह हमारे ही रक्त और वंश के कोई 20 लाख भारतीय हृदय अपमान की कलंकित मार से पद-दलित किए जा रहे हैं। (3 जुलाई 1920 ई.) वह गुस्से में थे कि जब भारतीयों ने अफ्रीका को रहने योग्य बना दिया तो उनको वहां से निकाला जा रहा है और दूसरी ओर नए ब्रिटिश गायना में भारतीयों को ले जाने के लिए प्रतिनिधिमंडल आया है। काउंसिल में मालवीय जी इसका विरोध करते हैं और सच्चिदानंद सिंह ने तो प्रवासी भारतीयों की दशा-दुर्दशा की जांच समिति की मांग कर बड़े विवाद को जन्म दे दिया। वहां सभी के लिए समान कानून है— माखनलाल जी ने इस दावे का जोरदार खंडन किया— 'वहां 1838 से भारतवासी जाने लगे। उनकी संख्या डेढ़ लाख है, मगर मताधिकार मात्र 1800 को मिला है। क्यों?' वह आगे लिखते हैं— 'क्या भारतवासी ही संसार में सबसे ज्यादा लावारिस प्राणी हैं?' (21.02.1920)

जिस अंग्रेजी साम्राज्यवाद के देश और देश के बाहर मचाए जा रहे तांडव को बड़े-बड़े इतिहासकार अपने बौद्धिक व्यायाम से अच्छी तरह समझा नहीं पाते, उसे माखनलाल जी जैसे हिन्दी लेखक सामान्य जनता तक को एहसास करा देते हैं। वह कोई मार्क्सवादी नहीं थे लेकिन अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों की उनकी समझ चकित कर देने वाली है। उनमें अंग्रेजों के राजनीतिक दांव-पेंच के भीतर छुपी आर्थिक मंशा की अचूक पहचान थी। अंग्रेजों के इजारेदार पूंजीवाद पर टिप्पणी देखें— 'अंग्रेजी उद्योग-धंधों को जिन्दा रखने के लिए इंग्लैंड के लिए आवश्यक है कि हिन्दुस्तान के कच्चे माल पर अपना नियंत्रण चलाए जिससे हिन्दुस्तान का बाजार अकेले उसी के हाथ में रहे और वह पक्का माल बना सके।' (16 मई 1925) वह बताते हैं कि हमारे विदेशी व्यापार का 64% अकेले इंग्लैंड से है। साथ ही ब्याज और मुनाफे से भारी रकम पैदा कर अनेक अंग्रेज परिवार जी रहे हैं। वह डंके की चोट पर कहते हैं कि भारत के ऊपर ही 4-5

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

करोड़ अंग्रेज पल रहे हैं। इसी लूट की बदौलत संसार में इंग्लैंड का दबदबा है। वह अपने पाठकों को बताते हैं कि अंग्रेज हमारे तमाम उद्योगों को चौपट कर रहे हैं और हमारे ही धन से अपना औद्योगिक विकास कर रहे हैं। एक वाक्य है— 'सिर्फ रिटायर्ड अंग्रेजों को 3 करोड़ रुपए तक पहुंचता है।' देश के धन के जाने का यह एक रास्ता है।

अंग्रेजों के इस आर्थिक शोषण से सबसे ज्यादा कौन वर्ग प्रभावित था— किसान और मजदूर। इसलिए किसानों और मजदूरों से संबंधित टिप्पणियों में उन्होंने अंग्रेजों की बर्बर लूट की अत्यन्त प्रामाणिक तस्वीर रखी है। उस समय के कई छायावादी रोमानी वाले रचनाकारों के लिए गांवों का जीवन बड़ा मनोहारी था। कुछ तो गांव और किसानों के प्रति नॉस्टालजिक भी थे, मगर माखनलाल जी नहीं। वह भारत को सिर्फ किसानों का देश नहीं मानते थे। एक ओर अंग्रेजों की लपलपाती धन लिप्सा तो दूसरी ओर भारतीयों की घनघोर गरीबी। लिखा है— 'अब तो इंग्लैंड को चाहिए, उसकी सोने की लंका के कई गढ़ अभी बनने बाकी हैं। इधर भारतवासी चिथड़े और टुकड़े के लिए मोहताज हो रहे हैं।' वह बताते हैं कि खेती पर निर्भर आबादी बढ़ रही है। आगे लिखते हैं— 'किंतु रायल कमीशन चाहता है कि भारतवासी और भी खेती पर ही जीने को विवश हों, यह भारत के भूखे पेटों, सूखी हड्डियों और गरीब किसानों की चुनौती है। क्या हम इस चुनौती को चुपचाप बर्दाश्त कर लेंगे? हमें एक स्वर से गर्जना करनी चाहिए— हमें खेती का ब्रह्म ज्ञान मत सिखाओ, हमें व्यापार की कुंजी चाहिए, हम प्राण रहते अपने बचे-खुचे बाजार तुम्हें हरगिज न हथियाने देंगे।' (24.04.1926)

वह अंग्रेजी हुकूमत की परत-दर-परत व्यवस्था को उधेड़कर लोगों को मुक्ति का मंत्र दे रहे थे कि अपने बाजार की रक्षा करो। बाजार को बचाओ। वह अंग्रेजों की चलने वाली चालों को शुरू में ही पहचान लेते थे और जनता को तभी सावधान करते थे। वह लोगों को बता रहे थे कि अंग्रेजों ने हमारे उद्योग-धंधों का ध्वंस कर अपना औद्योगिक विकास किया। कल वह गरीब था, आज अमीर है— कल हम अमीर थे, आज गरीब हैं। इसी टिप्पणी में उन्होंने व्यापारी मंडल के सामने विदेश व्यापार के सचिव का भाषण उद्धृत किया है— 'मैं अनेक वर्षों से इस बात का अध्ययन कर रहा हूं कि भारत में अंग्रेजी व्यापार कैसे बढ़े?' उन्होंने सुझाव दिया है कि भारत में दो करोड़ देशी हल चल रहे हैं, उसमें कम से कम 30 लाख अपने बनाए कृषि-यंत्र को बेच सकते हैं। 5 लाख कुएं हैं, पानी निकलने वाले पंप इंजन का लाख-डेढ़ लाख का खुला बाजार है। वह किसानों के बीच मौजूद बाजार की संभावनाओं की विस्तार से चर्चा करता है। खेतों में

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पानी देने, गन्नों के रस निकालने, आटा और चावल की मशीनें-इन सबके संभावित बाजारों की चर्चा करता है। किसानों के बीच विशाल बाजार की मौजूदगी के प्रति पक्की उम्मीद के ठोस कारण थे। उसने बताया कि परदेशों को 180 करोड़ का सोना-चांदी गया है, इससे प्रकट होता है कि यह ग्राहक कितना गांठने योग्य है। जब हमारी मशीनें किसानों के पास जाएंगी और वे कुछ उपजावेंगे तब वे सोना लेकर बाजारों में आवेंगे।

उनकी नीयत स्पष्ट है। जिन किसानों की थोड़ी अच्छी क्रय शक्ति है— वे कृषि के इस आधुनिकीकरण से और समृद्ध होंगे, तो वे कच्चा माल अधिक उत्पादित करेंगे। अधिक कच्चे माल से अंग्रेज, अधिक पक्का माल तैयार करेंगे। अधिक क्रय शक्ति वाले किसानों के बीच हमारे बाजार का विस्तार होगा और यहां के धन को वे अपने यहां ले जा सकेंगे। साम्राज्यवादी और पूंजीवादी शोषण-तंत्र को उन्होंने साफ-साफ समझा और जनता को सहज, सरल भाषा में समझाया। यही था नवजागरण, यही था मुक्तिआंदोलन का अमोघ अस्त्र! माखनलाल जी पक्के जासूस की तरह अंग्रेजों की हर चालबाजी का पता कर कर्मवीर पाठकों को लगातार चेताते जा रहे थे। वह प्रतिकार के लिए लगभग ललकार वाली भाषा में लिखते हैं— इसे किसानों के सर्वनाश की स्पष्ट रेखा कहना चाहिए। ऐसे समय हमें चाहिए हम संकट का सामना बुद्धिमानी से करें। सरकार तथा गोरे व्यापारियों ने हमारे गांवों पर आक्रमण करने की घोषणा कर दी। क्या हम अब भी नहीं उठना चाहते। (3.4.1926)

राष्ट्र के पहरेदार के रूप में उनकी चौकसी कैसी थी और इस काम के लिए वह किस तरह अप-टू-डेट रहते थे। इस टिप्पणी में देखें— 'इंग्लैंड से प्रकाशित होने वाले नाइंटीन्थ सेंचुरी' नाम के मासिक पत्र के ताजे अंक में मि. पिल्चर नाम के एक लेखक ने लिखा है कि 'अंग्रेजी माल की बिक्री की उन्नति के लिए आवश्यक है कि कृषि के सामानों को इंग्लैंड में पैदा किया जाए और हिन्दुस्तांन के किसानों में प्रचार किया जाए।' ऐसा लगता है जैसे पूरे इंग्लैंड में एक ही काम रह गया था कि गिद्ध की तरह भारतीयों के शरीर में मौजूद मांस के टुकड़े को हर हालत में हड़पना। माखनलाल जी उन लोगों का उपहास उड़ाते हैं, जो कृषि विकास के पीछे अंग्रेजों की भलमानसाहत देखते थे क्योंकि वह अच्छी तरह जानते थे कि 'इंग्लैंड की बनियाई वृत्ति से यह बात छिपी नहीं है कि हिन्दुस्तान की कृषि में अभी भी बहुत कुछ तरक्की करने की गुंजाइश है।' (3.4.1926) अंत में उनका एक ही निष्कर्ष था— 'हमारे देश का हित कृषि और कारखाने दोनों की उन्नति में है।' (वही)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वह गोंड़ और भीलों के साथ रहे थे। वह किसानों की पीड़ा से परिचित थे। वह देख रहे थे कि ब्रिटिश सत्ता के गिद्धों के अलावा जमींदार और ताल्लुक़दार जैसे बाज भी हैं, जो कृषि ऊपज का बड़ा हिस्सा ले लेते हैं तथा बेगार भी खटाते हैं। कोढ़ में खाज की तरह एक ओर जोंक वे साहूकार थे, तो प्राकृतिक प्रकोप अलग संकट था। इन हालात में पड़े किसानों के जीवन का मर्म उनकी टिप्पणियों में है, जो अमूमन इतिहास की किताबों में नहीं मिलता। जब रायल कमीशन आया तो लिखा— 'जमीन का मालिक जमींदार है और किसान केवल जमीन का किराएदार है। लाट साहब कहते हैं— इस कमीशन का यह काम होगा कि वह इस बात पर बहस करे कि जमीन का मालिक कौन है ?' इन तमाम दबावों से दबे किसानों के पास कोई रास्ता नहीं था। देशी उद्योग-धंधे खत्म हो चुके थे और ग्रामीण बेकारों की संख्या बढ़कर 13 करोड़ हो गई थी।

वह बहुत प्रभावशाली वक्ता भी थे। शायद इस कारण भी खास-खास स्थलों पर उनकी भाषा पर वक्तृता की छाप दिखती है। ऐसे स्थलों पर उनकी भाव-भंगिमा देखते बनती है— 'किसान को नहीं मालूम कि धर्म तब तक जिन्दा है, राज्य तब तक कायम है, ये सारी काउंसिलें तब तक हैं, जब तक वह अनाज उपजाता है और मालगुजारी देता है। जिस दिन वह इंकार कर दे उस दिन समस्त संसार में महाप्रलय मच जाएगा। उसे नहीं मालूम कि जिस दिन उसका खून चूसने के लिए न होगा, उस दिन देश में यह उजाला यह चहल-पहल यह कोलाहल न होगा। फौज और पुलिस, वजीर और वायसराय सब कुछ किसान की गाढ़ी कमाई के खेल हैं। बात दूसरी है कि किसान इस बात को जानता नहीं।' (25.09.1925) किसानों को इस बात का एहसास कराना ही नवजागरण पैदा करना था। जब तक जनता मुक्ति-सैनिकों के रूप में खड़ी नहीं होगी, तब तक हालात नहीं बदलेंगे। अंग्रेजी सत्ता के बोझ का सबसे ज्यादा भार किसानों की पीठ पर ही था। उसी की पीठ पर विशाल ब्रिटिश फौज टिकी थी। इसी फौज से अंग्रेज अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहे थे और जनता के असंतोष को बेरहमी से कुचल रहे थे। इसलिए वह किसानों को सचेत, जागरूक और संगठित करने को विकल बेचैन थे। किसानों को उठकर आंदोलन करना चाहिए, क्योंकि यही सारी जनता के हित में है। उनका विश्वास था कि किसान आंदोलन किसानों की ताकत-राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को अजेय बना देगी।

यही कारण था कि जब अवध के किसानों ने अपना इतिहास प्रसिद्ध आंदोलन शुरू किया तो कर्मवीर ने आगे बढ़कर इसका स्वागत किया। जब अवध के किसान अपने ज़मींदार ताल्लुकेदारों के ज़ुल्म और मनमाने अत्याचार से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ऊब गए, तो फैजाबाद में एक सभा आयोजित की। इसमें एक लाख किसानों की भागीदारी को माखनलाल जी ने एक चमत्कार माना। लिखते हैं—देश में यह पहला दिन था जब अपने दुःख दर्दों पर विचार करने के लिए एक लाख किसान इकट्ठे हुए थे और यह इकट्ठा होना उन लोगों के लिए बहुत बुरा था जो सत्ताधारी या जमींदार कहलाते हैं और जिनके व्यवहार से ही किसानों को कष्ट हो रहे हैं। उस सभा के उपदेशों और आदेशों के कारण किसानों में वह जागृति पैदा हो गई थी, जिसकी आशा कभी नहीं की जाती थी। (29.1.1921) नेहरू जी ने आत्मकथा में इस बात को स्वीकार किया है कि यह किसान आंदोलन कांग्रेस से बिल्कुल अलग था, जो असहयोग आंदोलन चल रहा था, उससे इसका कोई संबंध नहीं था। (54) जब किसानों की भीड़ अपने गिरफ्तार नेता बाबा रामचंद्र को देखने जेल की ओर बढ़ी तो पुलिस ने भीड़ पर गोली चलाकर 9 आदमी मारे, लगभग 30 घायल कर दिए। यह सरकारी रपट थी— यकीन नहीं होने के बावजूद माखनलाल जी ने रपट का हवाला दिया है। वैसी ही वृत्ता शैली में इस जागरूकता का वह अभिनंदन करते हैं— अवध के किसान जाग चुके हैं। पूंजीपति सरकार ताल्लुकेदारों की सहायता करती है और करेगी क्योंकि उसके जीवन की जड़ मजबूत बनाए रखने में पूंजीवालों की बड़ी भारी सहायता है। सरकार के लोहे के हाथ यदि सख्ती भी करें, तो भी किसानों पर अत्याचार किया जाना अब अधिक दिनों तक जारी नहीं रह सकता। किसानों के संगठन में शक्ति है वह अटूट शक्ति है जिसके सामने नाहल को रुकना और हिमालय को झुकना पड़ेगा। (वही) नेहरू जी ने अपनी आत्मकथा में आश्चर्य प्रकट किया है कि इतनी बड़ी घटना पर किसी अंग्रेजी अखबार में एक पंक्ति नहीं छपी। ऐसा था अंग्रेजी-हिन्दी पत्रकारिता के सोच और संवेदन का फर्क। आप खुद विचार करें कि आज भी अंग्रेजी पत्रकारिता में गांव कितना उपस्थित है? अब तो हिन्दी साहित्य में भी गांव पर केन्द्रित लेखन पिछड़ा माना जाता है। आप एक भी बड़े इतिहासकार का नाम बताएं जिसने इतिहास लेखन में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की मूल स्रोत सामग्री को आधार बनाया हो?

किसानों पर कहर बरपाने वाली दूसरी सत्ता देशी राज्यों की थी। माखनलाल जी ब्रिटिश सत्ता और देशी राज्यों के रिश्ते के यथार्थ को करीब से देख रहे थे। वह अपनी टिप्पणियों में लिख रहे थे कि किसानों के शोषण के अलावा अंग्रेज यह सोचते थे कि वे देशी राजे मुक्ति आंदोलन को कमजोर करने अथवा कुचलने में उनके काम आएंगे। वे नाभा-नरेश जैसे उन राजों के समर्थन में भी थे, जो मुक्ति आंदोलन के पक्षधर थे। वह लगातार अंग्रेजों के इस पाखंड को कोस रहे थे कि

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रजा का दमन करने के कारण, नाभा-नरेश को पदच्युत किया जा रहा है। बल्कि अंग्रेजों के चाटुकार राजे, तो बड़ी निर्ममता से प्रजा के साथ पेश आ रहे थे। खास तौर से इंदौर राज्य के प्रसंग में उनकी टिप्पणी सख्त थी। मतवाला के 30 जून 1928 के अंक में छपा है— 'खंडवा का सहयोगी कर्मवीर कभी-कभी इंदौर की जारशाही उफदर नौकरशाही शासन की पोल खोल दिया करती है। इससे हिज हाईनेस की सरकार उस पर सख्त नाराज हो गई है और प्रधान सचिव महोदय ने कर्मवीर संपादक को लिखा है कि भविष्य के लिए सावधान हो जाइए और भूत के लिए हाथ जोड़कर क्षमा प्रार्थना कीजिए, नहीं तो कर्मवीर के लिए फाटक बंद! प्रवेश निषेध!' कई देशी राज्यों ने कर्मवीर के प्रवेश पर रोक लगा भी दिया था। ब्रिटिश राज की तरह देशी राज भी अपनी प्रजा के कल्याण का पाखंड करते थे— इस पर माखनलाल जी ने बिफर कर लिखा— प्रजा तो हमारे नरेशों की कामधेनु है। यदि उसको तृण न दिया जाए, तो वह दूध कहां से दे। आगे लिखते हैं 'अपने ऐशो-आराम के लिए धन चाहिए और प्रजा इस धन प्राप्ति का साधन है, बस, इसीलिए उसका भी कुछ कल्याण सोचना पड़ता है। वह तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं कि प्रजा को अधिकार प्रदान करने की ढोलक बजाना भी आजकल फैशन का एक अंश है। लंबी-लंबी वक्तृता देना और बात है और वस्तुतः काम करना और बात है।' (14.2.1920) इसी टिप्पणी में उन्होंने उदाहरण दिया है कि मैसूर शिक्षित और आधुनिक राज्य है, बावजदू वहां प्रेस-एक्ट लागू है। बड़ौदा राज के दीवान ने आजादी के नेताओं को खुले राज दरबार में डांटा था। इसलिए वह देशी राज्यों की उन्नति योजना को ढोंग मानते थे। यह आंखों में धूल झोंकना था। वह देशी राज्यों का खात्मा चाहते थे।

अब हम माखनलाल जी और कर्मवीर के बहुपक्षीय विस्तार में नहीं जाकर सिर्फ एक जरूरी मुद्दे पर विचार करना चाहेंगे। वह है— हिन्दू-मुसलमानों की समस्या, जो आज भी उतना ही जीवंत मुद्दा बना हुआ है। इस मुद्दे पर सबसे बड़ी समस्या दृष्टिकोण बहुलता की है, जिसके पीछे विचार करने वाले की नीयत भी महत्त्वपूर्ण है। पहली बात यह कि क्या एक लोकतांत्रिक समाज में हम धर्म विहीन समाज के विकल्प को रोप सकते हैं? जबकि हमारे नाम ही एक हद तक हमारी धार्मिक पहचान प्रकट कर देते हैं। हिन्दी नवजागरण में राधामोहन गोकुल ऐसे पहले विचारक थे जिन्होंने 'ईश्वर का बहिष्कार' लिखकर अपने समय में तहलका मचा दिया था। वे सभी धर्मों की तीखी आलोचना करते थे और सभी धर्मों को समूल ध्वस्त कर वैज्ञानिक समझ पर समानता के आधार वाला समाज बनाना चाहते थे। उनकी परम्परा में एक राहुल जी को छोड़ दें तो उनके विचारों

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
की परम्परा का और कोई लेखक नहीं मिलता। आज नवजागरण पर विचार करने वाले बुद्धिजीवी हिन्दी नवजागरण को हिन्दू नवजागरण सिद्ध करने में जी जान से लगे हैं। यहां तक कि हिन्दू धार्मिक प्रतीकों को विषय बनाने वाले निराला तक इन लोगों की प्रहार की जद में आ गए हैं। इस लिहाज से माखनलाल जी भी वैष्णव संस्कार वाले थे और उन्होंने भी ऐसे प्रतीकों को अपने साहित्य का आधार बनाया था। वह गो-वध के विरुद्ध आंदोलनों पर लगातार लिखते रहे, ऐसे में उनके इस पक्ष पर विचार करना और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

कर्मवीर जब जबलपुर से निकला, उसी समय सागर के पारस रतौना में चमड़ा उत्पादन के लिए एक विशाल भू-खंड लिया गया। उस वक्त जर्मन कंपनियों का चमड़ा उद्योग में दबदबा था। उसे तोड़ने के लिए अंग्रेजी कंपनी सेंट्रल प्रार्विसेज ट्रेनिंग एंड ट्रेडिंग सामने आई। उसने यह भू-खंड लिया था जिसमें एक लाख 75 हजार का कसाई घर था। उसकी योजना परिसर में 77000 तालाब काटने का लक्ष्य था। कर्मवीर ने इसे मुद्दा बनाया और लगातार विरोध किया। एक स्थानीय मुसलमान नेता भाई अब्दुल गनी ने कसाई घर के विरुद्ध जनांदोलन खड़ा कर दिया, जिसका कर्मवीर ने जोरदार समर्थन किया। बाद में कंपनी को अपना निर्णय वापस लेना पड़ा। यह मध्यप्रदेश में अंग्रेजों की पहली पराजय थी।

कर्मवीर की इस भूमिका पर अपने मत बनाने के पहले हमें थोड़ा सा पीछे जाना होगा। ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीयों को ले जाने की पंरपरा शुरू हो गई थी, मगर उसकी गति धीमी थी। इसे आगे बढ़ाने के लिए मैटकाफ भारत आया और कुछ वर्षों तक अध्ययन कर अपनी रपट सौंपी। इस रपट में जो बात हैरान करने वाली थी— वह थी कि 1842 में यहां एक भी मजदूर नहीं था। जब उसकी नीतियां लागू हुईं तो कुछ ही वर्षों बाद इच्छित परिणाम आने लगे। 1881-82 की गणना में तो लाखों मजदूर निकल आए। तब से उसकी संख्या आज तक लगातार बढ़ती गई है। अंग्रेजों ने गांवों की कृषि, शिल्प और लघु उद्योगों को खत्म कर दिया और किसानों पर वर्ष में चार-चार टैक्स लगा दिए। जमींदारों, ताल्लुकदारों और साहूकारों के कई लोमहर्षक किस्से आज भी लोककथाओं में मिल जाते हैं। ऊपर से प्राकृतिक प्रकोप और कृषि में अवैज्ञानिकता और मशीनों का अभाव। ऐसे में बड़े पैमाने पर गायों और बैलों का वध करना सिर्फ हिन्दू धार्मिक प्रसंग नहीं था। मूल बात यह थी कि अंग्रेजों को बड़े पैमाने पर ऐसे अकिंचनों की फौज चाहिए थी, जिसे ले जाकर वे अपने उपनिवेशों को आबाद कर पाते। आप पाएंगे इसके बाद मॉरिशस गुयाना, त्रिनिनाद, फिजी, सूरिनाम जैसी जगहों पर जाने

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
वालों की बड़ी संख्या मिलती है। इन प्रवासी मजदूरों की करुण स्थितियों पर नवजागरण में काफी सामग्री है ऐसी जिसे पढ़कर कोई भी सहृदय आज भी मर्माहत हो उठे। यह अत्यन्त आपत्तिजनक बात है कि आज कुछ लोग इतिहास के यथार्थ पर खुद तो तलवार चलाते हैं, लेकिन अंग्रेजों के गो-वध के विरुद्ध चले आंदोलन को नवजागरण की पहचान बताते हैं। वे ऐसी ही सामग्री बड़े परिश्रम से ढूंढ-ढूंढकर लाते हैं और अपनी व्याख्या से उस युग को कलंकित करते हैं। वे लोग नवजागरण साहित्य के किसान-मजदूरों की दुरावस्था वाली सामग्री की निर्लज्जता से अनदेखी कर जाते हैं। इस बात के पीछे एक उद्देश्य है कि अंग्रेजों को न्यायप्रिय, आधुनिक और प्रगतिशील सिद्ध कर दलित-प्रसंग को और जहरीला किया जाए। इससे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की शक्ल को बड़ी बेरहमी से विकृत किया जा रहा है। भारतीय समाज में ब्राह्मणवादी व्यवस्था की और अंग्रेज आधुनिक, समानता के समर्थक और प्रगतिशील थे।

बेशक हिन्दू समाज में ऐसा था और दलित वाकई बुरी अवस्था में थे। दलितों का अंग्रेजों से जुड़ना भी बिल्कुल स्वाभाविक बात थी। लेकिन यह सवाल गो-वध के प्रसंग में बेमानी है। अंग्रेजों के गो-वध करने से हिन्दू समाज में समानता नहीं आ रही थी। जब खुद विक्टोरिया को इस नीति से अपनी समस्याओं की जानकारी हुई तो उन्होंने वायसराय को पत्र लिखा। पूछा कि जितनी गाएं मुगल काल के चार सौ वर्षों में कटीं, उससे अधिक तुमने चालीस वर्षों में ही क्यों और कैसे काट डालीं ? इसलिए बिना समग्रता में सारे तथ्यों को सामने रखकर विचार किए, इच्छित सामग्री लाकर मनमाने तरीके से विश्लेषण करना, वांछित सामग्री की अनदेखी करना और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की शक्ल विकृत करना यह बौद्धिक भूल नहीं— विशुद्ध पाजीपन है।

माखनलाल जी ने लिखा— मध्य प्रदेश में भी किसानों के योग्य जानवरों की सोचनीय कमी हो रही है। आगे लिखते हैं— 'बीमारी, अकाल, महंगाई और खेती के जानवरों की कमी के समय देश की खेती के जानवर काटने वाली कंपनी की सरकारी सहायता प्रजा का गला काटना और उसे विश्वासघात करना है।' यानी गो-वध वस्तुतः किसान-वध था। वह इसे हिन्दू धर्म का सवाल मान ही नहीं रहे थे। उन्होंने पैगम्बर साहब के कथन का हवाला दिया है कि गाय का गोश्त मर्ज है और दूध सफा है। मैं यहां यह भी उल्लेख करना चाहूंगा कि नवजागरण के रचनाकारों में हमारी तरह यह हिचक नहीं थी कि किसी मुस्लिम समाज के गलत कार्य का विरोध करने से धर्मनिरपेक्षता का सतीत्व भंग हो जाएगा। उनकी नीयत निर्दोष और मानस निष्कलुष था, इसीलिए वह निर्भीकता

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

से बेहिचक अपनी बात रखते थे।

उक्त कंपनी के प्रॉस्पेक्टस में साफ लिखा है कि सूअर के चमड़े का कारोबार किसी तरह भी नहीं होगा? कर्मवीर इस पक्षपात पर सवाल खड़ा करते हैं कोई उद्दंड हिन्दू तेवर नहीं अपनाता बल्कि, उलटकर इसमें छुपी अंग्रेजी कुटिलता को नंगा कर देता है। फूट डालने की कुटिल चाल थी यह! सोचना चाहिए कि समानता और आधुनिकता के आदर्श अंग्रेज एक तरफ हिन्दू-मुसलमानों के बीच ज़हर घोल रहे थे तो हिन्दू समाज के दलितों को समानता दिलाने में कैसे ईमानदार रहते? उनकी अपनी चाल थी। अपनी टिप्पणी में वह जबलपुर के सहयोगी उर्दू पत्र 'ताज' का हवाला देते हैं कि हिन्दु-मुसलमानों के वर्तमान संबंध के सामने सरकार की यह नीति चल नहीं सकती। 'सहयोगी' उन्हीं का विशेषण है। एक जगह लिखा— 'यह प्रश्न धर्म का नहीं देश की रोटियों का भी है। हम नहीं चाहते कि सरकार की कृपा से हमारे पास जोड़ने के लिए बैल और घोड़े, बहुबल के लिए गाएं न रह जाएं। (14.08.1920) हिन्दी पत्र 'कर्मवीर', उर्दू पत्र 'ताज' दोनों गोवध का विरोध कर रहे थे। स्वार्थ भिन्न नहीं और जमाना कह रहा है कि मुसलमानों की जरूरतों पर हिन्दू प्राण लेकर तैयार रहते हैं, और मुसलमानों के दिलों में अपने हिन्दू भाइयों के प्रति प्यार और हमदर्दी पैदा हो गई है। किंतु शासन के विधाता इसे देख नहीं सकते। इसे सदा ही ऐसे साधनों को ढूंढा और काम में लाया करते हैं जिनसे फूट के बीजों को पानी पहुंचे और उगने, फूलने तथा फलने का मौका मिले। किंतु यही हमारी आंखें खोलकर देखने का जमाना है। हमारा विश्वास है कि हम लोग हृदयों में भेद डालने वाली इस नीति से सावधान रहेंगे।

माखनलाल जी पूरे मुस्लिम समाज को सिर्फ एक धार्मिक इकाई के रूप में ही नहीं मानते थे। लिखा है— 'बंगाल, पंजाब में मुसलमानों की संख्या अन्य प्रांतों की अपेक्षा अधिक है। बंगाल के मुसलमानों में राष्ट्रीयता अधिक है, पंजाब के मुसलमानों में वह बात नहीं है।' उन्होंने बंगाल के दो नेताओं के इस वक्तव्य का विरोध किया है कि वे अपनी कौम को पहले और मुल्क को बाद में महत्त्व देने की बात कहते हैं। वैसे वह समझते हैं कि 'अल्पसंख्यक होने से ऐसा स्वाभाविक है, मगर इन दोनों नेताओं का ऐसा कहना निस्संदेह हिन्दू-मुसलमान वैमनस्य को घटाने वाला नहीं है।' अंतिम वाक्य की कथन-भंगिमा गौर करने वाली है। वह टर्की के मुस्तफा कमालपाशा के कथन का हवाला देते हैं— हम लोग धर्म के ऊपर राष्ट्रीयता को रखते हैं। आप इस बात पर गौर करें कि उत्तेजक राष्ट्रीयता वाले माखनलाल जी को असहमति, विरोध और आक्रमण के स्थलों की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कितनी बारीक पहचान थी और सटीक इस्तेमाल की दक्षता भी। उन्होंने कट्टरता के खतरों की पहचान और प्रतिकार में किसी धर्म विशेष के प्रति लाग-लपेट नहीं रखा। कट्टरता के समर्थक मित्रों को धीरे-धीरे इस बात का अनुभव हो जाएगा कि धर्म के एक या दो अक्षरों की आज्ञा का बवंडर खड़ा करके जिस झगड़े की बुनियाद रखी जाती है, उसका प्रतिफल उन्हें भोगना पड़ेगा। तर्क और समझदारी को तिलांजलि देकर केवल लिखी हुई लकीरों के फकीर होने वाले हिन्दुओं ने अपने समाज में ही विरोध की आग पैदा कर दी है। मुसलमान भाइयों की कट्टरता भी एक न एक दिन उनके बीच में यह आग अवश्य पैदा करेगी। संकीर्णता और कट्टरता का दूसरा परिणाम हो ही नहीं सकता। आगे लिखते हैं— कई छोटी-बड़ी जमातें मुसलमान भाइयों में मौजूद हैं। यदि समाज के नेता आज भी राष्ट्रीयता की ओर राष्ट्र धर्म की ओर अपने धर्म बंधुओं का ध्यान आकर्षित नहीं करेंगे, यदि जातिगत वैमनस्य की आग को समाज की जहालत से लाचार होकर क्यों न हों, वे सदा ही फूंकते रहेंगे तो निश्चय ही एक दिन ऐसा आवेगा जिस दिन मौलवी और मुल्लाओं की वही गति हो जाएगी जो आज पुराने लकीर के फकीर पंडितों की हो रही है। (13 जून 1925) आप उनकी चिंताओं पर गौर करें और दकियानूस हिन्दू-मुस्लिम समाज के प्रति समान दृष्टिकोण को देखें।

जैसे-जैसे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन तेज हो रहा था, अंग्रेजों की ओर से सांप्रदायिकता बढ़ाने की नित नई कोशिशें हो रही थीं। माखनलाल जी इसे लक्षित कर रहे थे— 'सन 1915 से 1922 तक हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समाजों में सांप्रदायिकता फूट निकली।' (19.5.26) माखनलाल जी की चिंता और विकलता का अंदाज कीजिए— वे भारतीयों को लज्जित करने के लिए टर्की मिस्लिअत पत्र का हवाला देते हैं। दुनिया के लिए भारत की गुलामी एक अचम्भे की चीज है। हिन्दू और मुसलमान दोनों एक-दूसरे का सिर फोड़ रहे हैं। गो, एक खून के, एक कौम के एक मुल्क के ये लोग हैं। मजहबी सनक पर वतन को बर्बाद कर रखा है। (14.08.26) वह तरह-तरह से दोनों धर्मों के समाज को राष्ट्रीयता का महत्त्व समझाना चाहते थे। वह इस बात से हैरान थे कि जो लोग ब्रिटिश जाति से अपने अपने अधिकारों को छीनने के लिए अपने रक्त की एक बूंद भी नहीं बहाते— वे ही सैकड़ों की संख्या में मर-कट जाने के लिए तैयार हो जाते हैं। (20.4.26) वह इस बात को गहराई से समझ रहे थे कि सांप्रदायिकता के बीज राष्ट्रीयता को कमजोर करने के लिए ही बोए जाते हैं। इसीलिए वह सांप्रदायिकता व कट्टरता के घोर विरोधी थे। उनका स्पष्ट और दृढ़ विचार था कि 'हम हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समाजों से एक ही सिद्धांत पर अपील कर सकते हैं, वह है एक राष्ट्रीयता

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

का । हमें इस बात का पूर्ण विश्वास है कि संकीर्ण प्रचारों की उम्र बहुत छोटी है, राष्ट्रीयता इस युग का संदेश है। (13.06.1925)

माखनलाल जी के विचार पिछड़े थे, वे गलत थे, काऊ बेल्ट वाले थे या सच्चे मुक्ति सैनिक थे— इसका निर्णय आप स्वयं करें।

अंत में हम सिर्फ यही कहना चाहेंगे कि राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का साहित्य इतिहास का कोई पाठ्यक्रम नहीं है। यह नए भारत के निर्माताओं का साहित्य है, जो खुद मुक्ति सेनानी थे। यह संघर्ष और परिवर्तन का साहित्य है। इसलिए नवजागरण के नायकों पर विचार करते हुए हमें तत्कालीन परिस्थितियों और अन्य तमाम पक्षों को तर्कसंगति में रखकर समग्रता में विचार करना चाहिए। जो अपने समय, समाज के सरोकारों के प्रति ईमानदार होगा और अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति सकर्मक होगा— वह कभी भी यथार्थ विरोधी निष्कर्ष नहीं निकाल सकता। हमें बौद्धिक विलास और अर्थहीन विवादों से बच-बचाकर नवजागरण साहित्य को देखना चाहिए। यह हमारे समाज के निकटतम अतीत की अत्यन्त मूल्यवान सामग्री है, जो आज की समस्याओं के प्रसंग में भी अत्यन्त जरूरी है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नवजागरण के सिपाही मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव

खड़ी बोली हिन्दी-नवजागरण के गर्भ से निकली एक ऐसी भाषा है, जो राष्ट्र के मुक्ति-संघर्ष में पली-बढ़ी और उसकी वाहिका बनी। ऐसा सौभाग्य शायद ही किसी भाषा को मिला हो। स्वाधीनता आंदोलन के बहुस्तरीय संघर्षों में इस भाषा की भूमिका को मूर्त्त करने वाले महान जननायकों की एक पूरी कतार है। उनसे प्रेरित और प्रभावित ऐसे अनेक गौण रचनाकार भी थे, जिन्होंने प्राण-प्रण से अपना सब कुछ उत्सर्ग कर इस भाषा को असाधारण प्रौढ़ता दी। इसमें अधिकांश समय के प्रवाह में ओझल होते गए या उनकी स्मृति धुंधली पड़ती गई। उनकी स्मृतियों को उकेरने में हमें एक ऐसी उत्तेजना का अनुभव होता है, जो हमारी चेतना को सबल-सक्रिय करने के लिए शायद आज कहीं ज्यादा जरूरी है। मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव की पहचान इसी नवजागरण की मशाल लिए आखिरी कतार में खड़े रचनाकार की है।

मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव हिन्दी में पूरी तरह बिसार दिए गए— ऐसा तो नहीं लेकिन उनकी रचनाओं का चयन/संपादन व्यवस्थित रूप से नहीं छप सका। वह निराला जी के अनन्य सखा और मतवाला-मंडल के मूल्यवान सदस्य थे— इसलिए उनके स्मरण की प्रासंगिकता बन आई। निराला जी ने अपना 'चाबुक' निबंध-संग्रह उनकी स्मृति को समर्पित किया और 2100/- रुपए का मंगलाप्रसाद पारितोषिक की राशि उनकी विधवा को दी थी। तत्कालीन लेखकों के समय-समय पर प्रकाशित संस्मरणों और पत्र-संग्रहों में उनकी स्मृति बनी रही। आचार्य शिवपूजन सहाय ने तो उन पर बहुत ही मार्मिक संस्मरण लिखा और कलकत्ता प्रवास के संस्मरणों में बार-बार स्मरण किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उनकी एक पुस्तक की प्रशंसा लिखी थी तो प्रेमचंद जी ने तो एक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पुस्तक की समीक्षा ही लिख दी। डॉ. रामविलास शर्मा ने निराला जी की जीवनी में उनकी विस्तार से चर्चा की है। 'मतवाला' में छपी उनकी व्यंग्य टिप्पणियों के संकलन-प्रकाशन के साथ एक पत्रकार के रूप में उनकी अपेक्षित पहचान सामने आई— जिसकी भूमिकाएं डॉ. रामविलास शर्मा और हरिशंकर परसाई ने लिखकर उनके लिखे को गौरवान्वित किया। प्रकाशन विभाग ने जिन तीस पत्रकारों का जीवनी-संकलन प्रकाशित किया उसमें उन्हें भी शामिल किया गया। नवजागरण की हिन्दी पत्रकारिता पर मेहनत से काम करने वाले डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र ने हर जरूरी प्रसंग पर उन्हे स्मरण किया है। अपनी परम्परा और पूर्वजों के प्रति हमारा जो रवैया है— उसे देखते हुए मुंशी जी अपने सरीखे कई दूसरे विस्मृत रचनाकारों की तुलना में किंचित ज्यादा सौभाग्यशाली हुए। यह सुखद और प्रीतिकर बात है कि अब नवजागरण के प्रति एक सकारात्मक जागरूकता आई है और तमाम प्रतिकूलताओं के बावजूद लोग उसके सेनानियों को स्मरण कर रहे हैं। इस उपक्रम को और विस्तार दिए जाने की आज जरूरत है।

मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव उत्तर प्रदेश जिला बलिया गांव चिलकहर के निवासी थे। उस जनपद के प्रसिद्ध क्रांतिकारी चंडीप्रसाद उनके ममेरे भाई थे। मुंशी जी के पिता बचपन में ही बैरागी बन घर छोड़ चुके थे इसलिए उनका जीवन भयानक गरीबी और अभावों के बीच शुरू हुआ। उपेक्षित और अनाथ बचपन के भविष्य संवारने की कोई गुंजाइश नहीं थी। पता नहीं विधाता की ऐसी कौन सी प्रेरणा थी उनके भीतर कैसी आकांक्षा पनपी कि उन्होंने गांव के छोटे से रेलवे स्टेशन पर जलते लैम्प की रोशनी में अक्षर पहचानना शुरू किया। एक ग्रामीण की कृपा डोर पकड़ रोजी-रोटी की जुगत में कलकत्ता चले आए और शुरू हुआ उनके कठोर परिश्रम और अद्भुत कर्मठता का दुर्लभ सिलसिला! इधर-उधर भटके, ट्राम में काम किया और फिर किसी तरह डाक विभाग में डाकिया का काम मिल गया। इस तरह उन्हें जीवन में पहली बार ठोस जमीन नसीब हुई— जब उन्हें लगा कि वह जी सकते हैं। डाक-वितरण में ही उनका संपर्क अपने समय के समर्थ पत्रकार पं. सदानंद शुक्ल और यशोदानंद अखौरी से हुआ। पठन-पाठन और विचार-बहस से संपर्क सघन होने लगा। काम के दौरान ही साप्ताहिक वीरभारत में काम करने वाले रामानंद द्विवेदी से उनकी मित्रता हुई और भाग्य देखिए मुंशी जी वीरभारत की संपादकीय टीम में आ गए। डाकिए से पत्रकार बने मुंशी जी के लगन, अध्यवसाय और सतत सक्रियता का ही सुफल था कि उन्होंने हिन्दी, उर्दू, बंगला और अंग्रेजी भाषा को साध लिया। वीरभारत में आते ही उन्होंने निष्ठा से काम करते हुए पत्र-व्यवस्था, प्रूफ, संपादन से प्रेस

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संचालन तक में दक्षता प्राप्त कर ली। उनके लेख लगातार पत्र में छपते थे और एक दिन वह वीरभारत के संपादक बना दिए गए। अध्ययन और लेखन का निरंतर सिलसिला चलता रहा— और मुंशी जी की गिनती अपने समय के प्रतिष्ठित पत्रकारों में होने लगी। वह हिन्दी के सुयोग्य संपादक, लेखक और अनुवादक के रूप में जाने जाने लगे।

उस समय कलकत्ता स्वाधीनता आंदोलन का ही नहीं, सांस्कृतिक और हिन्दी पत्रकारिता का भी केन्द्र था। सामाजिक आंदोलनों की धूम थी। व्यापारी वर्ग में भी नया उत्साह था। कई जातीय और धार्मिक संगठन भी इसमें शामिल थे और कई हिन्दी पत्रिकाएं निकल रही थीं। बंगला की चौहद्दी में हिन्दी तेजी से पसर रही थी। हिन्दी भाषी लोगों का एक बड़ा समाज था और जागरूक भी। वह सिर्फ कलम चलाने वाले रचनाकार ही नहीं थे बल्कि दूसरी गतिविधियों में भी सक्रिय हिस्सेदारी लेते। सभाओं में शिरकत करते। परिवेश अनुकूल था— इसलिए उनके परिश्रम का फल भी सामने आता गया।

राजनीति में लाला लाजपतराय उनके आदर्श थे। उनकी एक जीवनी भी लिखी थी। वह आर्यसमाजियों के ज्यादा समीप थे। उनके अंतरंग मित्र थे राधामोहन गोकुल, जो बड़े ही रेडिकल थे। निराला जी उनको गुरुवत मानते। मुंशी जी की उनसे गाढ़ी छनती थी। उर्दू वह हिन्दी की तरह लिखते थे और उर्दू का काफी साहित्य भी पढ़ा था, कुछ अनुवाद भी किए थे जिसमें 'बेगमों के आंसू' प्रसिद्ध है। इसलिए स्वभाव और विचार से सांप्रदायिक तो नहीं थे लेकिन हिन्दू धर्म के प्रति गहरे निष्ठावान थे। हिन्दू-मुस्लिम विवादों-दंगों से वह कभी-कभी विचलित भी हुए और मुस्लिम सांप्रदायिकता पर अपेक्षाकृत तीखे प्रहार तक किए। लेकिन दलितों के प्रति उनकी गहरी सहानुभूति थी इसलिए अछूत समस्या पर बड़ी चोट करने वाली टिप्पणियां लिखते थे। स्त्रियों के प्रति भी उनकी धारणा राधामोहन गोकुल से प्रभावित थी।

मुंशी जी का परिचय पटना सिटी के किशोरीलाल चौधरी से भी था। इत्र तेल की उनकी प्रसिद्ध कंपनी थी— भूतनाथ। उन्होंने मुंशी जी को सौ रुपए माहवार पर अपनी कंपनी का मैनेजर बना दिया। उक्त कंपनी के प्रकाशन का सारा कार्य बालकृष्ण प्रेस में ही होता था, जिसके मालिक थे महादेवप्रसाद सेठ। मुंशी जी से उनकी मित्रता क्या हुई, उन्होंने प्रेस और प्रकाशन का सारा जिम्मा ही उन्हें सौंप दिया। उसी प्रकाशन से छपी संपूर्णानंद की 'मिस्त्र की स्वाधीनता', निराला की पहली कविता पुस्तिका 'अनामिका', और मुंशी जी की पुस्तक 'गृहिणी-कर्त्तव्य'। नारी जागरण और भारतीय मूल्यों की नैतिक प्रतिष्ठा उस युग

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh Funding by IKS-MoE 2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जीने

की खास पहचान थी। मुंशी दमयंती, सावित्री–सत्यवान, पार्वती, शकुंतला, सीता और सती बेहुला के आख्यान रोचक और आकर्षक तरीके से लिखे–छपे। ऐसी रचनाओं का व्यापक पाठक वर्ग था क्योंकि उनकी गंवई पृष्ठभूमि थी। एक महत्त्वपूर्ण कारण तत्कालीन सामाजिक आंदोलन भी था, जिसमें जातीय परम्परा और पारिवारिक संस्कारों के प्रति गहरा नैतिक आग्रह था। ऐसी पुस्तकों के न सिर्फ लगातार संस्करण हुए बल्कि गुजराती, उड़िया और बंगला में उन पुस्तकों के अनुवाद भी छपे। लेखकीय प्रतिष्ठा और पैसे— दोनों दृष्टियों से मुंशी जी के दिन बहुरे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने मुंशी जी की प्रसिद्ध पुस्तक 'श्रीकृष्ण चरित्र' की मुक्त प्रशंसा की। श्रीकृष्ण चरित्र उनकी खोजपूर्ण पुस्तक थी।

प्रेस और प्रकाशन का कार्य भार बढ़ता गया तो सेठ जी के अनुरोध पर मुंशी जी उन्हीं के साथ आकर रहने लगे। जिस मकान में दोनों रहते थे— उसी के ऊपर आए 'समन्वय'–संपादक होकर पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी!

बिहार के आरा से एक पत्रिका निकली 'मारवाड़ी सुधार'! उसके संपादक शिवपूजन सहाय मुद्रण–प्रकाशन का कार्य वहीं से कराते थे। इसी क्रम में मुंशी जी और सेठ जी से उनकी अंतरंगता बढ़ी। अंततः इन चारों की जमती बैठकी में बात चली और तय हुआ एक साप्ताहिक निकाला जाए। अंततः 26 अगस्त 1923 को हिन्दी का प्रसिद्ध साप्ताहिक मतवाला का पहला अंक छपा। यह बात कम लोग जानते हैं कि पत्र की तर्ज पर ही मुंशी जी ने सूर्यकांत त्रिपाठी को नया उपनाम दिया— निराला। पहले अंक से ही मतवाला की धूम मच गई और मुंशी जी प्रतिष्ठित पत्रकार बन गए। वह मतवाला के प्राण थे। अपनी प्रखर राजनीतिक व्यंग्य टिप्पणियों से उन्होंने सभी का ध्यान आकृष्ट किया। आगे इसमें बेचन शर्मा उग्र भी शामिल हुए। जब 'मतवाला–मंडल' बिखरने लगा तो एक–एक सदस्य अलग हो गए— तब भी सारा भार मुंशी जी के कंधों पर ही टिका रहा। लेकिन उग्र जी के दबाव पर मतवाला कलकत्ता से मिर्जापुर आ गया और अंततः अपना तेज खो दिया। मुंशी जी का सब कुछ लुट गया और वह टूअर हो गए। फिर भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और 'मस्त मतवाला' निकाला लेकिन वह चला नहीं। अंततः उन्हें भूतनाथ के पूर्व मालिक के सहयोग से सरोज जैसी मासिक पत्रिका निकालने का सुयोग मिला। सरोज बड़ी ही सुसंपादित और महत्त्वपूर्ण पत्रिका थी जिसमें निराला,प्रसाद, शिवपूजन सहाय सहित अनेक लेखकों की प्रसिद्ध रचनाएं छपीं। बावजूद वह बात नहीं बन सकी और मुंशी जी को इलाहाबाद आना पड़ा।

प्रयाग में 'चांद' संचालक रामरिख सहगल मुंशी जी के प्रति सदय हुए और

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उन्होंने उन्हें 'चांद' का संपादक बना दिया। सहगल जी का मिर्जापुर में एक प्रकाशन संस्थान था— नरेन्द्र पब्लिशिंग हाउस— जिससे कई महत्त्वपूर्ण और क्रांतिकारी पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं। मुंशी जी की दो पुस्तकें उक्त प्रकाशन से छपी थीं— एक अनुवाद 'बेगमों के आंसू' और दूसरी छत्तीस देशों के स्वाधीनता संग्राम की गाथाएं 'पराधीनों की विजय-यात्रा।' मुंशी जी के 'चांद' में उनके संपादन सहायक थे— भारत में साम्यवादी पार्टी के संस्थापक और राधामोहन गोकुल के अनन्य सहयोगी सत्यभक्त जी! लेकिन अंदरूनी बात यह थी कि इलाहाबाद के कई तत्कालीन बड़े लेखक कलकतिया संपादक मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव को पसंद नहीं करते थे और कुछ खुद संपादक होना चाहते थे। 'चांद' संपादन के थोड़े ही दिनों में मुंशी जी ने अपनी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ा ली थी। मोतीलाल नेहरू जैसे लोग भी उनको आदर देते। एक बार प्रदर्शनी में टहलते हुए मिले तो साथ में इन्दिरा प्रियदर्शिनी भी थीं। उन्होंने भी मुंशी जी और उनकी पत्नी का अभिवादन किया, सम्मान दिया। इसकी चर्चा मुंशी जी की धर्मपत्नी ने स्वयं की थी। सहगल जी अंततः विचलित हुए और मुंशी जी को 'चांद' से अलग होना पड़ा। वह बुरी तरह बीमार पड़े और अपने गांव आ गए। स्वस्थ हुए तो पत्राचार किया और अंततः उसी पुरानी शरणस्थली को लौट गए। कलकत्ता आकर 'हिन्दूपंच' को पुनर्जीवित किया लेकिन वह भी ज्यादा दिन नहीं चला। फिर वह 'जागृति' के संपादक हुए। इसी क्रम में जुलाई 1939 ई में 50-51 की अल्पायु में उनकी मृत्यु हो गई।

मुंशी जी की तीन शदियां कीं— तीनों सगी बहनें। पंडित चंद्रशेखर पाठक मजाक करते— एक ही घर में तीन सेंधें। पहली पत्नी सोना देवी सिर्फ छः महीने रहीं। दूसरी कृष्णकुमारी चार-पांच वर्ष बाद मरी— उनसे एक बेटी थी जिसका विवाह उन्होंने मरने के कुछ पहले ही कर दिया था। मुंशी जी के मरने के बाद उनके परिवार की सहायता गांव वालों ने भी की। 'सरस्वती' संपादक पं. देवीदत्त शुक्ल ने विज्ञप्ति प्रकाशित कर एक कोश भी बनवाया था। निराला जी ने मंगला प्रसाद पारितोषिक के 2100/- रुपए उनकी विधवा को दिए। आचार्य शिवपूजन सहाय ने उनकी दोनों लड़कियों का विवाह अपने बेटे और भतीजे से कर लिया तथा बराबर उनके परिवार की मदद की।

उनका उपन्यास 'शांतिनिकेतन' एक आदर्शवादी उपन्यास है जिसमें पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभावों की आलोचना, उसके अपनाने के दुष्प्रभावों की चर्चा तथा भारतीय संस्कारों की पक्षधरता पर रोशनी पड़ती है। उनके पौराणिक आख्यानों में 'सती बेहुला', 'नल-दमयंती', पार्वती और चिंता बहुत ही रोचक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

और आकर्षक हैं। इसमें एक तरह का पाठ-सुख है जो तत्कालीन समय में स्त्रियों के बीच काफी लोकप्रिय रहा और इनका बंगला मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में अनुवाद भी हुआ। लेकिन इस क्रम में मुंशी जी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'श्रीकृष्णचरित' ही है जिस पर किंचित विस्तार से चर्चा होनी चाहिए। यह 448 पृष्ठों की पुस्तक 1922 ई. में कलकत्ते से छपी। श्रीकृष्ण को लेकर बंगला, मराठी, उर्दू और गुजराती में भी पुस्तकें छपी थीं। इस ग्रंथ में मुंशी जी ने श्रीकृष्ण को ऐतिहासिकता के समीप लाने की चेष्टा की है। उन्होंने कृष्ण संबंधी विपुल साहित्य का गहन मंथन कर उनके चरित्र को नए आलोक में प्रस्तुत किया है।

वह समय राष्ट्रीय जागरण का था। तब पुनरुत्थान का ऐसा सांस्कृतिक दौर चल रहा था जिसमें जनता को सांस्कृतिक नायकत्व की जरूरत थी। गुलाम देश की ऐसी जनता को जिसकी जातीय अस्मिता निरंतर पददलित की जा रही हो, उसके टूटते विश्वासों और क्षीण होती आशा को संबल देना जरूरी था यह अकारण नहीं था कि तत्कालीन सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षितिज के तीन जगमगाते नक्षत्र लाला लाजपत राय ने 'श्रीकृष्ण' और उनकी शिक्षा 'बाल गंगाधर तिलक' ने 'गीता रहस्य' और मदनमोहन मालवीय ने 'गीता तथा कृष्ण' ग्रंथ लिखे। इसमें कृष्ण के व्यक्तित्व की समय सापेक्ष नवीन व्याख्या प्रस्तुत की गई। पाश्चात्य संस्कृति के बढ़ते प्रभावों से साधारणजन की चेतना को सुरक्षा का विश्वास मिले— यह उद्देश्य था। दूसरी भाषाओं में बंकिमचंद्र चटर्जी की 'श्रीकृष्ण चरित्र' प्रोफेसर बासवानी की 'श्रीकृष्ण', हजरत ख्वाजा हसन निजामी की 'श्रीकृष्ण बीती' और दुर्गादास लाहिड़ी की 'पृथ्वीर इतिहास' प्रमुख थे। प्रसिद्ध पत्रकार लेखक लक्ष्मीनारायण गर्दे के संपादन में तो 'श्रीकृष्ण-संदेश' पत्र ही प्रकाशित होता था, जो उग्र राजनीतिक विचारों की पत्रिका थी। मुंशी जी ने इन पुस्तकों के अतिरिक्त कृष्ण संबंधी पुराणों का भी गहन मंथन किया था। इसकी शैली पौराणिक औपन्यासिक है। भाषा प्रवाहमयी और प्रांजल, गद्य परिष्कृत तथा भाव तत्कालीन राष्ट्रीय संदर्भों का स्पर्श करता हुआ है। प्राच्य ग्रंथों के कथात्मक आधार की मीमांसा ऐतिहासिक प्रमाण प्रसंगों की दृष्टि से की गई है। कथाभेदों की प्रामाणिकता या अन्य मतों का उल्लेख यथास्थान टिप्पणियों में किया गया है। मथुरा पर जो शोधपरक अंश है, उसका तो आज भी पुनर्प्रकाशन किया जाना चाहिए।

मुंशी जी ने कृष्ण के समय सापेक्ष नायकत्व का जो चित्रण प्रस्तुत किया है वह महज कृष्ण-कथा भर नहीं रहकर समय की तात्कालिक अपेक्षाओं से एक सार्थक संवाद है। कृष्ण के लालित्य पक्ष और कीर्तन की कर्महीन मनोवृत्ति से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

इतर उनके कर्मयोगी व्यक्तित्व को रेखांकित करके वह नवीन सांस्कृतिक नवजागरण का संदेश देना चाहते थे। मुंशी जी हिन्दू मतावलंबी थे मगर उर्दू के बारीक जानकार— सांप्रदायिक संकीर्णता थी ही नहीं। लिखा है— 'किसी जाति को उन्नति की ओर ले जाने वाले कतिपय साधनों में इतिहास एक प्रधान साधन है, क्योंकि इतिहास-प्रदर्शित पूर्व पुरुषों के पदांक का अनुसरण करके ही हम अपनी उन्नति कर सकते हैं। भगवान श्रीकृष्ण का जीवन चरित्र, उनका कार्यकलाप और उनकी दी हुई शिक्षा हमारे भारतीय इतिहास की प्रधान सामग्री है। क्योंकि हमारे धर्म और समाज पर सर्वत्र ही उनके आदर्शों, कार्यों और अमूल्य उपदेशों का प्रभाव परिलक्षित होता है।' (भूमिका)

आगे उन्होंने बताया है कि प्राचीनकाल से कृष्ण के अवतारवाद की पूजा, रासलीला या नाटक मंडलियों एवं सुखसागर, प्रेमसागर, गीतगोविंद, ब्रजविलास इत्यादि पुस्तकों द्वारा कृष्ण के चरित्र-गायन की परम्परा रही। लेकिन उनका कहना था कि 'इससे श्रीकृष्ण-जीवन के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। अपने आदर्श चरित्रों द्वारा पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करने का जो पथ उन्होंने दिखलाया है, काल के प्रभाव से हिन्दू जाति उसे भूल गई है। इसी से उनके बताए हर मुक्ति-मार्ग का अनुसरण न कर कलि कपोल कल्पित लीलाओं के प्रसार, कीर्तन और दर्शन में ही अपना समय और श्रम बर्बाद कर रही है।'

इसमें 'पूर्ण मनुष्यत्व' ध्यातव्य है। अवतारवाद की अंधविश्वासी हिन्दू संकीर्णता नहीं बल्कि मनुष्यत्व की बात करते हैं। लेकिन समय की अपेक्षा के अनुरूप नवजागरण का स्वर उठा था। समाज में प्राण फूंकने के लिए ऐसे सार्थक कार्य जरूरी थे। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है— 'सौभाग्यवश कुछ दिनों से समय ने पलटा खाया है। गत सन् 1905 के स्वदेशी आंदोलन के समय देश में विशेष परिवर्तन दिखाई देने लगा। लार्ड कर्जन की कृपा से देशवासियों की मोहनिद्रा भंग हुई। सबसे पहले बंगाल, उसके बाद समग्र देश में एक अदभुत जागृति फैल गई। देशवासियों को अपनी अध:पतित अवस्था का ज्ञान हुआ और शत-शत वर्षों की पड़ी हुई पराधीनता की बेड़ी लोगों को असहाय प्रतीत होने लगी। उसी समय अनन्य देशभक्त तपस्वी अरविन्द, निष्काम कर्मयुवक वारीन्द्र, उल्लासकर और कन्हाई लाल की कृपा से जिस भगवान श्रीकृष्ण को अब तक केवल धर्म पुस्तक समझा जाता था, नहा-धोकर एक बार पारायण जिसके लिए पर्याप्त समझा जाता था— उसमें अब धर्मतत्त्व आदि कितने ही विषय दिखाई देने लगे। यहां तक कि नौकरशाही को उसमें राजद्रोह का भीषण भूत भी दिखाई देने लगा और बम तथा रिवाल्वर के साथ गीता की गणना भी राज्यनाशक वस्तुओं में

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

होने लगी।'

ऐसी सोच स्पष्टत: अपने समय से सीधे संवाद स्थापित करती है। कृष्ण और कंस की जो घटना आधार बनती है, उसको इस तरीके से प्रस्तुत किया जाता है कि उन्हें आप आसानी से तत्कालीन राजनीतिक प्रसंगों से जोड़ सकते हैं। श्रीकृष्ण आलोक से बिखरती सांस्कृतिक जागरण की प्रत्येक किरण नवीन आशा, स्फूर्ति दे सके— इसकी कोशिश पूरे आख्यान की भाषा में दिखाई पड़ती है। राष्ट्रीय जागरण के आलोक में श्रीकृष्ण-चरित्र प्रसंगों का जगह-जगह युगानुकूल वर्णन प्रेरणादायी और विचारोत्तेजक है। भाषा प्रांजल और मुहावरेदार है, उसमें प्रवाहमयता है। संपूर्ण आख्यान में अंत:स्यूत नवीन भाष्य का बोध झलकता रहता है। अंत में पच्चीस पृष्ठों का परिशिष्ट उनके विद्वतापूर्ण गंभीर चिंतन और जागरूकता का प्रमाण है। कृष्णावतार की दार्शनिक परिकल्पना का विवेचन अवतारवाद की पृष्ठभूमि पर किया गया है। उसके मूल तत्त्वों की विवेचना संक्षिप्त लेकिन सुलझी हुई समझ की परिचायक है। उनकी राजनीतिक उपलब्धि साम्राज्य की स्थापना अध्याय में है। यह बहुत ही अर्थगर्भी अध्याय है। शारीरिक बल और रणकौशल, सच्चरित्र, त्याग, योग-दर्शन, प्रेम और अलौकिकता के उपशीर्षकों में उनके व्यक्तित्व की विवेचना है। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण अंश 'नीतिज्ञता' उपशीर्षक का है जो मुंशी जी की मंशा को सामने लाता है।

बेशक आज के संदर्भ में धार्मिक चरित्रों या मिथकों को लेकर हमारे नजरिए में परिवर्तन आया है। हम गणेश-उत्सव की आवृत्ति करके कुछ हासिल नहीं कर सकते। मगर पराधीन जाति अपने इन्हीं नायकों के सहारे साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करती है। इसलिए इस पर विचार करते हुए तत्कालीन समय का ध्यान रखा जाना चाहिए।

मुंशी जी का सबसे मुखर और महत्त्वपूर्ण कार्य संभवत: उनका राजनीतिक लेखन है। उन्होंने 'वीरभारत, मतवाला, सरोज, चांद और जागृति' पत्रों का संपादन किया था, जिसमें 'मतवाला' के अलावा अन्य पत्रों की संपादकीय टिप्पणियां अब भी ओट में हैं। इसमें तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य पर सकर्मक प्रतिक्रियाएं हैं, आकलन और विचार हैं। राजनीतिक और सामाजिक गुलामी, राजशाही और नौकरशाही पर तीखी बेधने वाली उग्र प्रतिक्रियाएं और प्रतिकार, स्त्री-समस्या पर उनका प्रगतिशील नजरिया, धार्मिक पाखंडों और दलित समस्या पर उनकी मर्मांतक चोट करने वाली टिप्पणियां— ऐसे तमाम पक्षों पर उनकी कलम का शानदार करिश्मा हमें आज भी उत्तेजित करता है।

सन् 1934 में प्रकाशित 'पराधीनों की विजय यात्रा' उनके समय-समय पर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लिखे लेखों का संकलन है। इसमें छत्तीस देशों में चल रहे स्वाधीनता संग्रामों का संक्षिप्त वर्णन है। पूरी पुस्तक पराधीनता के विरुद्ध लड़ रही मुक्तिकामी जनता के जोश और जलवों से भरी है। इसकी भाषा अत्यन्त परिष्कृत और प्रभावशाली है। 488 पृष्ठों की इस पुस्तक में सबसे लंबा अध्याय भारत के स्वाधीनता संग्राम पर है। आयरलैंड, चीन और रूस के स्वाधीनता आंदोलनों पर भी विस्तार से चर्चा है। अफगानिस्तान, इटली, ईरान, कोरिया, मिस्र, स्विट्जरलैंड और स्पेन के स्वाधीनता संघर्षों पर भी किंचित विस्तार से चर्चा की गई है। इसमें भाषा के मुहावरेदार होने से बहुत प्रभावशाली गद्य रूप निखर आया है— 'उस समय पुर्तगाल तीन-तेरह की अवस्था में था।' अथवा 'आठवीं शताब्दी में अरबों ने पुर्तगाल पर कब्जा किया और लगातार दो सौ वर्षों तक उसकी छाती पर जौं दलते रहे। 'जैसा कि स्वाभाविक था भारत' संबंधी अध्याय की भाषा में विचार, दृष्टिकोण और तथ्य उतना ध्यान आकृष्ट नहीं करते जितनी भावपूर्ण आवेगशीलता। दरअसल उस समय राष्ट्रवाद का उन्मादी उभार भी था। भारत के बारे में लोगों का ख्याल था कि 'धार्मिक विभिन्नता' तथा विचार-वैचित्र्य के कारण भारत में स्वाधीनता की रक्षा नहीं होती। मुंशी जी इस विचार का तीखा प्रतिवाद कर ओजस्वी, भावप्रधान छायावादी गद्य में राजपुताना पौरुष का स्मरण करते हैं। महाराणा प्रताप को इंगित कर लिखते हैं— 'लगातार पच्चीस वर्षों तक वनों की खाक छानता रहा। गुलाब के फूल-से कोमल बच्चों को भूख से तड़पते देखा, घास की रोटी के लिए उन्हें बिलखते देखा, कोमल-शय्या पर विश्राम करने वाले अपने कलेजे के टुकड़ों को पत्थर की कठिन और खुरखुरी चट्टानों पर सोते देखा, कंकड़ीले रास्तों पर चलने के कारण नवनीत-कोमल पैरों से रक्त की धारा को बहते देखा, परन्तु अपने प्रण से विचलित नहीं हुआ। दिल को दहला देने वाली मुसीबतों का सामना किया, परन्तु स्वतंत्रता के कौस्तुभ-मणि-भाल को एक क्षण के लिए भी वक्षस्थल से अलग नहीं किया। वे कोमलांगी रमणियां, जिनकी रूप-राशि से राजमहल उभासित हो उठता था, स्वतंत्रता की रक्षा के लिए नंगी तलवारें लेकर शत्रु-सागर में कूद पड़ी थीं। माताओं ने अपने दुधमुंहे बच्चों की कमरों में अपने हाथों से तलवारें बांध कर उन्हें समर-क्षेत्र में भेजा था। नव-विवाहिता वधू ने अपनी तमाम आशा और हृदय के मधुर अरमानों को हंसते-हंसते मातृभूमि के चरणों पर अर्पित कर दिया था। हजारों बालाएं जातीय सम्मान और गौरव की रक्षा के लिए आग की गगनचुम्बी लपटों से लिपट गई थीं। आह! उन जौहर-व्रतधारिणी देवियों के आत्मोत्सर्ग की कथा किस कठोर हृदय की आंखों को अश्रु-सिक्त नहीं कर देतीं? स्वतंत्रता के लिए इतना त्याग किस जाति ने किया

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है।' (पृ. 282-83)

इस छायावादी मनमिजाज के गद्य की ओजस्विता उत्तेजित करने वाली है। यहां विचार पक्ष नहीं, भाव पक्ष ही मुखर है। इस पूरे आलेख में उन्होंने सूचनात्मक स्तर पर छोटी-बड़ी ख्यात-अल्पख्यात तमाम राजनीतिक रूप से हुई कोशिशों को समेटने की चेष्टा की है। निस्संदेह इसमें विप्लवकारी घटनाओं का खास तौर से वर्णन किया गया है।

मुंशी जी के सामाजिक सुधार संबंधी अनेक लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं। 'नवयुग' सामाजिक सुधारों की बड़ी ही महत्त्वपूर्ण पत्रिका थी, जिसमें सामाजिक कुरीतियों को लेकर बराबर विचारोत्तेजक लेख छपते थे। उसका एक अंक पर्दा-प्रथा पर था, जिसमें विभिन्न जाति समुदायों में इस प्रथा पर केन्द्रित लेख छपे थे। मुंशी जी का भी एक लेख छपा था— 'कायस्थों का परदा' (नवयुग वर्ष 1 सं. 5 पौष 1985 विक्रमी संवत)। लेख का प्रारंभिक अंश इस प्रकार है— 'नवयुग' का उषाकाल उपस्थित है। अज्ञानान्धकार धीरे-धीरे तिरोहित होने लगा है और सत्य की स्निग्ध मधुर ज्योति से दिशाएं उद्भासित हो रही हैं। जातियां जग गई हैं, इसलिए युगों की घोर निद्रा के बाद हिन्दू जाति ने आंखें खोली हैं और धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक बेड़ियां तोड़ फेंकने के लिए अत्यन्त व्याकुल हो उठी हैं। अब यह त्रिविध पराधीनता उसके लिए असह्य सी हो गई है। इसलिए चारों ओर सुधार की दुंदुभी बज गई। अछूतोद्धार, शुद्धि, विधवा-विवाह, बाल-विवाह विरोध, और वृद्ध-विवाह-निषेध आदि अत्यावश्यक आंदोलनों के साथ भारत के जिन स्थानों में स्त्रियों को पर्दे के अंदर रखने की सत्यानाशी प्रथा प्रचलित है, वहां इसके विरुद्ध भी तुमुल आंदोलन आरंभ हो गया है और धीरे-धीरे जड़ पकड़ता जा रहा है।

जाहिर है मुंशी जी की हिन्दू धर्म में आस्था थी। हिन्दू-समाज पर विचार करते हुए वह उसके अंदरूनी अंतर्विरोधों को उजागर कर परिवर्तन के संघर्ष कर रहे थे। जिस तरह उनका धार्मिक लगाव छुपा नहीं था, उसी तरह सांप्रदायिक सौहार्द भी। लेकिन उनकी वैचारिक चिंता में स्त्री-समाज और दलित समाज ही प्रमुख था। स्त्रियों की समस्याओं पर उनके लेखों और टिप्पणियों की संख्या अधिक है। इसी लेख में आगे लिखते हैं—

'मानो जन्मकाल से लेकर मृत्युपर्यन्त काल कोठरी का दण्ड भोगने के लिए ही विधाता ने इनकी सृष्टि की है। मानो वे इसीलिए बनी हैं कि आजन्म पराधीन पशु की तरह घरों में बंद रहकर प्राकृतिक लाभों से सर्वथा वंचित रहें।' किस तरह पर्दा-प्रथा स्त्रियों को नारकीय जीवन के लिए कैदी की जिन्दगी जीने को विवश

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

करती है। उनकी राय में 'यह नितांत मूर्खतापूर्ण भद्दी प्रथा को लज्जाशीलता का ही उच्च आसन नहीं प्रदान किया जाता बल्कि यह शराफत में और नफासत भी दाखिल है।' उनका मानना है कि इसमें पुरुष वर्ग सबसे बड़ा दोषी है जो इस प्रथा को बनाए रखने में मुस्तैद रहता है— 'वे अपनी असूर्यम्पश्या श्रीमतियों को बड़ी सावधानी से छिपाकर रखते हैं। लोक-लोचनों की ज्योति तो क्या मैदानों में अटखेलियां करने वाली विमल हवा भी उनके पास तक फटकने नहीं पाती।' फलतः उनका स्वास्थ्य चौपट हो जाता है और वे बीमार हो जाती हैं। वे इतनी कमजोर हो जाती हैं कि जरूरत पड़ने पर अपनी आत्म-रक्षा भी नहीं कर सकतीं। अंत में कायस्थों के चित्रगुप्त पूजन कर्मकांडों पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं कि 'कायस्थ कान्फ्रेंस में हर साल ढेर के ढेर प्रस्ताव पास होते हैं, परन्तु संतान को दुर्बल और निकम्मी बनाने वाली इस प्रथा के मूलोच्छेद के लिए कुछ नहीं होता।' समाज में मौजूद जातीय व्यवस्था को वह छुपाते नहीं थे। उस समय जातिगत संगठन भी जागरण का एक तरीका था और तमाम संकीर्णताओं के बावजूद उसमें सुधारवादी कोशिशों की सकारात्मक भूमिका थी।

लेकिन मुंशी जी का संभवतः सबसे अधिक उल्लेखनीय कार्य 'मतवाला' में छपी टिप्पणियां ही हैं जिसमें तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य को बहुत ही विस्तार में समेटा गया है। राजनीति, समाज, साहित्य, राजशाही, नौकरशाही, धार्मिक पाखंड, दलित और स्त्री समस्या पर विपुल टिप्पणियां हैं। उसी में उनके प्रगतिशील और आधुनिक विचार परिपक्व रूप में विस्तार से सामने आए हैं जिसे मतवाले की बहक, चक्की और अग्रलेखों के संकलनों में देखा जा सकता है। उन सबका विवेचन यहां संभव नहीं। वह 'मतवाला' विवेचन क्रम में सामने आएगा।

इस तरह उनका राजनीतिक-सामाजिक लेखन बिखरा पड़ा है, जिसे संकलित संपादित किया जाना चाहिए। उनके लेखन में फूट पड़ती देशभक्ति की प्रबल भावना, दृष्टि की तीक्ष्णता और वैचारिक प्रखरता चकित कर देने वाली है। भाषा और देश के प्रति समर्पण की वह एक मिसाल थे। यह अकारण नहीं था कि एक बार रवीन्द्रनाथ ठाकुर से शिवपूजन सहाय के साथ मिलने गए तो उनकी हिन्दी के बारे में प्रतिकूल टिप्पणी से बुरी तरह आहत हुए। अंग्रेजों के समर्थन के कारण वह उनके विरोध से भी नहीं हिचके। नवजागरण की ऐसी आत्माएं हमेशा हमारे लिए एक आलोकदीप की तरह हैं।

(प्रभात खबर कोलकाता, 24 मार्च 2001)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जातीय गद्यकार आचार्य शिवपूजन सहाय

आचार्य शिवपूजन सहाय के साहित्य और साधना में जो बात सबसे पहले प्रभावित करती है, वह है हिन्दी के प्रति उनका दुर्लभ दाह। उन्होंने हिन्दी को अपने पांवों पर खड़ी करने में अपनी रचनात्मक प्रतिभा और लेखन तक की परवाह नहीं की और खुद को पूरी तरह भाषा के बहुविध विकास में होम कर दिया। उनका अपना जीवन मार्मिक दु:खों की डगर से गुजरा था और उनकी व्यथा अनेक स्तरों पर बेहद गहरी थी। उनके सक्रिय और सार्वजनिक जीवन में इस व्यथा का लगभग गोपन रहा। गोपन- यानी आत्मलीनीकरण का यह स्वभाव उनके लिए संस्मरणों से ही नहीं, उन पर लिखे अनेक संस्मरणों से भी प्रमाणित है। उनकी पीड़ा का जो हिस्सा समाज, साहित्य या भाषा की दुर्दशा से जुड़ा है— वह भी बड़ी मार्मिकता के साथ उनकी रचनाओं में आया है। मेरा ख्याल है उनकी बहुविध चिंताएं चाहें जितनी अक्रमित रूप में व्यक्त हुई हों, उसका पाट काफी फैला हुआ है।

वह नवजागरण की आखिरी कतार वाले हिन्दी लेखक थे, जिनके हिस्से स्वाधीनता संघर्ष के साथ लगभग डेढ़ दशक का आजाद भारत भी मिला था। वह स्वाधीनता की आंच में तपकर बड़े संकल्प से आजाद भारत में भाषा, साहित्य और संस्कृति की सेवा में समर्पित हुए। मगर आखिरी दिनों में मोहभंग की मार्मिकता से बुरी तरह पीड़ित रहे। आजादी के उछाह से सचेत करता उनका एक लेख स्वाधीनता की पहली वर्षगांठ पर छपा था, जिसमें उन्होंने विविध क्षेत्रों में योजनाबद्ध कार्यों को करने के संकल्प और उसे अगले उत्सव तक संपन्न कर लेने की खुशी में ही ऐसे उत्सव आयोजित करने की बातें लिखी थीं। गांवों और ग्रामीण संस्कृति की उन्हें गहरी पहचान थी और यह अकारण नहीं कि उनके साहित्य का काफी महत्त्वपूर्ण और बड़ा हिस्सा गांवों से जुड़ा है। समाज की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

खासकर गांवों की अज्ञानता, निरक्षरता, पिछड़ापन और बदहाली पर उन्होंने बड़े ही मार्मिक लेख लिखे हैं। गांव पर लिखे तमाम लेखों में ग्रामीण संस्कृति की बहुविध संपन्नता की आदर्श परिकल्पना उनकी मूल आकांक्षित प्रेरणा रही। ग्राम सुधार और 'अन्नपूर्णा के मंदिर' में उनकी गांव संबंधी ऐसी पुस्तिकाएं हैं, जो गांधीवादी विचारधारा के आदर्श परिवर्तन का व्यावहारिक ढांचा रखती हैं। लेकिन आजाद भारत के अनुभवों ने उन्हें बुरी तरह व्यथित किया, जो उनकी डायरियों और यत्र-तत्र लेखों में भी बड़ी मार्मिकता से व्यक्त हुआ है।

उनके संपूर्ण जीवन और लेखन में धार्मिक आस्था का स्वर अत्यन्त प्रबल था। उनके लिए मामूली सुख भी 'ईश्वर की कृपा' और बड़ा से बडा दुःख 'ईश्वर की इच्छा' थी। अपने जीवन में कठिन आस्तिक आचरण को साधकर खुद को साधक के रूप में हिन्दी के प्रति समर्पित कर दिया। हिन्दी प्रेम भी उनके लिए एक तरह से ईश्वर प्रेम की तरह था और उसकी किसी भी रूप में की गई कोई सेवा, पूजा भाव ही थी। हिन्दी सेवा ही उनके व्यक्तित्व का सत्व है और सीमा भी। एक मायने में उनका यह श्रद्धा भाव उनके सृजनात्मक लेखन के लिए आत्मघाती ही सिद्ध हुआ। मामूली से मामूली लेखकों की पाण्डुलिपियों के लगातार शोधन से सर्वथा शुद्ध प्रकाशन के आदर्श में प्रूफवाचन तक अपने रचनात्मक छीजन के वह खुद जिम्मेदार रहे। नतीजतन वह अपनी बहुविध प्रांजल, सजल और सधे गद्य कौशल के अनुरूप कृतियां नहीं दे पाए। उनके गद्य में हर सुधी पारखी को ऐसी कचोट महसूस होती है। हिन्दी गद्य और शैली पर ऐसे असाधारण अधिकार रखने वाले लेखक गिने-चुने ही हुए हैं। भाषा के मामले में वह व्यवस्थित गद्य लिखने वाले ऐसे समर्थ लेखक थे, जिनकी तुलना आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से की जाती है।

उनके संपूर्ण लेखन में एक नैतिक दृष्टिकोण का ऐसा हठ है, जो अंत तक बना रहा। इस मामले में उनके व्यक्तित्व और व्यवहार में महात्मा की अनुकृति थी। गांधीवादी सोच, संवेदन और सत्कर्म ने उनके मानस का ऐसे परिष्कार किया था कि निष्काम कर्म उनका जीवन-मूल्य बन गया था। वह अनेक मानवीय कमजोरियों से सहज मुक्त रहे। निश्छल और निष्पाप मन के आचरण से भिन्न वर्गों, समुदायों या परस्पर भिन्न भाव-सोच-कर्म वाले लोगों के बीच वह एक साथ आत्मीय बने रहे। दरअसल उनके स्वभाव में एक विचित्र तरह की विनम्र सहनशीलता थी। वह परस्पर विरोधी और प्रतिकूलताओं से निरपेक्ष रह, बच-बचाकर अपने उद्देश्य के अनुरूप डगर तलाश कर लेते रहे। उन्होंने अपने जीवन मूल्यों को नैतिक नींव पर रचा था और इसी दृष्टिकोण को रचनात्मक स्तर पर भी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संभव किया था। हम चाहें तो अपनी सुविधा के लिए उन्हे मानवतावादी या परम्परावादी कह सकते हैं। प्रबल धार्मिकता के कारण कहीं-कहीं उनमें पुनरुत्थान-वादी संकेत भी हैं लेकिन धार्मिक संकीर्णता, कट्टरता और पाखंडों की भरपूर तीखी आलोचनाएं भी हैं। वह सच्चे अर्थों में घनघोर रूप से धार्मिक थे और अपने निजी जीवन में सात्विक और नैतिक जीवन-मूल्यों कें प्रबल हिमायती थे। अपने समय में चल रहे साम्यवादी और समाजवादी आंदोलनों से अपने को अलग रखते हुए उन्होंने अपने लिए सुधारवादी राह तलाश ली थी। उन्होंने कहीं-कहीं प्रगतिशील आंदोलनों का भी विरोध किया है क्योंकि उनमें वैचारिक पिछड़ापन जैसा मिलता है। बावजूद जीवन और समाज के यथार्थ आकलन में कहीं कोताही नहीं बरती। यथास्थितिवाद के वह प्रबल विरोधी थे और समाज के संस्कार और सोच में बुनियादी परिवर्तनों के प्रबल प्रवक्ता भी। समय के साथ भाषा और समाज में पतन के निरंतर एहसास के बावजूद उन्होंने भाषा और साहित्य की बलिवेदी पर अपनी मौन शहादत दे दी। यह मौन ही उनके व्यक्तित्व की गरिमा थी और डॉ. रामविलास शर्मा से शब्द उधार लूं तो 'कवच' भी। रामविलास जी के बार-बार आग्रहों के बावजूद उन्होंने निराला जी के प्रति किए गए लोगों के अत्याचारों की चर्चा नहीं की। रामविलास जी ने लिखा है कि वह ऐसा करने में मृत प्रेतात्माओं का भय दिखाते थे, जबकि असल में उन्हें जीवित प्रेतों का भय था। उनके लगभग ढ़ाई हजार पृष्ठों के विपुल लेखन में संभवतः एक पंक्ति ऐसी नहीं जिसमें नाम सहित किसी व्यक्ति की आलोचना की गई हो। उनकी नैतिकता, जीवन और लेखन दोनों में दुराग्रह की सीमा तक बना रहा।

लेखन के अलावा उन्होंने हिन्दी के विवाद रहित सांस्कृतिक-व्यक्तित्व बनाने में अपना अप्रतिम योगदान दिया। आज का 'बिहार राष्ट्रभाषा परिषद' उनकी अलिखित कीर्ति का दूसरा गौरव-स्तंभ है। इस संस्था में उन्होंने पांडुलिपियों, प्राचीन साहित्य, नवजागरण काल की दुर्लभ पत्र-पत्रिकाओं और अप्राप्य पुस्तकों का विपुल भंडार एकत्रित किया। दूरदराज क्षेत्रों में जाकर खुद भी माथे पर पुस्तकों के बंडल उठा, कमर भर पानी लांघ, एक दुर्लभ पुस्तकालय खड़ा किया। उनका निजी संग्रहालय भी अपने महत्त्व में किसी अकेली जिन्दगी की संपूर्ण उपलब्धि है। परिषद में बिहार की आदिवासी भाषाओं सहित तमाम लोकभाषाओं के संत साहित्य, लोकगीतों, लोककथाओं, मुहावरों, लोकोक्तियों, पहेलियों, कहावतों, कृषि-देश संकलित कर प्रकाशित कराए। उन्होंने भारत संबंधी गैर अंग्रेजी ग्रंथों तथा गैर हिन्दी भारतीय भाषाओं के गौरव-ग्रंथों का प्रामाणिक अनुवाद कराया, जिनमें कुछ प्रकाशित भी हुए। प्राचीन भारतीय मेधा और भव्यता

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

को, वैज्ञानिक क्षमता और सांस्कृतिक संपन्नता को हिन्दी में लाने का महती कार्य किया। इतिहास, राजनीतिक शास्त्र, दर्शन, भाषा-विज्ञान, कोश, मूर्तिकला, पुरातत्व-शोध, अर्थशास्त्र, संचार, विज्ञान, भूगोल, खेतीबाड़ी, मुद्रण-कला, उद्योग-शिल्प सहित उन तमाम विषयों और विधाओं को समेटते हुए हिन्दी भाषा के व्यापक विस्तार को मूर्त्त किया। एक छोटे-से सरकारी संस्थान की तमाम चखचख और सीमित साधनों के बावजूद थोड़े से कार्यकाल में उन्होंने व्यापक क्षेत्रों में पहल की, जिससे हिन्दी भाषा की आत्मनिर्भरता संभव हो सके। अपनी-अपनी विद्या-विधाओं के तमाम तत्कालीन शिखर विद्वान विशेषज्ञों द्वारा जो ग्रंथ तैयार कराए, उनकी चर्चा करते हुए वासुदेवशरण अग्रवाल ने उन्हें 'दोग्धा' कहा था। मूल हिन्दी में उनके द्वारा कराए गए कार्यों में डॉ. मोतीचंद्र की 'सार्थवाह' वासुदेवशरण अग्रवाल की 'हर्षचरित : एक अध्ययन' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', राहुल जी का 'सरहपा' और 'मध्यकालीन एशिया का इतिहास', आचार्य नरेन्द्रदेव का 'बौद्ध दर्शन', गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी की 'वैदिक विज्ञान और संस्कृति' और 'पुराण परिशीलन' जैसी अनेक महान-कृतियां उनके निजी प्रयत्नों से ही संभव हो सकीं। मानविकी, प्रौद्योगिकी और चिकित्सा के विश्वविद्यालयी छात्रों को हिन्दी से जोड़ने की दिशा में भी उन्होंने कई मौलिक योजनाएं शुरू की थीं। बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन से पुस्तक भंडार तक अनेक बुनियादी महत्त्व के कार्यों की सूची काफी लंबी है। इसके अलावा उन्होंने भारतेन्दुयुगीन बिहार के कई लेखकों की ग्रंथावलियों का भी प्रकाशन-संपादन किया। उनके द्वारा संपादित स्मारक ग्रंथों का विशाल कार्य भी आज शोधार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। नए-पुराने रचनाकारों में जितने प्रेमचंद और प्रसाद जी जैसी हस्तियां शामिल हैं— उनकी पांडुलिपियों का शोधन किया। गांवों, कस्बों और नगरों में लगातार व्याख्यान देकर अपनी सांस्कृतिक सक्रियता का सकर्मक परिचय दिया। उनके बुनियादी महत्त्व के कार्यों की सूची काफी लंबी है। बिहार जैसे जातीय जकड़न और हिंसक प्रदेश में इतना कुछ कर पाना सचमुच आज विस्मयकारी ही लग रहा है क्योंकि अंत-अंत तक उन्हें निम्न स्तरीय अपमानजनक विरोध झेलने पड़े थे।

लेखन के नाम पर आचार्य शिवजी के पास एक उपन्यास, एक कहानी संग्रह, ढेरों निबंध, जीवंत संस्मरण, कई संकलन-संपादन और संपादकीय टिप्पणियों का विपुल जखीरा है। यह बिलकुल ही अव्यवस्थित है जैसा उनका अपना जीवन भी रहा। दरअसल वह हिन्दी के ऐसे 'होल टाइमर' थे, जिसके पास व्यवस्था का वक्त नहीं था। जाड़े की कड़कड़ाती रात में भोजन के बाद अंगीठी पर हाथ सेंकते

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भी उनमें एक तरह की हड़बड़ी रहती थी। वह रात को प्रूफ पढ़ने, संपादन करने या संपादकीय लिखने की उतावली में होते थे। हिन्दी के प्रति अनुराग का हाल यह था कि बुढ़ापे में अपनी आंखें इसलिए चौपट होने दीं कि परिषद् की पुस्तकें उतनी प्रामाणिक छपें, जितनी लंदन में अंग्रेजी पुस्तकें छपती थीं। उनके नवजागरण का हिन्दी प्रेम सिर्फ भाषा प्रेम भर नहीं था, बल्कि राष्ट्रीय अस्मिता का पर्याय था। उनकी मृत्यु पर दिनकर जी ने कहा था कि 'अगर शिवजी की सोने की मूर्ति बनाकर पन्ने की परतें चढ़ाई जाएं तब भी उनके किए का प्रतिदान संभव नहीं।'

शिवपूजन सहाय हिन्दी की मुख्य ऐतिहासिक धारा में हमेशा किनारे पर रखे गए। इसके कई कारणों में संभवत: सबसे गंभीर कारण यह था कि आधुनिक काल के अध्ययन क्रम में छायावादी गद्य के उस विपुल लेखन की उपेक्षा की गई, जो नाटक, कहानी, उपन्यास या आलोचना से अलग था। इस क्रम में भारतेन्दु और द्विवेदी जी के मध्य लगभग बीस वर्षों के लंबे गद्य-लेखन को ऐतिहासिक अहमियत से वंचित किया गया। छायावाद के आकलन में निराला, पंत, प्रसाद और महादेवी की कविताओं से बाहर पांव पसारने से परहेज किया गया। छायावाद की वैचारिकता के सापेक्ष जो गद्य लिखा गया, उसकी उपेक्षा कर दी गई। यानी पूरे कालखंड के मूल्यांकन और निष्कर्षों को इन चार कवियों तक ही सीमित रखा गया। अगर छायावादी संस्कार, स्वभाव, मूल्य, संवेदना या विचार की कसौटी पर उस काल के गद्य को लिया जाए तो मेरा विश्वास है कि छायावाद की वैचारिक भूमिका ज्यादा साफ होगी। शिवजी छायावाद के अप्रतिम गद्यकार थे। उग्र, विनोदशंकर व्यास से रामवृक्ष बेनीपुरी तक इसकी एक समृद्ध परम्परा मिलेगी। बहुत सारे अलग-थलग पड़े लेखक इस अवधारणा के अंतर्गत आएंगे।

निश्छल गद्यकार के रूप में शिवजी का गद्य कई अर्थों में विलक्षण है। उनके गद्य में हिन्दी के जिन स्रोतों के सूत्र मिलते हैं, वे नए लेखकों के लिए बड़े काम आ सकते हैं। गद्य शैलियों की उस विविधता और स्रोतों के संकेत के पीछे दरअसल हिन्दी भाषा की क्षमता और विस्तार का ही आशय था। उनके गद्य का तत्सम रूप जो छायावादी काव्यात्मकता से बेहद गीला है और वह संस्कृत से सोखकर रचा गया है तो दूसरी ओर उनके गद्य के हिन्दुस्तानी रूप से प्रवाह में उूर्द की रवानी भी है। इन दो भिन्न ध्रुवों से अलग भोजपुरी से पगी और निखरी भाषा की ताकत और सौंदर्य का एक अलग ही आकर्षण है। मुहावरों, कहावतों और लोकोक्तियों तक ही नहीं बल्कि शब्दों की अर्थछवियों और क्षमताओं को उन्होंने भाषा में विशिष्ट प्रयोगों से संभव किया। वह उन सावधान गद्यकारों में थे, जो वाक्य में 'प्रहार' और 'आघात' में किसी एक शब्द के प्रयोग चयन में दो दिनों

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तक सामग्री छपने से रोके रहते थे। भिन्न भाव, भिन्न परिवेश और प्रसंग में शेष योजना की कल्पनाशीलता आपको जैसी लगे लेकिन भाषा और गद्य की जीवंतता आपको निश्चय ही मुग्ध कर लेगी। ओज, माधुर्य, करुणा, विनम्रता और व्यंग्य की परिपक्वता उनके बेहतर गद्य की विशिष्टताएं हैं। गद्य-शैलियों की विविधता की दृष्टि से उनका गद्य विरल है।

शिवपूजन सहाय में कथा लेखन की अनोखी प्रतिभा थी। हिन्दी निर्माण की ओर अपनी दिशा और संकल्प बदल देने के कारण अपनी इस क्षमता की उन्होंने एकबारगी उपेक्षा कर दी। 'देहाती दुनिया' उपन्यास जिसे आज भी कई विद्वान हिन्दी का पहला आंचलिक उपन्यास मानते हैं, उनके कथा लेखन क्षमता का प्रमाण है। 'कहानी का प्लॉट' हिन्दी की उन कहानियों में एक है, जिसने शिल्प के स्तर पर भी आधुनिकतम प्रयोग संभव किया। 'मेरा जीवन' के प्रारंभिक अंशों में उनके बारीक वर्णन, गंवई चित्रों के चयन और देशी मन की निश्छल भावुकता एक सिहरन की तरह महसूस होती है। गद्य और शैलीकार की दृष्टि से हिन्दी के वह विरल गद्यकार हैं— इसमें संदेह नहीं।

(जनसत्ता, 13 दिसंबर 1992)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नवजागरण के होल टाइमर थे सत्यभक्त

हिन्दी नवजागरण का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय नवजागरण और साम्यवादी विचारधारा के आपसी संबंधों का है। हिन्दी नवजागरण और साम्यवादी विचारधारा के संपर्क -संवाद को जांचने-परखने के लिए हमें नवजागरण की दुर्लभ पत्र-पत्रिकाओं के अरण्य में गहरी छानबीन करनी होगी। इस शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में ही ऐसे लेख छपने शुरू हो गए— जिसके सूत्र साम्यवाद से प्रत्यक्ष या परोक्ष जुड़े थे। अभी तक ज्ञात सूचना सामग्री के आधार पर संभवतः 'अभ्युदय' (साप्ताहिक) के संपादक कृष्णकांत मालवीय ऐसे पहले पत्रकार थे, जिन्होंने 1918-19 ई. में रूसी राज्य क्रांति पर लगातार लिखा और नए युग की आहट दर्ज की। 'संसार-संकट' शीर्षक से उनका प्रकाशित धारावाहिक लेख अपने समय में काफी चर्चित रहा था। महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन के साथ साम्यवाद का प्रसार बढ़ा। रमाशंकर अवस्थी की 'बोल्शेविक जादूगर', सोमदत्त विद्यालंकार की 'रूस का पुनर्जन्म', विश्म्भरनाथ जिज्जा की 'रूस में युगान्तर', प्राणनाथ विद्यालंकार की 'रूस का पंचायती राज्य' पुस्तकें 1921 से 1923 के बीच प्रकाशित हो चुकी थीं। कृष्णकांत मालवीय के संपादन में ही 'मर्यादा' मासिक पत्र निकला, जिसमें इस संदर्भ में काफी सामग्री मिलती है। कृष्णकांत मालवीय का व्यक्तित्व बड़ा ही प्रेरक था। रमानाथ अवस्थी से गणेशशंकर विद्यार्थी तक ने उनसे प्रेरणा ली थी।

बाद में ऐसे लेख बहुतायत में छपने लगे। आगे चलकर इस संबंधी काफी और पुस्तकें भी छपीं। स्पष्ट है राजनीतिक स्तर पर मूर्त्त होने के पहले वैचारिक स्तर पर साम्यवादी विचारों का काफी प्रसार हो चुका था। इस तरह नवजागरण हमारे इतिहास का कोई गतिहीन अध्याय नहीं है। इसमें वैचारिक विकास और गतिशीलता है। उससे निर्दोष और रचनात्मक संस्पर्श होते ही हमारी चेतना क्रियाशील हो उठती है। इसलिए हमें नवजागरण को लगातार उकेरते जाने की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जरूरत है, जिससे इसे मूक या मुखर बलिदान से संभव करने वालों से हम परिचित हो सकें। उनका परिचय हमें अपने समय के संघर्षों और सोच को प्रेरित -प्रभावित करेगा। नवजागरण सेनानियों की ऐसी कतार है जिसमें बहुतों पर अभी पर्याप्त रोशनी नहीं पड़ी है। इनमें सत्यभक्त भी एक हैं जिनके हिस्से एक बड़ा ऐतिहासिक गौरव भी आता है। उन्हें इस बात का श्रेय है कि उन्होंने भारत में पहली बार साम्यवादी पार्टी का गठन किया। एक सामान्य लेखक-पत्रकार ने भारत में साम्यवादी दल का गठन किया— यह तथ्य अपने आप में रोमांचकारी है।

सत्यभक्त भारत में साम्यवादी पार्टी के संस्थापक थे— यह तथ्य दिनों तक दबा रहा। पहली बार डॉ. रामविलास शर्मा ने इस पर गंभीरता से विचार करते हुए इस तथ्य को स्थापित किया कि 'यदि किसी एक व्यक्ति को कम्युनिस्ट पार्टी का संस्थापक होने का श्रेय दिया जा सकता है तो वह सत्यभक्त हैं।' (भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद 2, पृ. 407) निःसंदेह इस तथ्य को व्यापक स्वीकृति मिलने में कठिनाई होगी क्योंकि एक ओर भारतीय साम्यवाद के इतिहास आसंग में अंग्रेजी में प्रकाशित सामग्री ही प्रामाणिक मानी जाती है और दूसरी दिक्कत यह कि सत्यभक्त को अपने जीवन या साहित्य में इतनी अहमियत मिली नहीं कि उन्हें इतना बड़ा श्रेय बेहिचक दे दिया जाए। अंग्रेजी से प्रमाणित तथ्यों-तर्कों का आतंक-वर्चस्व जैसा है, उसमें हिन्दी में हुए सत्य-स्थापन की स्वीकृति मनवा लेना आसान मामला भी नहीं होता। वह भी तब जब एक से अधिक कम्युनिस्ट पार्टियां हैं और उन सबके इतिहास अपने-अपने तरीके से अलग हैं। इससे भी बड़ी मुश्किल यह कि इन सभी पर आज तक वर्चस्व अंग्रेजीदां लोगों का ही है, जिनसे यह उम्मीद करना कि वे इतना बड़ा श्रेय हिन्दी के एक गुमनाम, सो रहे पत्रकार को सौंप देंगे— व्यर्थ है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने स्थापना संबंधी विचारों, दस्तावेजों और सभी दावों का विस्तार से विश्लेषण किया है। डॉ. गंगाधर अधिकारी के तो कुछ तर्क इतने लाचार थे कि सहज ही निरस्त हो गए। डॉ शर्मा ने एम.एन. राय के जीवन और लेखन का भी सम्यक मूल्यांकन किया है। एम.एन. राय द्वारा सोवियत रूस में गठित कथित कम्युनिस्ट पार्टी की असलियत क्या थी— इसे तो सत्यभक्त ने ही उजागर कर दिया था। रही-सही कसर डॉ. रामविलास शर्मा ने पूरी कर दी है। जेड अहमद ने खुद के दावे से अपनी स्थिति कमजोर कर ली है। डॉ. शर्मा ने उनके विचारों और दावों की विडंबना सामने रख दी है। दरअसल भारत में साम्यवाद की स्थापना का इतिहास एक सामान्य आकलन भर नहीं है बल्कि

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उसमें निहित दो मूल चिंतनधाराओं के द्वंद्व की उपस्थिति है। सत्यभक्त भारतीय परिस्थितियों में साम्यवादी पार्टी का अलग स्वरूप चाहते थे। वह ऐसी पार्टी नहीं चाहते थे, जिसका केन्द्रीय संचालन सुदूर किसी देश से हो और यहां की कम्युनिस्ट पार्टी उसकी सिर्फ एक शाखा हो। इसीलिए वह 'भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी' चाहते थे जबकि इसके विपरीत एम.एन. राय 'भारत की कम्युनिस्ट पार्टी' गठित करना चाहते थे। फिर महासचिव बन वह लेनिन और माओ के साथ समकक्ष दर्जा प्राप्त करें और विश्व स्तर पर अपनी धाक जमा सकें। इसके लिए विदेशों से वह काफी धन लाते थे और उनका अपना रहन-सहन, ठाट-बाट शानदार था। अपने समर्थकों को वह पैसे भी देते थे। सत्यभक्त और डॉ. शर्मा के तथ्य-विश्लेषण से न सिर्फ यह बात सिद्ध होती है बल्कि इसमें ज्यादा असहमति की गुंजाइश भी नहीं बचती।

ऐसी भी बात नहीं कि सत्यभक्त ने यह सम्मेलन जैसे-तैसे एक गोष्ठी की शक्ल में कर-करा इस ऐतिहासिक श्रेय को लपक लिया हो। उन्होंने डेढ़-दो वर्षों तक पर्चों, बुलेटिनों, विज्ञप्ति, अपील, लेख और रपटों से विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में व्यापक प्रचार किया था। पूरे देश में सघन पत्राचार के बाद एक सितंबर 1924 को भारतीय साम्यवादी पार्टी की स्थापना की और उसका कानपुर में दिसंबर 1925 में पहला सम्मेलन आयोजित किया, जिसमें विभिन्न प्रदेशों के प्रतिनिधियों के साथ पांच सौ से अधिक लोग आए। सत्यभक्त के निधन के बाद उनकी पुत्री माया देवी ने मुझे जो दस्तावेज या अन्य सामग्री सौंपी थी, उससे उनके गंभीर प्रयास की ही पुष्टि होती है। उन्होंने भारत में साम्यवाद की स्थापना संबंधी जो लेखन किया, उसकी जो सामग्री मौजूद है, उस सबकी ईमानदार और गहरी छानबीन से किसी सार्थक निष्कर्ष तक पहुंचा जा सकता है। 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' के दोनों खंडों में डॉ. शर्मा ने हिन्दी लेखकों-पत्रकारों की साम्यवादी प्रसार में व्यापक भूमिका को रेखांकित किया है। ऐसे लोगों में राधामोहन गोकुल, रमाशंकर अवस्थी, गणेशशंकर विद्यार्थी या सत्यभक्त जैसे लोग थे। ये अथवा इस तरह के लोग ऐसे नहीं थे जिन्होंने मार्क्सवाद का सिर्फ व्याकरण रटा हो और उसे आयात कर भारतभूमि में रोपने की हड़बड़ी में रहे हों। इन लोगों ने अपने समय, समाज के वस्तुपरक यथार्थ को ईमानदारी से समझा था। ये प्रबुद्ध लोग थे, जो साम्यवादी सिद्धांतों और आंदोलनों से परिचित भी थे। इन्होंने ऐसा महसूस किया कि भारत के समाज और समय को बदलने के लिए सबसे उपयुक्त साम्यवाद ही है। इसी कारण भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी पर ही इनका खास जोर था। इन सबने अपने विचारों, भावों और कार्यों से भारतीय परम्पराओं की आधुनिक,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रगतिशील और तार्किक व्याख्या की जड़ परम्पराओं को तोड़कर नई परम्पराओं को रचने में खुद को होम कर दिया। इनकी कोशिश भारतीय परिवेश में साम्यवाद के अपेक्षित स्वरूप की तलाश थी। ये सभी अपनी वेशभूषा, रहन-सहन, स्वभाव-संस्कार तथा सोच और व्यवहार में ठेठ देशी थे। ये साम्यवाद को भारतीय परम्पराओं से जोड़कर एक मौलिक मार्क्सवादी सोच और संस्कार विकसित करना चाहते थे। एम.एन. राय और सत्यभक्त की जीवन-शैली और सोच के बीच जो लंबा फासला है, उसे जानकर शायद हमें भारत में साम्यवादी विकास की मूलभूत दिक्कतों तक पहुंचने में सहूलियत मिल सके। शायद आज इस पर और गंभीरता से विचार करने की ज्यादा जरूरत है।

दरअसल सत्यभक्त द्वारा आयोजित कम्युनिस्ट पार्टी के प्रथम सम्मेलन में विभिन्न प्रदेशों के प्रतिनिधियों के साथ पांच सौ से ज्यादा लोग आए थे। सत्यभक्त इस बात को समझ रहे थे कि ब्रिटिश हुकूमत और रूस के रिश्ते खराब हैं। इसलिए अगर उन्होंने 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' से रिश्ता स्थापित किया तो सरकार इसका प्रसार नहीं करने देगी। फिर वे राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुरूप साम्यवादी स्वरूप रखना चाहते थे। एम.एन. राय की दिक्कत दूसरी थी। अफगानिस्तान के रास्ते मुहाजिरीनों का जो दल रूस गया था, उसमें सीमा-प्रांत के पठान थे। उनका धार्मिक विश्वास गहरा था। एम.एन. राय ने स्वयं और अपनी पहली विदेशी पत्नी ईवलिन, अपने दोस्त अबनी और उसकी पत्नी रोसा और दो मुहाजिरीनों में से मुहम्मद शफीक और मसूद अली शाह को मिलाकर रूस में ही 'कम्युनिस्ट पार्टी आफ इंडिया' का गठन कर वहीं 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' में शामिल हो खुद को भारत का प्रतिनिधि घोषित कर दिया। दो दोस्त, उनकी पत्नियां और मसूद अली शाह जो वस्तुतः उनका सेवक था, स्थान रूस और 'कम्युनिस्ट पार्टी आफ इंडिया' गठित हो गई। बाद में मसूद अली शाह को रूस में मृत्युदंड दिया गया क्योंकि उसके विरुद्ध ब्रिटिश सरकार के लिए जासूसी के सबूत मिले थे। सत्यभक्त ने अपने बारे में तमाम तत्कालीन लोगों के आरोपों का उत्तर देते हुए वास्तविक स्थिति खुद स्पष्ट कर दी थी। इंटरनेशनल से एम.एन. राय को लाखों रुपए मिलते थे जिससे वे शानदार जीवन जीते थे।

सत्यभक्त के विषय में डॉ. रामविलास शर्मा की उक्त पुस्तक के दोनों खंडों में काफी जानकारियां मिलती हैं। एक पत्रकार लेखक के रूप में इनका मूल्यांकन करते हुए उन्होंने इनकी दो पुस्तिकाओं 'श्रमजीवियों का संदेश' (सन् 1923) और 'बोल्शेविज्म क्या है?' (सन् 1924) की चर्चा करते हुए अंत में लिखा है— 'मजदूरों के लिए किस तरह की भाषा में पुस्तिका लिखनी चाहिए, विषय

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

का विवेचन किस तरह करना चाहिए, गद्य सरल हो, साथ ही सारगर्भित भी हो— इन सब बातों में सत्यभक्त की दोनों पुस्तिकाएं क्रांतिकारी पत्रकारिता का श्रेष्ठ उदाहरण हैं। भारतेन्दु युग की गद्य शैली में राजनीति और अर्थशास्त्र की समस्याओं पर यदि कोई लिखे तो उसका गद्य सत्यभक्त के गद्य जैसा होगा। हिन्दी में समाजवादी चेतना का प्रसार भारतेन्दु युग की शैली से जुड़ा हो, यह बात सिद्ध करती है कि वह प्रसार कितना स्वाभाविक और सहज था।'

सत्यभक्त का सार्वजनिक जीवन किशोरवय से ही शुरू हो जाता है। उनका जन्म भरतपुर (राजस्थान) में 2 अप्रैल 1897 में हुआ। उनके पिता कुंदनलाल जी वहीं रियासत के मिडल स्कूल में हैडमास्टर थे। 40 वर्ष नौकरी करने के बाद इंस्पेक्टर के पद पर पहुंचे थे। उनके पास कलकत्ते से प्रकाशित 'भारतमित्र' (साप्ताहिक) नियमित आता था। पिता का झुकाव भी स्वदेशी की ओर था इसलिए सत्यभक्त में राष्ट्रीय संस्कारों का आना स्वाभाविक था। 'भारतमित्र' में खास तौर से क्रांतिकारियों खुदीराम बोस, बारीन्द्र घोष, अरविन्द घोष इत्यादि के कारनामों में उनकी गहरी दिलचस्पी रहती थी। इनके उत्तेजक कारनामों से किशोर सत्यभक्त अभिभूत हो जाते थे। स्कूल में उनका एक सहपाठी था शंकरलाल वर्मा। एक दिन आनंदमठ की 'वंदेमातरम्' की एक पंक्ति कहने पर उसने दूसरी सुना दी और इस तरह दोनों अंतरंग बने। उसके घर में राधामोहन गोकुल द्वारा संपादित 'सत्य सनातन धर्म' साप्ताहिक आता था। सत्यभक्त उसमें छपने वाले क्रांतिकारी और उत्तेजक विचारों से बहुत प्रभावित थे। 'प्रताप' प्रकाशित होते ही उसके प्रवेशांक से ही पाठक बन गए। उस पत्र ने राष्ट्रीय भावों के निर्माण में गहरा योगदान किया मगर उनका कार्यक्षेत्र व्यापक जगहों में रहा। वह एक जागरूक और प्रबुद्ध किशोर के रूप में कुछ करने की उतावली और उत्साह में रहते थे। इस वय का एक दिलचस्प वाकया है। बात सन् 1912-13 ई. की है, जब वह भरतपुर में स्कूली छात्र थे। कौतूहल और अधकचरी जानकारी के आधार पर उन्होंने मैनसिल, पोटाश, आंवला सार और गंधक को मिलाकर अनाड़ीपन से परीक्षण किया कि अचानक विस्फोट हो गया। नतीजन उनके बाएं हाथ की अंगुली का तिहाई भाग उड़ गया। जलने के घाव भरने में दो-तीन महीने लग गए। सहपाठियों ने यह अफवाह फैला दी कि सत्यभक्त क्रांतिकारी हो गया है। लेकिन सत्यभक्त में एक ऐसी जिज्ञासा थी, जो उन्हें आसपास की रचनात्मक गतिविधियों से जुड़ने को प्रेरित करती रही। वह कुछ सार्थक करने की डगर तलाशने में लगे। भरतपुर में सन् 1912 में 'श्री हिन्दी साहित्य समिति' की स्थापना हुई थी, जिसके समारोहों में लगातार शिरकत करते थे। ब्रजभाषा के

CC-0.Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रसिद्ध कविरत्न सत्यनारायण जी चिकित्सा के सिलसिले में कुछ महीने तक भरतपुर में रुके तो उनके संपर्क में सत्यभक्त आए। उनके मधुर-मंजुल व्यक्तित्व की छाप किशोर सत्यभक्त पर पड़ी। उनके निधन पर सत्यभक्त ने उनका जीवन-वृतांत 'विद्यार्थी' (मई 1918, इलाहाबाद) में लिखा। सत्यभक्त ने लिखा है कि कविता-कानन के कोयल माने जाने वाले सत्यनारायण कविरत्न सिर्फ शृंगार और भक्त की ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय भावों की भी रचनाएं लिखते थे। उनकी ऐसी कविताएं जब महात्मा गांधी, तिलक, गोखले या सरोजिनी नायडू की सभाओं में पढ़ी जाती थीं तो श्रोतागण भावविभोर हो जाते थे। कविरत्न सत्यनारायण जी ऐसे पहले व्यक्ति थे जिनके संपर्क ने सत्यभक्त को सृजन की ओर प्रेरित किया। उन्हीं के द्वारा सन् 1913 में उनका परिचय पत्रकार बनारसी दास चतुर्वेदी से हुआ। 1913 में ही प्रसिद्ध क्रांतिकारी राजा महेन्द्र प्रताप 'प्रेम महाविद्यालय' के वार्षिकोत्सव में वृंदावन आए थे। सत्यभक्त उन्हें देखने-सुनने वृंदावन पहुंच गए। यहीं उनकी मुलाकात 'आर्यमित्र' के संपादक लक्ष्मीधर वाजपेयी से हुई। इन संपर्कों से सत्यभक्त को एक ऐसी डगर सूझ रही थी जिस पर चलकर वह अपनी आकांक्षा और उत्साह को मूर्त्त कर सकते थे।

उनके एक अन्य सहपाठी निरंजन शर्मा भी जागरूक युवक थे, जो उर्दू पत्रकारिता से 'श्री बेंकटेश्वर समाचार' के संपादक तक बने। ऐसे सचेत और सक्रिय साथियों के साथ बहस-मुसाहबा होते— राजनीतिक पुस्तकों का भी लगातार अध्ययन चल रहा था। सत्यभक्त जी उन दिनों 'अंडरग्राउंड रशिया' तथा 'निहलिस्ट रहस्य' (बंगला) जैसी क्रांतिकारी पुस्तकें और उपन्यास पढ़ते थे। लेकिन उनके जीवन पर सबसे गहरा असर जिन पुस्तकों का पड़ा उसमें तीन का उन्होंने स्वयं उल्लेख किया है— सखाराम गणेश देउस्कर की देशेर कथा का अनुवाद 'देश की बात', 'आनंदमठ' और 'जापान का उदय'। धीरे-धीरे राजनीतिक पगडंडी स्पष्ट होने लगी थी जिस पर चलते हुए उन्होंने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा।

नवजागरण के दौर में विभिन्न क्षेत्रों में जागरूकता पैदा हुई थी और विभिन्न क्षेत्रों से लोग सार्वजनिक जीवन में आ रहे थे। उन सबके उद्देश्य और कार्यों की सीमाओं में भी फर्क था। कोई शिक्षा सुधार में, कोई स्त्री सुधार में, कोई धार्मिक सुधार में, कोई सामाजिक कार्यों में लगा हुआ था। इसमें संभव था कुछ का सत्ता से समीप का रिश्ता भी बना हो या व्यापक रूप से साम्राज्यवादी विरोध में वे एक-दूसरे के विपरीत भी दीख पड़े, लेकिन समग्रता में देखने पर ही नवजागरण के व्यापक फलक का अंदाज किया जा सकता है। इसलिए डॉ. खगेन्द्र ठाकुर का

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

यह कहना महत्त्वपूर्ण है कि नवजागरण में लगे सेनानियों में भले अंतर्विरोध हो— नवजागरण में कोई अंतर्विरोध नहीं था। स्वामी दयानंद, स्वामी रामतीर्थ या स्वामी विवेकानन्द, ज्योतिबा फुले जैसे लोगों की भूमिकाओं को इसी रूप में देखना चाहिए। इसी कड़ी में एक क्रांतिकारी स्वामी सत्यदेव थे, जिनकी अमेरिका संबंधी पुस्तकों में स्वाधीनता की प्रबल आंकांक्षा और वैचारिक उत्तेजना होती थी। युवकों में उनकी पुस्तकों की धूम मची थी। सत्यभक्त उनसे इतने प्रभावित हुए कि अमेरिका जाने की धुन में घर से भाग गए। बड़ौदा में 5-6 महीने जुगत-जुगाड़ करते रहे। यह 1915 ई. की बात है। बाद में स्वामी जी जर्मनी गए— जहां उनका संबंध एम.एन. राय से बना।

सत्यभक्त में राजनीतिक और साहित्यिक सक्रियता के साथ-साथ जनसेवा की भावना बचपन से ही रही। सन् 1916 में ही हरिद्वार-कुंभ में 'भारत सेवक समिति' के स्वयं सेवक की हैसियत से गए। जहां उनका परिचय प्रसिद्ध क्रांतिकारी नारायण प्रसाद अरोड़ा से हुआ। यह रिश्ता अंत तक बना रहा। कानपुर में दोनों साथ मिलकर क्रांतिकारी कार्यों में लगे रहे। इसी कुंभ यात्रा में उनकी दुर्लभ मुलाकात महात्मा गांधी से हुई, वह सहज ही अंतरंग बन गए। उस समय महात्मा गांधी ने साबरमती आश्रम की स्थापना भी नहीं की थी। अहमदाबाद में एलिस ब्रिज से एक मील दूर कोचरव गांव के पास किराए के मकान में आश्रम का काम होता था। वहां रहने वाले 30-40 लोगों में ज्यादातर दक्षिण अफ्रीका से ही गांधी जी के साथ आए थे। सत्यभक्त ने तीन-चार महीने रहकर आश्रम की सादगी और श्रम-संस्कार अर्जित किए। जाड़े के मौसम में पानी भरने का दायित्व निष्ठा से निभाया और महात्मा गांधी के साथ चक्की पीसने का दुर्लभ संयोग भी हासिल किया। उन्होंने गांधी जी की 'सर्वोदय' और 'जेल के अनुभव' का हिन्दी अनुवाद भी किया। वहां नियमित पढ़ाई जाने वाली तमिल भाषा तो नहीं सीख पाए लेकिन बंगला और गुजराती सीख ली। इन दोनों भाषाओं से अनुवाद भी करने लगे। आश्रम में रहने के दौरान उनका गांधी जी के पुत्रों, भतीजों से दोस्ती और अंतरंगता भी विकसित हुई। वहां उनका परिचय काका कालेलकर, विनोबा भावे और महादेव देसाई जैसे प्रसिद्ध गांधीवादियों से हुआ। वहीं उन्होंने प्रेस का काम भी सीखा। लेकिन अहिंसा में पूर्ण आस्था नहीं होने के कारण वह वहां टिक न सके। बावजूद सादा जीवन और श्रम संबंधी विचारों के मामले में उन पर ऐसा प्रभाव पड़ा जो पूरे जीवन भर कायम रहा। तभी बंबई में कांग्रेस अधिवेशन आयोजित हुआ— वहीं से वह बंबई पहुंच गए। बाद के दिनों में सन् 1918, 1919, 1920 में भी वह कुछ महीनों के लिए आश्रम में आते रहे। खास तौर से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कस्तूरबा का इन्हें स्नेह प्राप्त हो गया था। गांधी जी तो चाहते थे कि सत्यभक्त स्थायी रूप से रह जाएं मगर सत्यभक्त ने ऐसा नहीं किया। लिखा है— 'कुल मिलाकर एक वर्ष गांधी जी के पास रहा। मैंने उनकी महानता का तो अच्छी तरह अनुभव किया और जनता पर उनके अद्भुत प्रभाव का रहस्य भी समझा, पर उनके अहिंसा सिद्धांत से मैं पूरी तरह सहमत नं हो सका।'— इसी असहमति ने सत्यभक्त को 'गांधीवादी' बनने से रोका और उन्हें क्रांतिकारियों से जोड़ा। अपने तरीके से उन्होंने अपने को आजन्म क्रांतिकारी कार्यों में ही खपा दिया। लेकिन उनके व्यक्तित्व में, रहन-सहन और व्यवहार में गांधी आश्रम के प्रवासों का गहरा असर अंत-अंत तक बना रहा।

वैसे तो सत्यभक्त ने सन् 1916 से ही लिखना प्रारंभ कर दिया था। उनका पहला लेख 'प्रो. धोंडो केशव कर्वे का जीवन चरित्र' जो 'स्त्री-दर्पण' (इलाहाबाद) में छपा था। इस पत्र के प्रकाशन से नेहरू परिवार की रामेश्वरी नेहरू जुड़ी हुई थीं। इसी पत्र में उन्होंने प्राचीन भारत में स्त्रियों के अधिकार और 'भूत रहस्य' जैसे 30-40 पृष्ठों के लेख लिखे। इन लेखों को पढ़कर विजयालक्ष्मी पंडित बड़ी प्रभावित हुईं और सत्यभक्त को बुलाकर उनसे बातचीत की। वह समकालीन समय के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों का जीवन चरित्र लिख रहे थे, जो सरस्वती, मर्यादा, हितकारिणी, ललिता, प्रतिभा जैसी पत्रिकाओं में छप रहे थे। इस तरह लगभग 100 लेखों के छपने के बाद उनकी गणना पत्रकार-लेखक के रूप में होने लगी। पं. सुंदरलाल उन दिनों 'भविष्य' निकालते थे। उन्होंने सत्यभक्त को उक्त पत्र में काम करने के लिए इलाहाबाद बुला लिया। 6 अप्रैल 1919 को वे इलाहाबाद आए। संयोग ऐसा कि उसी दिन सबसे बड़ी राजनीतिक हड़ताल हुई थी। लगभग 50 हजार लोगों की विराट सभा पहली बार देखी। विदेशी वस्तुओं की होली जलाई जा रही थी। उस दिन पूरे शहर में एक पैसे का भी कारोबार नहीं हुआ। यहां तक कि अर्थी के लिए बांस तक नहीं बिका। बांस वाले ने कहा कि ऐसे ही बांस उठा लो— आज मैं बिक्री नहीं कर सकता। सत्यभक्त जी को 'भविष्य' दफ्तर पैदल जाना पड़ा। 'भविष्य' में काम करते हुए पं. सुंदरलाल जी के यहां जवाहरलाल नेहरू, पुरुषोत्तम दास टंडन जैसे अनेक व्यक्तियों से मिलने, बात करने और परिचय कायम करने का सुयोग बना। 'भविष्य' में उनके एक और वरिष्ठ सहयोगी थी मंजर अली सोखता। सत्यभक्त जी से 1954 में कानपुर के गंगा पुल के पार बने आश्रम में सोखता जी से उनकी दुबारा मुलाकात भी हुई थी।

पंडित सुंदरलाल अपने क्रांतिकारी और जोशीले तेवर से वातावरण को और

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उत्तेजित करने में लगे थे। अंततः सरकार का कोप हुआ और 17 अंकों के बाद पांच हजार की जमानत न चुका पाने से 'भविष्य' को बंद करना पड़ा। तब सत्यभक्त पं. कृष्णकांत मालवीय द्वारा संपादित 'मर्यादा' में चले आए। 'मर्यादा' में सत्यभक्त के दो लेख मिलते हैं— 'महात्मा गांधी के जीवन पर एक दृष्टि' (मई 1918) और 'राजनीतिक कैदी और भारत सरकार' (मई 1919)। दूसरा लेख महत्त्वपूर्ण था। 'मर्यादा' में काम करने के दौरान ही सत्यभक्त को 'हिन्दी नवजीवन' निकालने के लिए गांधी जी का आमंत्रण मिला। वह वहां गए भी मगर तब तक असहयोग आंदोलन में इतनी तेजी आ गई थी कि गांधी जी की राजनीतिक सक्रियता बेहद बढ़ गई। ऐसे में 'हिन्दी नवजीवन' की प्रकाशन योजना को आगे बढ़ाना पड़ गया। सत्यभक्त इलाहाबाद वापस आ गए। इधर पं. सुंदरलाल नए सिरे से 'भविष्य' को दैनिक पत्र के रूप में निकालने लगे थे। सत्यभक्त उसी में काम करने लगे। असहयोग आंदोलन में लगातार तेजी आ रही थी। राजनीतिक घटनाक्रम बदलने से सक्रियता भी काफी बढ़ गई थी। चारों ओर जागरण की नई लहरें उठ रही थीं। उसी में सत्यभक्त ने 'राष्ट्रीय ग्रंथमाला' शृंखला शुरू की। इसकी पहली पुस्तिका 'असहयोग' थी जो 100 पृष्ठों की थी। अन्य पुस्तकों में स्वदेशी पर महात्मा गांधी, असहयोग पर भारत के नेता, आयरलैंड की राजक्रांति, गांधी-चरित्र, किसानों का सुधार, महात्मा गांधी का संदेश, असहयोग का कार्यक्रम, सत्याग्रह रहस्य, स्कूलों का बायकाट, अदालतों का बायकाट, राष्ट्रीय गान, स्वदेशी से स्वराज— जैसी कई पुस्तिकाएं हजारों में छपीं और बिकीं। समकालीन राजनेताओं के छपे चित्र तो लाखों में बिके। इन पुस्तकों के नामों को देखकर ही इनके तत्कालीन महत्त्व को समझा जा सकता है। असहयोग आंदोलन को विस्फोटक और सफल करने में यह एक विनम्र योगदान था। सन् 1921 में जब असहयोग आंदोलन की खुली घोषणा हुई तो सत्यभक्त 'राष्ट्रीय ग्रंथमाला' कार्यालय में ताला डाल पूरे जोशोखरोश से आंदोलन में कूद गए।

सत्यभक्त ने खद्दर पहनना शुरू किया और रात-दिन आंदोलन में लगे रहे। लेकिन यह देखकर उन्हें चोट पहुंची और उनका मोहभंग भी हुआ कि आंदोलन में एक बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है जो आवेग में आकर बिना सोचे-समझे इसमें शामिल तो हो गए हैं मगर उनके सोच-व्यवहार में कोई बदलाव नहीं आया है। निश्छल मन और गांधी साहचर्य में संस्कारित नैतिकता वाले सत्यभक्त को यह देखकर घोर आश्चर्य, दुःख और ग्लानि हुई कि काफी लोग नेतागिरी का जीवन निर्वाह कर रहे हैं और चालाकी तथा बेईमानी से धन बटोर रहे हैं। ऐसे में सत्यभक्त ने कभी कांग्रेसी नहीं होने का संकल्प लिया और उनकी राजनीतिक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दिशा ही बदल गई।

उस समय जगह-जगह किसान आंदोलन चल रहे थे। सामंतशाही के विरुद्ध कई देशी राज्यों में बड़े सशक्त ढंग से किसान एकजुट थे और लगातार संघर्ष कर रहे थे। इसमें सीकर राज्य के विरुद्ध सबसे तगड़ा आंदोलन चलाया था विजयसिंह पथिंक ने। पथिक को लोहे के सीकड़ से बांधकर सीकर नरेश ने दरबार में मंगवाया था। इनका एक चित्र मतवाला में छपा था। उसने लगातार 'अरावली के शेर' के पक्ष में जोरदार संपादकीय, लेख और टिप्पणियां लिखी थीं। पथिक सिर्फ हिन्दी के पत्रकार-लेखक भर नहीं थे बल्कि वह असाधारण जीवट वाले क्रांतिकारी किसान नेता भी थे। मतवाला सहित जिन पत्रों ने इस आंदोलन को स्वर दिया, उसका प्रवेश राज्य की सीमा में बंद कर दिया गया। सत्यभक्त ने 'देशी राज्यों के सुधार का एक आयोजन' नामक बुलेटिन प्रकाशित किया था। पथिक ने उसे पढ़कर सत्यभक्त से संपर्क किया और आमंत्रित भी। कांग्रेसी राजनीति से बिदके सत्यभक्त राजस्थान सेवा-संघ में चले गए और 8-10 महीने पथिक के साथ काम किया। जब राजशाही द्वारा भीलों पर गोली चलाई गई और दो गांव जला दिए गए तो पथिक ने संघ के मंत्री के साथ सत्यभक्त को भी जांच के लिए भेजा। सिरोही स्टेशन पर रियासत की पुलिस ने उन्हें गाड़ी से उतार कर हवालात में बंद कर लिया। चार-पांच घंटे बाद दीवान के कहने पर उन्हें छोड़ दिया गया। बाद में उनकी रिपोर्ट हिन्दी-अंग्रेजी पत्रों में प्रकाशित हुई। सत्यभक्त ने लिखा है— पथिक जी अपने ढंग के निराले कार्यकर्त्ता थे और अपने अधिकांश कार्यों को गुप्त रूप से कूटनीति से सिद्ध कर लेते थे। इससे रियासती शासक उनसे बहुत घबराते थे।

लेकिन सत्यभक्त के जीवन में स्थिरता और निश्चित व्यवस्था नहीं थी। संयोग और संपर्क बनते ही वह बेहिचक काम और जगह बदल लेते। स्थायी का आग्रह ही नहीं था। एक दिन अजमेर में नागपुर के सतीदास मूंघड़ा मिल गए। वह 'प्रणवीर' के संचालक थे जिसका संपादन प्रसिद्ध लेखक राधामोहन गोकुल करते थे। उनके जेल चले जाने से एक संपादक की जरूरत थी। सत्यभक्त राजस्थान से नागपुर आ गए। सतीदास मूंघड़ा अमरावती के पास के एक ग्राम में रहने वाले थे। घर में मालगुजारी का काम होता था। स्वतंत्र तबियत के आदमी थे। परिवार में पटती न थी। पिता के गुजर जाने के बाद एक लाख की संपत्ति और 15 हजार सालाना आमदनी की जमीन विरासत में मिली। वह नागपुर में आकर रहने लगे। पं. सुंदरलाल ने नागपुर में असहयोग आश्रम की स्थापना की और अपने मित्र राधामोहन गोकुल को कलकत्ते से बुला लिया। उसी आश्रम के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संचालन क्रम में सतीदास, गोकुल जी के संपर्क में आए और 'प्रणवीर' की योजना बनी। पत्र निकलते ही धूम मच गई। यहीं एक भाषण पर राजद्रोह का अभियोग लगा और गोकुल जी को 6 महीने की सज़ा हो गई। 'प्रणवीर' बड़ा ही जोरदार पत्र था। गोकुल जी के क्रांतिकारी विचारों वाले विस्फोटक लेखों से इस पत्र की बड़ी प्रतिष्ठा थी। सत्यभक्त के लिए गोकुल जी एक आराध्य की तरह रहे। उस समय नागपुर में झंडा सत्याग्रह चल रहा था। मध्य प्रदेश सरकार ने नागपुर में झंडे के जुलूस को सिविल लाइन्स में जाने से रोक दिया। इसकी प्रतिक्रिया में ही झंडा सत्याग्रह हुआ था। राधामोहन गोकुल, जनरल अवारी, हरकरे जी गिरफ्तार हो चुके थे मगर आंदोलन चलता रहा, इसमें सरदार पटेल को भी आना पड़ा। सत्यभक्त एक डेढ़ महीने तक लगातार, इसमें शामिल हुए और इसकी रपट 'प्रणवीर' के अलावा नियमित रूप से कानपुर के प्रसिद्ध पत्र 'प्रताप' को भी भेजते रहे।

झण्डा सत्याग्रह लगभग तीन महीने तक चला था और इसने शिथिल पड़ते 'सविनय कानून भंग' आंदोलन में एक नई जान डाल दी थी। इस सत्याग्रह में, महात्मा भगवानदीन, जमनालाल बजाज और विनोबा भावे जैसे लोगों ने आकर शिरकत की। इन सबसे सत्यभक्त की बातचीत होती और वह इस पर नियमित लिखते। उन्होंने झण्डा सत्याग्रह पर एक दैनिक बुलेटिन भी छापना शुरू कर दिया।

गणेशशंकर विद्यार्थी और प्रताप की भूमिका विस्मयकारी थी। वह विभिन्न आंदोलनों के बिखरे सूत्रों को स्वाधीनता के संदर्भ में उठाते थे, जिससे समग्र प्रभाव पड़ता था। यह देखकर उत्तेजना अनुभव होती है कि तब 'प्रताप' के अत्यन्त सीमित साधन में कैसी जबरदस्त व्यवस्था थी? दरअसल उनके लिए पत्रकारिता एक मिशन था। एक ओर चंपारण से नील किसानों की रपटें पीर मुहम्मद यूनिस लिख रहे थे तो दूसरी ओर सत्यभक्त नागपुर से झंडा सत्याग्रह की रपटें भेज रहे थे। चंद्रशेखर आजाद, भगतसिंह समेत पंजाब, बंगाल और मध्य प्रांत के तमाम क्रांतिकारियों का वह प्रमुख तीर्थ-स्थल था। 'प्रताप' जैसा प्रतापी कोई दूसरा पत्र न था।

'प्रणवीर' का लगभग आठ महीने संपादन करने के दौरान उसका 'पूर्ण स्वाधीनता अंक' निकाला जिसकी व्यापक चर्चा हुई। इसी दौरान सत्यभक्त जी ने साम्यवाद का प्रचार प्रारंभ किया था। इस क्रम में उनका सघन पत्राचार एस.ए. डांगे और इंग्लैंड की प्रसिद्ध तत्कालीन साम्यवादी महिला सिलविया पैंखर्स्ट से हुआ।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नागपुर के 'प्रणवीर' में आठ-दस महीने गुजरते ही सत्यभक्त के पांवों की चरखी फिर घूमी। राजस्थान में किसान आंदोलन में हिस्सा लिया, नागपुर में झंडा सत्याग्रह में रहे तो अब मजदूर आंदोलन में भाग लेने की ललक हुई। सितंबर 1923 में वह कानपुर चले आए। यहां अपने आपको मजदूर आंदोलनों से जोड़ लिया। वह पर्चे, लेखन, बातचीत और सभा-गोष्ठी कर उनके बीच साम्यवादी विचारों का प्रचार करने लगे। कानपुर में मजदूर सभा का एक सक्रिय कार्यकर्त्ता था रमजान अली। उसी से वह विशेष रूप से खबरें लेते थे और विभिन्न पत्रों में छपने को भेजते थे। जब कॉटन मिल में मजदूरों पर गोली चली तो सत्यभक्त ने इसके विरोध में 'आज', 'वर्तमान' और 'प्रताप' में जमकर लेख लिखा। पहले तीन महीने 78 लोगों ने फार्म भरकर सदस्यता ग्रहण की जिसमें 16 संपादक-लेखक, 12 श्रमजीवी, 11 राजनीतिक कार्यकर्त्ता, 7 दुकानदार, 5 विद्यार्थी, 5 वैद्य, 4 प्रेस मालिक, 2 बड़े किसान, 3 स्त्रियां और 11 विभिन्न पेशों से थे। इसमें 24 कानपुर शहर से 16 उत्तर प्रदेश, 11 राजस्थान, 7 मध्य प्रदेश, 5 बंगाल, 3 पंजाब और 2 बिहार से थे। इस तरह सत्यभक्त ने एक ऐसा ढांचा खड़ा किया जिसका स्वरूप राष्ट्रीय था। पहले वर्ष में सदस्यता 200 पहुंच गई।

साम्यवादी पुस्तकों की एक दुकान घर में ही खोल ली। क्रांतिकारी कार्यों में सीधे तो नहीं लेकिन समीप के सहयोगी की भूमिका वह पूरी निष्ठा से निभाते रहे। पूर्व परिचित नारायण प्रसाद अरोड़ा थे ही, शचीन्द्रनाथ सान्याल और सुरेश भट्टाचार्य जैसे तमाम क्रांतिकारियों से खूब मिलना-जुलना बढ़ा। राधामोहन गोकुल के यहां जब चंद्रशेखर आजाद आए तो सत्यभक्त ने देखा। भगतसिंह से भी वह मिले। दो-तीन बार बातचीत हुई। भगत सिंह ने सत्यभक्त के घर जाकर रूस की राजक्रांति का इतिहास पुस्तक खरीदी थी। क्रांतिकारी नेता शचीन्द्रनाथ सान्याल ने 'बंदी जीवन' में लिखा है— हम लोग यथार्थ में विप्लवी थे। सत्यभक्त जी विप्लव के मार्ग पर नहीं चलना चाहते थे। लेकिन उनके पास कम्युनिज्म विषय की कुछ अच्छी-अच्छी पुस्तकें थीं। उन्हें मैंने पढ़ डाला (सत्यभक्त जी के घर में ही रह कर)। इस प्रकार सन् 1924 ई. में ही कम्युनिज्म के सिद्धांत के बारे में मैंने बहुत कुछ समझ लिया था। सत्यभक्त जी से मेरा बहुत वार्तालाप हुआ, तर्क-वितर्क हुए, एवं भौतिकवाद और आत्मवाद, इतिहास की भौतिक व्याख्या एवं श्रेणी संघर्ष आदि विषयों को लेकर दिन-दिन भर आलोचनाएं हुईं। (पृ. 319)

31 मई 1923 को कानपुर से सत्यभक्त ने श्रमजीवी लेखमाला शुरू की। 14 पृष्ठों का पहला बुलेटिन 'भारतीय श्रमजीवियों का संदेश' छपा। इसके मात्र 20-25 ही ग्राहक बने थे। कीमत दो पैसे। सत्यभक्त ने घोषणा की थी— अगर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जनसहयोग मिला तो इसे पाक्षिक या मासिक निकाला जाएगा। इसमें सीधी, सरल भाषा में मजदूरों के श्रम और शोषण संबंधी बातों के साथ उन्हें संगठित होकर संघर्ष करने का आह्वान किया गया था। सेठ, मालिक जो पूंजीपति हैं— वे लूट करते हैं। उनकी लूट-चोर-डाकू की लूट से इस मायने में अलग है कि ये तिकड़म और चालबांजी से लूटते हैं। सत्यभक्त ने यह भी बताया था कि पूंजीपति अपनी लूट की रक्षा के लिए तरह-तरह के कानून बनवाते हैं क्योंकि सरकार उनकी पक्षधर है। गरीबों और मालदारों के फर्क को दिखाते हुए वह उनके भीतर क्रांतिकारी साम्यवादी चेतना का प्रसार कर रहे थे। महात्मा गांधी की आलोचना से अपने को भरसक बचाते चलने वाले सत्यभक्त ने इसमें उनकी भी आलोचना इस बात के लिए की थी कि वे समाज सेवा के नाम पर इन पूंजीपतियों से चंदा लेते हैं।

सन् 1924 में सत्यभक्त की पुस्तक 'बोल्शेविज्म क्या है?' छपी। इसमें उन्होंने बहुत ही सरल भाषा में बोल्शेविज्म का परिचय देते हुए उसके सिद्धांतों और विचारों को समझाया है। इसमें मार्क्स और कम्युनिस्ट घोषणापत्र का भी परिचय दिया है। समाज निर्माण के वर्गों की टकराहट को खासतौर से रेखांकित करते हैं। गुलाम और मालिक, किसान और जमींदार, मजदूर और पूंजीपति की टकराहट और संघर्ष को उन्होंने विस्तार से लिखा है। उनका आह्वान था संगठित होकर जोरदार संघर्ष से ही इनके हाथों से सत्ता की बागडोर छीनी जा सकती है। उनका कहना था कि इस स्थिति को बदलने के लिए मौजूदा व्यवस्था को ध्वस्त करना होगा। उन्होंने पेरिस कम्यून का हवाला देकर बताया कि अगर प्रणाली नहीं तोड़ी गई तो सत्ता मिलने के बावजूद फिर इनकी वापसी संभव हो जाती है। सबसे महत्त्वपूर्ण अंतिम हिस्सा है। चेतावनी है कि कम्युनिज्म को स्थापित करने के लिए लकीर का फकीर होने से काम नहीं चल सकता। उनके अनुसार हिन्दुस्तान की हालत जैसी है उसके मुताबिक रास्ते से ही चलना होगा क्योंकि हमारा उद्देश्य तो गरीबों पर होने वाले अन्याय को दूर करना और लोगों को उनका असली हक दिलाना ही है। हम पश्चिम की नकल करके ऐसा नहीं कर सकते। फिर इंडियन कम्युनिस्ट पार्टी के उद्देश्य और नियम छपे हैं। अंत में उपलब्ध पुस्तकों की सूची विज्ञापित है— स्वराज्य, मजदूर राज, विश्वक्रांति, मजदूर, बोल्शेविज्म, सत्याग्रह, स्त्री जाति की दुर्दशा, हमारा कार्यक्रम, नए जर्मन की स्त्रियां जैसे शीर्षक हैं। सत्यभक्त ने कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना रपट, घोषणा, अपील और पर्चे कई पत्रों में भेजकर प्रकाशित भी करवाए। मतवाला में भी सामग्री छपी। आयरलैंड के स्वाधीनता संघर्ष की कहानियां भारत में बड़ी दिलचस्पी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

से पढ़ी जाती थीं। सत्यभक्त ने 1925 ई. में आयरलैंड के गदर की कहानियां प्रकाशित करवाईं और इसी वर्ष 'अगले सात साल' नामक ऐसी पुस्तिका लिखी जिसमें ब्रिटिश राज के खात्मे का विचार-भाव व्यक्त हुआ था। इसे सरकार ने जब्त कर लिया। लेकिन इस दिशा में उनका सबसे उल्लेखनीय कार्य था— साम्यवादी पाक्षिक का प्रकाशन।

1 जनवरी 1926 ई. को साम्यवादी का प्रवेशांक छपा-जिसके मात्र दो अंक ही छप सके क्योंकि कांग्रेसियों ने सरकार से कहकर इसका प्रकाशन बंद करा दिया। उसके दोनों अंक जब्त कर लिए गए। 'साम्यवादी' के बंद कराए जाने पर 'मतवाला' ने लिखा— 'कानपुर के जिन कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं ने प्रेसवालों पर दबाव डालकर साम्यवादी का प्रकाशन रुकवा दिया है, उन्हें चाहिए कि साम्यवाद के प्रचारक श्रीयुत सत्यभक्त और मो. हसरत मोहान को भी जिबह कर दें। जड़ ही पकड़कर उखाड़ दें तो सारा बखेड़ा ही मिट जाए।' (6 मार्च 1926) मो. हसरत मोहानी वैसे तो कांग्रेस से जुड़े थे लेकिन साम्यवादी दल की कांफ्रेंस के वही स्वागताध्यक्ष थे। मतवाला के इसी अंक में और टिप्पणी है- जिस देश में गरीबों के उष्ण रक्त से देश-भक्त नेताओं की मोटरें दौड़ती हैं, शराब की बोतलें उड़ती हैं, बार वनिताएं बगलें गरमाती हैं और जिन्हें बाल उखाड़ने का भी शऊर नहीं, वे बरियार खां बन जाते हैं, वहां साम्यवाद और 'साम्यवादी' की जरूरत ही क्या है? देश में साम्यवाद फैल जाएगा तो हमारे बड़े कांग्रेसी नेता लोग क्या बैठकर कोंपर चाटेंगे? कांग्रेस की यह छवि 1926 ई. में थी।

'साम्यवादी' पाक्षिक का वार्षिक मूल्य दो रुपए। इसमें समाचार और विज्ञापन नहीं छपते थे। प्रवेशों के संपादकीय में उद्देश्य स्पष्ट किया गया था कि— 'यह अपना लक्ष्य सदा साम्यवाद के प्रचार और किसान, मजदूरों और नौकरी पेशावालों के आंदोलनों पर रखेगा। किसान मजदूरों पर होने वाले अन्यायों की इसमें खरी आलोचना की जाएगी और उनके अधिकारों का सदा समर्थन किया जाएगा। भारतीय साम्यवादी दल के समाचार और आंदोलन का वर्णन भी इसमें छपा करेगा।' (वर्ष 1, अंक 1) संपादकीय में साम्यवाद के भारतीय और अंतर्राष्ट्रीयता वाले मुद्दे को भी उठाया गया था। इस पक्ष को लेकर सत्यभक्त हमेशा सतर्क और मुखर रहे। बाहरी देशों से ताल्लुक रखकर उनकी सहायता से भारत में साम्यवादी आंदोलन चले, इसके वह विरोधी थे। उनका विश्वास था इससे नुकसान ही होगा। लिखा है— 'हिन्दुस्तान के श्रमजीवियों का संगठन हमको अपनी शक्ति से ही करना होगा और इसके लिए बाहरवालों का मुंह ताकना हर तरह से हानिकारक है।' देश के एक तिहाई हिस्से में देशी रियासतों के निरंकुश शासन में जनता की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दुर्दशा और ब्रिटिश सत्ता के दिखावटी अधिकारों का हवाला देकर इसकी कंगाली को उजागर किया है। सामाजिक दुर्दशा, तनावों और बिखरावों पर भी नजर है— 'सामाजिक और धार्मिक दशा को देखा जाए तो वह भी खराबी की हद पर पहुंच गई है। लोग इतने मत-मतान्तरों और जात-पातों में बंटे हुए हैं कि उनका गिन सकना मुश्किल है। ये अलग-अलग जाति और मजहब वाले एक-दूसरे से जिस तरह दूर रहते हैं और एक-दूसरे को अपने से जितना छोटा समझते हैं उसको देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है।' आखिरी टिप्पणी है— 'सच पूछा जाए तो ये जात-पात के झगड़े ही इस देश की पराधीनता और दूसरी खराबियों का मुख्य कारण हैं।' सत्यभक्त का कहना था कि जनता संगठित हो, जागरूक हो, संघर्ष करे तभी इन स्थितियों से उबरा जा सकता है। उनका स्पष्ट विश्वास है कि— 'हिन्दुस्तान के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सुधार का एकमात्र रास्ता हमारी सम्मति में किसान, मजदूरों और दूसरे नौकरीपेशा वालों का संगठन करना है।' जात-पात और मजहब के सवालों की चर्चा करते हुए सत्यभक्त ने बताया है कि किस तरह स्वराज्य और खिलाफत के नाम पर हिन्दू-मुसलमानों के संगठन खड़े हुए और आपसी विवाद के शिकार हुए और नेता के सामने एक-दूसरे का सर फोड़ रहे हैं। लेकिन उन्होंने जोर देकर कहा कि कारखाने के मजदूरों की हड़ताल में जात-पात और मजहब का यह भेद नहीं रहता। यही दशा किसानों की भी है। उनका दृढ़ विश्वास है कि हिन्दुस्तान को सच्ची आजादी ऐसे ही श्रमजीवियों के संगठन से मिलेगी। अछूतों पर उनकी राय स्पष्ट है— 'कोई व्यक्ति अछूत न समझा जाए और इन नीची जाति के समझे जाने वाले लोगों को केवल पास बैठने या मंदिरों में जाने के विषय में ही बराबरी का अधिकार न दिया जाए वरन उनकी आर्थिक दशा की भी उन्नति की जाए जिससे और सब सुधारों को वे खुद ही कर सकें।' स्त्री-पुरुष समानता के सवाल पर लिखा— 'स्त्रियों को सामाजिक दासता के बंधन से छुड़ाना भी आवश्यक है और उनको स्वतंत्रतापूर्वक जीवन व्यतीत करने का वैसा ही अधिकार होना चाहिए जैसा कि एक पुरुष को होता है।' एक छोटी सी टिप्पणी मौलाना आजाद सुभानी की है— जिसमें उन्होंने हिन्दुस्तान में कम्युनिस्ट की जरूरत पर विचार किया है। हिन्दुस्तान में कम्युनिज्म की सफलता पर एक टिप्पणी सिंगारावेलु की भी है। राधामोहन गोकुल का 'श्रमजीवियों को संदेश' में 'प्यारे किसानों, मजदूरों, कारीगरों और श्रमजीवियों को संबोधित करते हुए उन्होंने लिखा है— भाग्य और ईश्वर की कल्पना तुम्हारा गला घोंटने वालों ने तुम्हारा मुंह का टुकड़ा छीनने वालों ने की है। वह यूनियन बनाने की अपील करते हैं। वह स्पष्ट कहते हैं कि सभी मनुष्य बराबर हैं इसलिए

CC-0.Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जाति बंधनों को तोड़ दो। चमार कोई जाति नहीं है। पूर्वकाल में चमड़े के काम करने वालों ने अपनी एक कमेटी बनाई— उसी का नाम चर्मकार पड़ा। उन्होंने उदाहरण देकर बताया कि किस तरह पूंजीपति मजदूरों के श्रम का शोषण करते हैं। अंत में उनकी जोरदार अपील है— 'साथियों! अपने हाथ, पैरों और बुद्धि से काम लो। भाग्यविधाता, पुरोहितों, मौलवियों, राजा और पूंजीपतियों का भरोसा छोड़कर अपने अधिकार प्राप्त करो। संसार भर हमारा देश है। संसार भर के मजदूर हमारे भाई हैं। हमारी शत्रुता अन्याय और अत्याचार से है। किसी भी भिन्न भाषा-भाषी या विदेशी निवासी से हमारी शत्रुता नहीं है। 'श्रमजीवी संसार' स्तंभ के अंतर्गत ट्रेड यूनियन कांग्रेस, भारतीय खान मजदूरों की सभा और कुछ अन्य समाचारों को संकलित किया गया है। 'गरीबों का उद्धारकर्त्ता : लेनिन' नामक एक परिचयात्मक लेख भी है। वर्तमान बोल्शेविक रूस में उसके शासन, उसकी आर्थिक व्यवस्था, व्यवसाय खेती, सामाजिक उन्नति और शिक्षा का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। 'भारतीय साम्यवादी पार्टी' के गठन उसकी नियमावली, उद्देश्य, कार्यक्रम, कार्यपद्धति, सभासद, कार्यकर्त्ता संगठन के विभिन्न विभाग चर्चा के साथ कार्यकारिणी और आर्थिक-व्यवस्था का खुलासा किया गया है। अंत में साम्यवाद का विज्ञापन है।

दूसरे अंक के संपादकीय में कानपुर में आयोजित प्रथम साम्यवादी कांफ्रेंस के बारे में विस्तार से लिखते हुए उसके विचारों और उद्देश्यों की चर्चा की गई है। यह बताया गया है कि अंतरराष्ट्रीय संबंध बनाना क्यों उचित नहीं हैं। इसके अलावी बोल्शेविक षड्यंत्र केस के कैदियों की चर्चा करते हुए कांग्रेस के कार्यक्रमों पर अपनी आलोचनात्मक राय रखी गई है। इसमें इस कांफ्रेंस की पूरी रपट छापी गई है, जो मतवाला सहित अन्य तत्कालीन पत्रों में भी छपी थी। साम्यवाद क्या है? एक छोटी टिप्पणी सिंगारावेलु की भी है। राधामोहन गोकुल का किसान-मजदूरों से निवेदन एक पर्चा छपा है, जिसमें उन्होंने देश की अशांति और अराजकता की जिम्मेदारी तीन समुदायों पर डाली है— धनिक, पुरोहित और देश के पढ़े-लिखे बुद्धिजीवी। क्योंकि ये लोग जनता के कष्टों और संघर्षों में भागीदार नहीं होते। साम्यवादी ऋषि-कार्ल मार्क्स का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। अंत में साम्यवादी का विज्ञापन।

इस तरह सत्यभक्त पूरे प्राण-प्रण से साम्यवादी प्रसार और संगठन में लगे थे। लेकिन 'साम्यवादी' के बंद होने और बोल्शेविक षड्यंत्र केस से सब कुछ बिखर गया। उनकी आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गई। सत्यभक्त के लिए राजनीतिक कर्म करने से ज्यादा प्राथमिक जरूरत जीवन-निर्वाह की जुगत हो

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गई। इसलिए वह 1927 ई. में कानपुर छोड़ आगरा चले आए। वहीं से भरतपुर आते-जाते रहते थे। एक बार गिरफ्तारी के डर से साइकिल द्वारा आगरा आए तो शहर से 6-7 मील दूर जमुना किनारे कैलाश नामक जगह में अकेले प्रवास किया। कानपुर में पुस्तक व्यवसाय से प्राप्त पैसे खत्म हुए तो 'अगले सात साल' नामक पुस्तक लिखी जो चालीसं दिनों बाद ही जब्त हो गई। इसी बीच 1928 ई. में सतीदास मूंघड़ा ने फिर कमर कस प्रणवीर को बंबई से निकालने की शुरुआत की तो सत्यभक्त को ही याद किया। 1928 ई.में आठ-दस महीने बंबई रहकर प्रणवीर निकाला, लेकिन सती दास की आर्थिक स्थिति लाचार हो गई और पत्र बंद करना पड़ा। सतीदास मूंघड़ा की आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय हो गई कि वह जिसे वेतन देकर काम लेते थे उससे भी आर्थिक मदद मांगनी पड़ी। इस तरह अपना सर्वस्व होम कर देने वाले देशभक्त पत्र-संचालक का निधन मात्र 40 वर्ष की आयु में ही हो गया।

1992 ई. में सत्यभक्त प्रयाग आकर 'चांद' में काम करने लगे लेकिन 1932 ई. में चांद बैठ गया। 'चांद' संचालक रामरिख सहगल ने प्रकाशन भी चलाया और एक से एक क्रांतिकारी पुस्तकें प्रकाशित कीं। लेकिन वह एक संदिग्ध व्यक्ति के रूप में लिए जाते थे और कई लोगों को यह यकीन था कि चंद्रशेखर आजाद को मरवाने में उनकी भी भूमिका थी। कुछ लोग तो यहां तक कहते हैं कि सुंदरलाल जी ने 'भारत में अंग्रेजी राज पुस्तक' खुद प्रकाशित की और अपने सरकारी संपर्कों का इस्तेमाल कर स्वयं उसे जब्त भी करा दिया। वह ब्रिटिश सरकार से अंदरूनी स्तर पर जुड़े थे ऐसा आरोप उन पर लगता रहा। इस सबकी चर्चा स्वयं सत्यभक्त ने की है। जैसे-तैसे प्रयत्न कर उन्होंने चांद को आगे बढ़ाने की कोशिश की मगर सन् 1937-38 में यह बिल्कुल स्थगित हो गया। इस बीच सत्यभक्त का लेखन चलता रहा। 1930 ई. में पटना के भारतीय पब्लिशर्स ने उनकी लिखी 'कार्ल मार्क्स का जीवन चरित्र' छापा जो 186 पृष्ठों की थी। उन्होंने लेनिन का जीवन चरित्र भी लिखा था जो अंत तक अप्रकाशित ही रह गया। प्रिंस क्रोपाटकिन की पुस्तक का अनुवाद 'नवयुवकों से दो बातें' पहले 'विशाल भारत' में फिर पुस्तकाकार भी छपी। तरुण भारत ग्रंथावली से 1934 ई. में उनकी दो पुस्तिकाएं 'साम्यवाद के सिद्धांत' (पृ. 78) छपी। 'साम्यवाद के सिद्धांत' अमेरिकन लेखक मार्क फिशर की पुस्तक के आधार पर लिखी गई थी, जिसमें मार्क्सवाद के विकास, विचार और सिद्धांतों का परिचयात्मक विवरण था।

'चांद' में जब मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव संपादक थे तो सत्यभक्त उनके सहकारी बने थे। बाद में वह खुद संपादक बने। 'चांद' के स्थगित होने के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बाद उन्होंने इंडियन प्रेस इलाहाबाद से निकलने वाले साप्ताहिक 'देशदूत' में भी आठ महीने काम किया। 'चांद' संपादन के साथ सत्यभक्त ने 1939 ई. में 'सतयुग' नामक एक मासिक पत्र भी निकालना शुरू किया था जो तीन-चार वर्षों तक नियमित चला लेकिन बाद में बंद हो गया। बीच-बीच में उसके अंक 1950 तक निकले। यह राजनीति और अध्यात्म के समन्वय का वाहक पत्र था। 1945-50 ई. तक नारायणप्रसाद अरोड़ा जी की पुस्तकों का प्रकाशन किया। लगभग 80 वर्षों तक प्रकाशन उद्यम का यह कारोबार चला। बाद में प्रेस का काम शिथिल पड़ा तो इलाहाबाद छोड़कर दो वर्षों तक कानपुर में रहे।

'सतयुग' प्रकाशन के क्रम में ही सत्यभक्त का परिचय 'अखंड ज्योति' के संस्थापक आचार्य श्रीराम से हुआ, जिनका आश्रम और पत्र मथुरा से संचालित होता था। सन् 1941 में यह रिश्ता बना। दोनों की अक्सर मुलाकात होती, मित्रता गाढ़ी हो गई। इस बीच सत्यभक्त 'सतयुग' प्रेस और पत्र जैसे-तैसे चलाते रहे। इसी प्रकाशन से उन्होंने भावी महाभारत जैसी पुस्तिका लिखी। 90 पृष्ठों और डेढ़ रुपए मूल्य की इस पुस्तिका में आने वाले द्वितीय विश्व युद्ध की तैयारियां, परिस्थितियों के साथ भावी महासमर के बारे में राजनीतिक भविष्यवाणी की गई थी। इस पुस्तक की सामग्री संभवत: चांद में छप चुकी थी। अप्रैल 1942 की जो प्रति मुझे मिली थी— वह चौथा संस्करण था। यह पुस्तक 1936 ई. में छपी थी। आजादी के बाद 1948 ई. में सत्यभक्त ने आयरलैंड की कहानियों की कुछ घटनाओं में और जोड़कर 'गोरिल्ला' नाम से उपन्यास भी प्रकाशित कराया था। मदर इंडिया की चर्चित अमेरीकी लेखिका मिस मेपो की पुस्तक का अनुवाद 'देवताओं के गुलाम' नाम से छपी।

'अखंड ज्योति' में सत्यभक्त 1955 ई. में आश्रय लेते हैं। आर्थिक विपन्नता और पारिवारिक-सामाजिक उपेक्षा ने उनको निजी स्तर पर अकेला और कमजोर कर दिया था। दरअसल सत्यभक्त के जीवन का एक ऐसा रहस्य था— जिसके कारण उन्हें ऐसा झेलना पड़ा। सत्यभक्त ने एक दलित कन्या से विवाह कर लिया था। मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव के साले रमाशंकर श्रीवास्तव ने बताया था कि सत्यभक्त ने एक मेहतरानी से विवाह किया था। एक स्रोत के अनुसार उनकी पत्नी नौकरानी थी तो दूसरे के अनुसार कोई विधवा। मैंने उनकी पुत्री मायादेवी से जानकारी लेनी चाही तो उन्होंने बेमेल विवाह की पुष्टि तो की मगर विस्तार से कुछ नहीं बताया और नहीं लिखने का अनुनय भी किया। इसका दुष्परिणाम उनकी तीनों बेटियों को भुगतना पड़ा था। लेकिन एक का विवाह सजातीय से हुआ। मायादेवी खुद विधवा और नि:संतान थीं। एक बेटी भरतपुर में प्राध्यापिका

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हो गई। अंतिम दिनों में मायादेवी ने उनकी सेवा की थी।

पता नहीं सत्यभक्त का कोई उपयोग साम्यवादी पार्टी कार्यालय में था या नहीं लेकिन उनकी रुचियों और हालात ने उन्हें गायत्री तपोभूमि के 'अखंड ज्योति' आश्रम में पहुंचा दिया था। जीवनयापन के लिए उन्हें संस्थान के प्रकाशन-संपादन के अलावा आचार्य श्रीराम के लिए घोस्ट राइटिंग भी करनी पड़ती थी। वहां रहकर उन्हें 'शक्ति का स्रोत प्राणायाम' कब्ज कैसे दूर हो? 'कल्प-चिकित्सा', 'जीवन-संग्राम में कैसे जीतें?', 'मनुष्य में ईश्वर की झांकी' जैसी पुस्तकें भी लिखनी पड़ीं। 'साम्यवादी' से यहां तक की लेखन यात्रा सचमुच एक दारुण अंत था। लेकिन इस प्रवास की सबसे उल्लेखनीय उपलब्धि उनके द्वारा प्रकाशित सौ ट्रैक्ट जीवनियां हैं। इनका उद्देश्य जनशिक्षण था। 32 पृष्ठों और 40 पैसे की इन जीवनियों में राणाप्रताप, लक्ष्मीबाई, महात्मा गांधी, तिलक, कस्तूरबा बाई, अवंतिका बाई, राधामोहन गोकुल, राजामहेन्द्र प्रताप, शहीदेआजम भगतसिंह, चंद्रशेखर आजाद, नारायण प्रसाद अरोड़ा, गोल्डामीर जैसे नाम शामिल थे। आवरण पर छपे हिस्से की अंतिम पंक्तियां थीं— 'उत्कृष्ट व्यक्तियों के जीवन-चरित्र जनमानस में मानवीय आदर्शवादिता के लिए आस्था उत्पन्न करते हैं। कहना न होगा कि यह निष्ठा ही लोकमंगल का आधार है।'

इस दौरान उनका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य राधामोहन गोकुल को केन्द्र में रखकर सन् 1857 से सन् 1947 तक लिखा स्वाधीनता आंदोलन का इतिहास है, जो 'क्रांतिपथ के पथिक' नाम से 422 पृष्ठों में 1973 ई. में छपा। इसमें सबसे मूल्यवान अध्याय संभवतः 'भारत में साम्यवाद' है, जो आगे पुस्तिका रूप में छपी। इसकी एक विशेषता यह है कि क्रांतिकारियों की बलिदानी निष्ठा के अनेक किस्सों में कई सत्यभक्त ने अपने अनुभवों से जोड़े। कुछ संकलन उन संस्मरणों का किया। यह उन क्रांतिकारियों से मिला-जो स्वयं इसके साक्षी थे। सत्यभक्त जो स्वयं चंद्रशेखर आजाद और भगतसिंह समेत अनेक क्रांतिकारियों के समीप रहे—उनके संस्मरणों से यह मात्र इतिहास लेखन भर नहीं रह गया। दूसरा काम 'क्रांति का आगमन' था, जो वस्तुतः राधामोहन गोकुल की रचनाओं का संपादन था। 304 पृष्ठों की यह पुस्तक 1974 ई. में छपी। इसमें तीन मुख्य कमजोरियां रह गईं। एक तो ऐसी भूमिका का अभाव रहा, जिसमें राधामोहन गोकुल के महत्त्व को स्थापित किया जाता, दूसरी यह कि इसमें उनकी असंकलित व्यापक रचनाओं का न तो कोई विवरण था, न ही उनकी गहरी छानबीन की गई थी, तीसरी यह कि इसमें उनके लेखों को संपादित कर दिया गया था। मूल रूप के अभाव के बावजूद यह पुस्तक उपयोगी तो है ही। उन्होंने 'पूंजीपतियों की कथा' नामक एक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ट्रैक्ट मुझे भेजा था जिसमें लोककथा के रूप में पूंजी और पूंजीपति की विकास कथा थी। श्रमिकों के प्रति उनकी पक्षधरता अंत तक कायम रही। सुना था वह आसपास की सभाओं में भी कभी-कभी शिरकत करते थे। वे अपने लेखन में ऐसी शैली अपनाते थे, जिससे साधारण मजदूर-किसान भी समझ लें। स्वयं अपने भीतर जो कुछ आत्मसात थां, उसमें समझ के स्तर पर तनिक भी अस्पष्टता नहीं थी। भाषा साफ-सुथरी थी ही, इसलिए वह आदर्श जन गद्य लिख लेते थे। भाषा के प्रति ऐसा जनपक्षी आग्रह साध लेना आसान बात नहीं होती।

बेशक सत्यभक्त के व्यक्तित्व में अंतर्विरोध थे और बहुत साफ-साफ दिखते भी थे। उनकी भारतीयता आध्यात्मिकता तक पहुंच जाती थी, लेकिन साम्यवाद के सिद्धांतों के प्रति उनकी अटूट आस्था कभी खंडित नहीं हुई। आजादी के बाद, अकेले और उपेक्षित हो जब वह आश्रम में आए और अपने शेष 30 वर्ष उसी की एक छोटी-सी कोठरी में गुजार दिए तो निजी स्तर पर वह न तो निष्क्रिय थे, न ही पराजित। आश्रम परिसर में रहकर भी उन्होंने अनिवार्य होने के बावजूद प्रार्थना और आरती उपक्रम में कभी भाग नहीं लिया। अपवाद की छूट आश्रम के अन्य लोगों को हमेशा ना-गवार गुजरी, बावजूद किसी ने टोका नहीं। विनम्रता और वैचारिक दृढ़ता को भरसक अपने हालात में भी बनाए रखा।

सत्यभक्त की प्रकृति-पहचान के लिए उनके संपर्कों और जीवन-संयोगों का भी ध्यान रख़ना होगा। अनिश्चितता ऐसी कि छः महीने से साल के बीच जगह और नौकरी बदलते रहे। बेघर हुए मजदूर की त़रह इधर-उधर भटककर उन्होंने नवजागरण का अलख अंत तक जगाए रखा। कभी अवसरवादी महत्त्वाकांक्षा नहीं पनपी वरना महात्मा गांधी से चिपककर ऊंची छलांग भर आसानी से अवसर लपक सकते थे। प्रतिभा या बौद्धिकता के लिहाज से वह कहीं से असाधारण नहीं थे न ही उनमें नेतृत्व की बड़ी क्षमता थी। उन्होंने खुद लिखा— 'मैं न कभी राजनीतिक अथवा सामाजिक नेता रहा, न संगठनकर्त्ता, न जोरदार संघर्ष करने वाला। मैं कभी किसी दल में नियमानुसार शामिल भी नहीं हुआ। केवल एक सामान्य देश सेवक की हैसियत से जब जैसा अवसर मिला अपनी अल्पशक्ति के अनुसार मित्रों को सहयोग देता रहा।' लेकिन ईमानदारी, निष्ठा और कर्मठता ने उनकी सहजता को जरूर असाधारण बना दिया था। वे नवजागरण के उन दुर्लभ सैनिकों की कतार में थे, जो जब तक जीवित रहे अपने उद्देश्यों में तिल-तिल खुद को खपाया। वह जीते-जी नवजागरण के होलटाइमर बने रहे।

महात्मा गांधी की नैतिकता का उन पर जबरदस्त असर था। वह मानते थे हर कार्यकर्त्ता में ऐसे ही कठोर नैतिक आग्रह होने चाहिए। वह निजी आचरण में

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सादगी, ईमानदारी और सक्रिय सेवा-भाव को नवजागरण के प्रत्येक सिपाही के लिए अनिवार्य मानते थे, क्योंकि उनका अनुभव यही था कि इसका जनता पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ता है। यह बात अलग है कि आजादी के बाद मूल्य बदल गए। स्वाधीनता सेनानियों में जो शासक सदस्य नहीं बने अथवा किसी समर्थ संस्थान से नहीं जुड़े-उन्हें बड़ी दारुण जिन्दगी गुजारनी पड़ी। उनकी स्मृति पहले पुत गई। ऐसे ही अभिशप्तों में एक नाम सत्यभक्त का भी रहा। इसमें दो मत नहीं कि उनके व्यक्तित्व के अंतर्विरोध उनके विचारों की ही उपज थे। ऐसे में किसी निश्चित पार्टी का अनुशासन उनके व्यक्तित्व से मेल ही नहीं खाता। वह आत्मानुशासित थे लेकिन उनकी प्रकृति किसी दल से जुड़कर, जमकर काम करने वाली नहीं थी। मार्क्सवाद का व्यवस्थित अध्ययन और उसकी समग्र समझ का पक्ष भी अपेक्षाकृत कमजोर ही रहा। ऐसा लगता है जैसे मार्क्सवाद पर लिखी पुस्तकों या लेखों के आधार पर ही उन्होंने साम्यवादी विचारों का सार ग्रहण किया था जिसे वे सीधी-सरल भाषा में व्यक्त कर लेते थे। उनके समकालीन साम्यवादियों के लेखन और बौद्धिक क्षमता से उनकी तुलना करते हुए ऐसा माना जा सकता है।

सत्यभक्त के व्यक्तित्व की सीमाएं स्पष्ट थीं। सोच के स्तर पर बहुत विस्तार और गहराई नहीं मिलती। ईमानदारी, निष्ठा और सक्रियता अवश्य अभिनंदनीय थी। भारतीयता और आध्यात्मिकता की एक विचित्र गांठ उन्हें हिगराती रही। वह सोचते थे ऐसा करके ही वह कम्युनिस्टों की अंतर्राष्ट्रीयता का जवाब दे सकते थे। भारत में साम्यवाद में उन्होंने लिखा है— 'संसार के जितने देशों में कम्युनिज्म को सफलता मिली है, उन सभी में कुछ बातों पर मतभेद है और सबने अपनी परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही अपना कार्यक्रम तैयार किया है। यदि भारतीय जनता की रुचि अध्यात्म की तरफ है तो कम्युनिज्म के प्रचार में उसकी इस विशेषता को ध्यान में रखना कोई दोष की बात नहीं। वैसे भी यदि देखा जाए तो यूरोपीय देश की भौतिकता की आधारशिला अभी तक स्थायी और कल्याणकारी साबित नहीं हुई है। इस त्रुटि को दूर करने के लिए उसमें मनुष्य की आध्यात्मिक भावनाओं पर ध्यान देना अत्यावश्यक है।'

उनको इसमें कोई अंतर्विरोध नहीं लगता। इस विचार में न तो उन्हें परिवर्तन की जरूरत महसूस हुई, न ही छिपाने की। जाहिर था ऐसी कोई साम्यवादी पार्टी मौजूद नहीं थी, जो इन विचारों को इस रूप में अपनाती। ऐसी बात नहीं कि कम्युनिस्टों ने उनका कोई ख्याल नहीं रखा और वह पूरी तरह गुमनाम रह गए। फरवरी 1969 ई. में रूसी दूतावास से कामरेड एल.वी. मिट्रोखिन उनके पास

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मथुरा आए और 'प्रथम कम्युनिस्ट कांफ्रेंस' के बारे में लंबी बातचीत कर उपलब्ध दस्तावेज ले गए। उन्होंने इस आधार पर नवंबर 1969 ई. के 'मेनस्ट्रीम' विशेषांक में एक लंबा आलेख लिखा। भगतसिंह के साथी और क्रांतिकारी विजयकुमार सिंह के प्रयत्नों ने 'राष्ट्रीय अभिलेखागार' सत्यभक्त जी की रचनाओं की लगभग एक हजार पृष्ठों की 'माइक्रो फिल्म' तैयार की। मेट्रोरिविन ने डॉ. ए. मैलिनकोव के साथ मिलकर रूसी मासिक पत्र 'इतिहास की समस्याओं में 14 पृष्ठों का एक लंबा लेख लिखकर सत्यभक्त के महत्त्व को रेखांकित किया। नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एंड लाइब्रेरी के डॉ. हरिदेव शर्मा ने उनका लंबा साक्षात्कार टेप किया। जनवरी 1975 ई. में आस्ट्रेलिया के कैनबैरा नेशनल यूनिवर्सिटी के शोध विद्वान कामरेड रोजर स्टुअर्ट ने भी उनसे लंबी बातचीत की और उन पर लंबा निबंध लिखा। सी.पी.आई. के डॉ. गंगाधर अधिकारी ने भी अपनी पूर्व धारणा में परिवर्तन करते हुए सत्यभक्त के योगदान को स्वीकार किया। अपने विस्तृत साम्यवादी इतिहास के दूसरे खंड में उन्होंने सत्यभक्त से जुड़े काफी दस्तावेज संकलित किए। डॉ. अधिकारी ने अन्य लोगों के भी उन उद्धरणों को लिया जो सत्यभक्त के प्रतिकूल थे। सत्यभक्त ने उन प्रसंगों में अपना स्पष्टीकरण यथास्थान दिया है। एक स्तर पर उपेक्षित रहने के बावजूद दूसरे स्तर पर वह महत्त्वपूर्ण भी बने।'

सत्यभक्त इतने से संतुष्ट थे कि उन्होंने जो थोड़ा-सा काम किया— वह ईमानदारी से किया। यश की अभिलाषा नहीं की। कुर्ता-पाजामा और बंडी। नियमित जीवन। प्राकृतिक चिकित्सा के अभ्यस्त। प्राणायाम। कर्मठता ऐसी कि 90 वर्ष की आयु तक लेखन, पत्राचार करते रहे। कभी अपने अतीत को भुनाने का कोई उपक्रम भी नहीं किया। नारायण प्रसाद अरोड़ा ने जब 60वीं वर्षगांठ का प्रस्ताव रखा तो मना कर दिया— खुद को इस लायक नहीं समझा। आत्मकथा लिखने का प्रस्ताव इसलिए ठुकरा दिया कि अपने जीवन को इस योग्य नहीं समझा। संकोच और विनम्रता स्थायी भाव बनी रही। अपने जीवन को तिल-तिल खपा देने, शरीर गलाकर खुद को उत्सर्ग कर देने वाली ऐसे ही लोगों की कतार थी, जिसने हिन्दी नवजागरण का अमर अध्याय रचा था। सत्यभक्त को समाज से कोई शिकायत नहीं रही। उन्हें कोई मान दे या न दे— उनकी निस्पृहता ऐसी थी कि उन्हें कभी किसी चीज की कोई आकांक्षा नहीं रही। 3 दिसंबर 1985 को मथुरा के उसी आश्रम में उनकी मृत्यु हुई। एक कर्मठ जीवन का अंत हुआ।

(साक्षात्कार, मई 2001)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

एक आंदोलन थे रामवृक्ष बेनीपुरी

हिन्दी नवजागरण एक ऐसा बुलंद दरवाजा है, जिसे खोलने पर हमें हिन्दी के उस भव्य और गौरवशाली अतीत का अहसास होता है, जिसके पीछे इसके अनेक जननायकों की मार्मिक गाथाएं और शहादतें छुपी हुई हैं। इसलिए हिन्दी नवजागरण सिर्फ एक अवधारणा भर नहीं है बल्कि एक ऐसा जीवंत एहसास है, जिससे बिना गुजरे हमारी चेतना में वह दृष्टिसंपन्नता नहीं आ सकती, जो राष्ट्र या समाज के भविष्य शिल्पन के लिए अनिवार्य है। इसलिए नवजागरण के किसी रचनाकार को जानना केवल कौतूहल और जिज्ञासा की बात नहीं होती बल्कि हमारी सोच और समझ को बदल देने वाली एक जरूरी कार्रवाई भी है। निःसंदेह रामवृक्ष बेनीपुरी का स्मरण भी इसका अपवाद नहीं। वह हिन्दी नवजागरण की आखिरी कतार के अमर जननायकों में एक थे। उनकी सोच, समझ और संवेदना स्वाधीनता की आंच में तपी थी और उनकी बहुविध सक्रियता आजादी के बाद तक साहित्य, राजनीति और संस्कृति के क्षेत्रों में दूर तक विस्तार पा गई थी। उनकी जिन्दगी जिन कंटीली बीथियों से गुजरी थी, वह कठिन दुःखों और संघर्षों से भरी हुई थी। अभी किशोरावस्था की केंचुल भी नहीं उतर पाई थी कि उन्होंने आजादी की ऐसी दुर्गम डगर पकड़ ली, जिसमें राहत की तनिक भी गुंजाइश नहीं थी। एक दीवाने फक्कड़ की तरह खुद को उसी प्रवाह के हवाले सौंप उन थपेड़ों को आजन्म झेला, जिसे उन्होंने खुद आमंत्रित किया था। उनके जीवन को देखें तो वह भयानक हलचलों से भरा हुआ था और जिसके तमाम उतार-चढ़ावों का उन्होंने खुद वरण किया था। वह स्वभाव से कलाकार, अंदर से संवेदनशील और मस्त तबियत के जिन्दादिल इंसान थे। व्यक्तित्व से विद्रोही बेनीपुरी जी की सक्रियता में गजब का जुझारूपन था। दरअसल वह अपने आप में एक सजीव आंदोलन थे।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जिस तरह उनका जीवन उथल-पुथल से भरा, अव्यवस्थित और ऊबड़-खाबड़ था, उसी तरह उनका लेखन भी। जीवन और सृजन दोनों स्तरों पर उन्होंने एक साथ कई मोर्चे खोल रखे थे और उन सब पर एक जुनूनी योद्धा की तरह आजन्म लड़ते रहे। वह इतिहास में आरक्षण को अधीर उन लेखकों में नहीं थे, जो बड़े ही सुसंगत और समयबद्ध तरीके से विधा विशेष का साहित्यिक व्यवसाय करते हैं। शायद यह भी एक कारण रहा हो कि उन्हें हिन्दी के इतिहास में वह जगह नहीं दी गई, जिसके वे सचमुच हकदार थे। उनकी उपेक्षा का एक कारण यह भी रहा कि वह आजादी के बाद भी सत्ता के प्रतिपक्षी बने रहे और सत्ता से कभी कोई समझौता नहीं किया। यहां तक कि आंदोलन के दौरान भी स्वामी सहजानंद सरस्वती हों या जयप्रकाश नारायण-बेनीपुरी जी जरूरी मौकों पर असहमति या विरोध दर्ज करने में कभी चूके नहीं। वह तो समय और समाज के सघन संघर्षों में खुद को झोंक देने वाले आकुल आत्मा के रचनाकार थे। उनके भीतर दलितों-वंचितों के लिए सच्ची वेदना थी, इसलिए उनका जीवन और लेखन समय-समाज को बदल देने वाले मिशन को समर्पित था। ऐसे रचनाकार इतिहास की नहीं बल्कि खुद इतिहास उनकी फिक्र करता है। आज जब उनकी लगभग तमाम रचनाएं ग्रंथावली की शक्ल में आ गई हैं तो उनका मूल्यांकन एक हद तक सुगम हो गया है। लेकिन उनके लेखन का वैविध्य-विस्तार और बिखराव इतना विस्मयकारी है कि उनके मूल लेखकीय व्यक्तित्व की पहचान आसान नहीं रह जाती। नाटक-एकांकी, उपन्यास-कहानी, शब्द-चित्र, संस्मरण, जीवनी लेखन, यात्रा वृतांत, समीक्षाएं अनुवाद और कविताओं का बहुरंगी रचनात्मक वितान चकित कर देने वाला है। इसके अलावा वैचारिक लेखन में लेख, संपादकीय, टिप्पणियां, डायरी और सार्वजनिक महत्त्व के कई पत्रों का फैला हुआ जखीरा है। बावजूद इसके उनके महत्त्व आकलन में राजनीतिक सक्रियता को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों एक-दूसरे से गहरे संबद्ध हैं।

बेनीपुरी जी समाजवादी पार्टी के संस्थापकों में थे और उन्होंने तत्कालीन समय के तमाम समाजवादी आंदोलनों में सक्रिय हिस्सेदारी ली थी। तब जमींदारों के विरुद्ध किसान आंदोलनों में भाग लेना कोई मामूली बात नहीं थी। एक ओर वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद से संरक्षित थे तो दूसरी ओर खुद कांग्रेस के साथ मिलकर एक बड़ी ताकत थे। दलितों और वंचितों में न तो आज जैसी चेतना थी न ताकत। उन दिनों उनके बीच जागरण पैदा करते हुए बेनीपुरी जी ने डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और डॉ. श्रीकृष्ण सिंह जैसे तमाम लोगों के विरुद्ध जाकर बड़ी निर्भीकता से अपना आंदोलन जारी रखा था। सबसे बड़ी बात यह कि उन्हें आजादी के बाद

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तक संघर्ष करना पड़ा था लेकिन सामंत-सवर्ण समर्थक जनतंत्र के पाखंड को बेनकाब करने में उन्होंने कभी कोई कोताही नहीं बरती थी। इस क्रम में वह इतनी बार जेल गए कि शायद उतनी बार जेल जाने वाला कोई दूसरा हिन्दी लेखक नहीं। इस पूरे प्रसंग में सबसे अधिक मार्मिक बात यह थी कि इस लड़ाई में एक मोर्चा उन्हें अपने दल में भी खोलना पड़ा और अंततः वह अकेले रह गए थे। समाजवादी पार्टी में विघटन पर उन्होंने अपनी मार्मिक टीस को जयप्रकाश जी के पत्र में व्यक्त किया है, जिसे डॉ. रामविलास शर्मा ने ग्रंथावली का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज माना है। इसमें उनका गहरा क्षोभ और गुस्सा बड़ी स्पष्टता से व्यक्त हुआ है। जयप्रकाश जी की जीवनी लिखने वाले उनके अनन्य मित्र बेनीपुरी जी ने बेलाग होकर तल्खी से उनकी आलोचना की है। इस दस्तावेजी पत्र में उनकी आंतरिक मरमराहट छुपी हुई है।

बेनीपुरी जी का अपने समय के साहित्य और राजनीति के लगभग तमाम शीर्षस्थों से निकट का संबंध था और महान अभिनेता पृथ्वीराज कपूर सहित अनेक बड़ी फिल्मी हस्तियों के बीच भी वह बहुत ही सम्मानित व्यक्ति थे। पेरिस में हुए विश्व लेखकों के सम्मेलन में उन्होंने न सिर्फ भारत का प्रतिनिधित्व किया था बल्कि वहां उन्होंने जो अध्यक्षीय भाषण दिया था— उसकी बड़ी तारीफ भी हुई थी। वह बड़े ही प्रभावशाली वक्ता भी थे, लेकिन इस सबके बावजूद उनकी अंतरंगता की एक दूसरी दुनिया भी थी, जिसमें देशभक्त मजदूर लक्ष्मण सिंह भी था, जिसने किसान आंदोलन में अपनी दोनों आंखें गंवा दी थीं और भीख मांगकर जीवनयापन को विवश था। वह मुसलमान ड्राइवर भी था, जो उनसे प्रभावित होकर पार्टी कार्यकर्त्ता बन चुका था। मुसहर जैसी दलित और कुचली गई जाति के भीतर नया जागरण पैदा कर उन्हें किसान आंदोलनों में शामिल किया। गांव-घर और आंदोलन से जुड़े अनेक कार्यकर्त्ता थे, जिनके साथ बेनीपुरी जी ने पारिवारिक रिश्तों के संबोधन कायम कर लिए थे। यह अकारण नहीं था कि उनके रचनात्मक साहित्य में चाहे 'पतितों' के देश में या 'कैदी की पत्नी' उपन्यास अथवा 'चिता के फूल' की कहानियां हों अथवा 'माटी की मूरतें' के वे अमर चरित्र जिन्हें उन्होंने अपनी जादुई कलम से सोने की मूरतें बना दी थीं। ये सारे चरित्र वे ही वंचित, दलित और संघर्षरत लोग थे, जिनकी बराबरी के लिए वह आजन्म समाजवादी आंदोलनों से जूझ रहे थे। इसी वेदना और विकलता का बावलापन ही उनके लेखन से आंदोलन तक पसरा हुआ है।

इस सबके बावजूद प्रश्न यह है कि हिन्दी इतिहास की वह कौन-सी चूक थी, जिसके कारण बेनीपुरी जी जैसे जुझारू रचनाकार लंबे समय तक साहित्य

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

की मुख्यधारा से ओझल रहे ? अब जब उनकी जन्म-शताब्दी पर रचनावली का प्रकाशन हुआ तो उनके महत्त्व से लोग वाकिफ हुए। डॉ. रामविलास शर्मा ने नवजागरण के आसंग में उनके महत्त्वपूर्ण योगदान पर पूरी पुस्तक लिखी। विभिन्न समारोहों, स्मारिकाओं और आलेखों से उनके साहित्य पर रोशनी पड़ी। बेनीपुरी जी ने नवजांगरण के स्वप्नों को साकार करने के लिए विभिन्न मोर्चों पर संघर्ष किया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की घोर खिलाफत के साथ सामंतवाद के विरुद्ध लगातार किसान आंदोलन किए। दलितों और वंचितों को जगाने और संगठित करने में अपना अमूल्य योगदान दिया। सांप्रदायिक संकीर्णता के विरुद्ध हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बराबर सचेत और सक्रिय रहे। सामाजिक रूढ़ियों पर लगातार तीखे प्रहार किए। मई 1937 में 'युवक' में छपी उनकी टिप्पणी है— 'तोड़कर फेंक दीजिए जनेऊ, जिसकी आज कोई उपयोगिता नहीं, जो बड़प्पन का भ्रम पैदा करता है और समस्वर से कहिए कि आप उतनी ही मर्यादा रखते हैं, जितनी आपका नीच से नीच पड़ोसी, चमार या भंगी रखता है। तभी आप महामनुष्य हैं। उसी क्षण आप ज्ञान-कांड के अधिकारी हैं। एक समाज आपको च्युत करेगा तो आपको दूसरा समाज मिलेगा। उसी समाज से आप साबित कर सकेंगे, आप समाज से नहीं बढ़े, समाज आप से बढ़ा है। यहीं से राष्ट्र की वृद्धि है, शक्ति है, उत्थान है, गति है। सब सुधार, सारी शिक्षा, कुल वैमनस्य का प्रतिरोध यही है। आज का सच्चा भारतीय यही है।'

एक खास तरह की ओजस्विता के साथ वैचारिक गंभीरता का निर्वाह करने वालों ऐसे पत्रकार-लेखकों ने ही नवजागरण का आधुनिक विकास किया था। वह लेखन के अलावा गांवों में घूम-घूम कर दलितों, वंचितों और किसान समाज में नया जागरण फैलाते रहे, उन्हें संगठित करते रहे और नए समाज के निर्माण के लिए उत्साह और प्रेरणा देते रहे।

आज स्वीकृति के बावजूद यह प्रश्न विचारणीय है कि ऐसे लोग हिन्दी इतिहास की मुख्यधारा में समय से सम्मानित क्यों नहीं हो सके ? मुझे लगता है इसके पीछे एक कारण यह है कि तत्कालीन साहित्य समय की जो अवधारणा छायावाद के नाम से जानी गई, उसे कविता तक ही सीमित रखा गया। अगर आप छायावाद के वैचारिक आधारों, संस्कारों और मूल्यों-मुद्राओं को तत्कालीन गद्यकारों में तलाश करें तो आचार्य शिवपूजन सहाय, रामवृक्ष बेनीपुरी, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, सुमन रामनाथ, विनोदशंकर व्यास, सत्यभक्त जैसे अनेक रचनाकार इस विचार-विमर्श के केन्द्र में शामिल हुए होते। आप पाएंगे इन सबके गद्य में छायावादी रूमानियत के साथ छायावादी अवधारणाओं के वैचारिक प्रमाण भी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। बेनीपुरी जी, शिवपूजन जी या उग्र जी के गद्य में भी छायावादी रूमानियत से अलग होते यथार्थवादी गद्य धारा की वह परम्परा मिलती है, जो निराला जी के गद्य की एक बड़ी विशेषता मानी जाती है। बेनीपुरी जी की कहानी 'कहीं धूप-कहीं छाया' से एक उद्धरण लें— 'एक पहर रात से ही मूसलों की धम्म-धम्म और चक्कियों की धर्र-धर्र से जिनमें कभी-कभी कांच की चूड़ियों की खन-खन और कांसे के कड़े की टनटन भी मिली होती थी— सारा गांव मुखरित हो उठता। कुम्हार की चाह अविरल गति से नृत्य करती, जिस पर उसकी थाप अपने थप-थप शब्द से ताल सा देती रहती। बढ़ई के वसूली की खट-खट और लोहार की कुल्हाड़ी के ठांय-ठांय की कर्णकटुता को तेली के कोल्हू का चर्र-चों और ग्वाले के मटके का घर्र-घों बहुत अंशों में स्निग्ध और मधुर बनाने की चेष्टा करता।'

स्पष्ट है काव्यात्मक रोमानियत के अलावा यथार्थ का सूक्ष्म डिटेल्स जिस तरह से अंकित है वह छायावादी तत्त्वों के बीच यथार्थवाद की मौजूदगी को प्रमाणित करता है। इसलिए छायावाद के दौर में लिखे गए गद्य की इस दृष्टि से भी मीमांसा और मूल्यांकन किया जाना चाहिए। जहां तक बेनीपुरी के गद्य का प्रश्न है— वह जनाभिमुख, सामाजिक सरोकार और राजनीतिक प्रखरता का गद्य है। बेनीपुरी के मानस की मूल बुनावट गंवई थी— वही जिन्दादिली, वही जीवंतता जो नवजागरण के लेखकों की खास पहचान थी। उनका मन गांव की जातीय संस्कृति और संस्कारों में ही रचा-बसा था। वह वस्तुतः किसान चेतना के रचनाकार थे। उनकी अन्य पुस्तकों में 'लालतारा' तथा 'गेहूं के गुलाब' के शब्दों को भी शामिल करें तो उनके रचनात्मक लेखन का बहुत बड़ा हिस्सा गांव, किसान और उनकी लोक संस्कृति को ही समेटता है। 'युवक' और 'जनता' जैसे राजनीतिक पत्रों के संपादन में उनकी टिप्पणियां किसान आंदोलन को नई दिशा दे रही थीं। किसान समाज की बहुविध समस्याएं, जातीय वर्ण-व्यवस्था, जमींदारी शोषण और उनके संघर्ष— इन सबको उन्होंने अपने विचार केन्द्र में रखा। जग रहे, संघर्ष कर रहे और बदल रहे समाज को विभिन्न कोणों से दर्ज करने वाले वह अप्रतिम पत्रकार-लेखक थे।

इस तरह एक तरफ गांव और किसान जीवन के कोनो-अंतरों तक पहुंचने वाली ऐसी आत्मीय दृष्टि जो पारिवारिक नाते-रिश्तों के मधुर संबोधनों समेत उनके लेखन में सजीव उपस्थित है तो दूसरी ओर इसे नष्ट करने वाली सामंती और पूंजीवादी व्यवस्था का जनतांत्रिक पाखंड और इस सबसे ऊपर विश्व में बढ़ते साम्राज्यवादी प्रसार की बारीक समझ उन्हें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बनाती है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

यह अकारण नहीं था कि रूस और चीन के बदलते समाज और राजनीतिक परिदृश्य ने उन्हें गहरे आकर्षित किया था और इससे संबंधित उनका लेखन महत्त्वपूर्ण है। वह विश्व की राजनीतिक घटनाओं और उसके प्रभावों पर बड़ी सतर्क निगाह रखते थे। वह इतने सचेत और दूरदृष्टि वाले रचनाकार थे कि कई प्रसंगों में उन्होंने डॉ. राममनोहर लोहिया और जयप्रकाश नारायण तक को सावधान किया था और आने वाले संभावित खतरों, मुश्किलों और विचलनों से आगाह किया था। जनता से गहन सरोकारों का ही शायद यह सुफल था कि उनकी भाषा तमाम व्यंजकता के बावजूद अपने समकालीनों में बोलचाल के करीब है। उनके गद्य में बड़ी ही सहजता और साफगोई है। उनका वैचारिक गद्य भी आत्मीय संवेदना से सिक्त है, जो वस्तुत: हमारी जातीय परंपरा का ही एक दुर्लभ वैशिष्ट्य है। शुष्क गद्य लेखन हिन्दी की जातीय परम्परा का स्वभाव नहीं। उनके लेखन का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा नाटक और एकांकी है, जो वैशाली और मगध क्षेत्र के गौरवशाली अतीत को समेटता है। प्रगतिशीलता उनके ऐतिहासिक विवेक को सामाजिक चेतना और आधुनिक दृष्टि से संपन्न करती है। 'अंबपाली' और 'विजेता' उनके महत्त्वपूर्ण नाटक हैं। एक छोटी-सी नाटिका नेत्रदान परम्परागत संस्कारों पर चोट करती है। कुणाल के प्रति विमाता की आसक्ति का जटिल मनोविज्ञान बहुत ही प्रभावशाली और मार्मिक ढंग से उभरा है। ऐसे रचनाकारों का स्मरण हमारे संघर्ष के लिए हमेशा प्रेरणादायी रहेगा— इसमें संदेह नहीं।

('दैनिक हिन्दुस्तान', 20 जन 2000; 'अक्षर पर्व', मार्च 2000)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सांस्कृतिक शिल्पकार जगदीशचन्द्र माथुर

स्वाधीनता के बाद देश में जो सबसे बड़ी चुनौती थी और शायद आज भी है— शासन-तंत्र के भारतीय संस्कार की। लेकिन ढांचा अंग्रेजों का होगा तो संस्कार का भारतीय होना मुश्किल है। बावजूद मौजूदा व्यवस्था में ही ऐसे कई भारतीय शिल्पकार हुए, जिन्होंने अपनी क़ल्पना और कार्यक्षमता से सांस्कृतिक पुनर्निर्माण का कार्य किया। आजादी के बाद नवजागरण के जो स्वप्न थे, जो आकांक्षाएं थीं- उनको मूर्त्त करने की उत्साहवर्द्धक कोशिश राष्ट्रीय और प्रादेशिक स्तरों पर जरूर हुई और इसके सुफल भी सामने आए, लेकिन नेहरू युग में ही ऐसी तमाम कोशिशें विडंबनाओं की शिकार हुईं और यह प्रक्रिया भी लगभग समाप्त हो गई। परंतु जिन लोगों ने इसकी सार्थक कोशिश की, उनमें एक नाम जगदीशचन्द्र माथुर का भी है।

माथुर जी के पिता शिक्षक थे इसलिए एक नैतिक संस्कार और समझ उन्हें प्रारंभ से ही मिली। बाद में उच्चाधिकारी होने पर भद्रलोक के संपर्क ने उन्हें प्रभावित नहीं किया। उसकी नैतिक सीमाओं से वह परिचित थे। उन्होंने आयातित पश्चिम आधुनिकता के खोखलेपन को नजदीक से देखा-परखा था। वह खुद विचारों से नेहरू-युग के प्रभाव में मगर उनका आधुनिकबोध सहज विकसित हुआ था। भारतीय परंपराओं के प्रति उनकी समझ रोमानी या किताबी नहीं थी। वह प्रबुद्ध थे और बहुत कुछ उन्हें संस्कारगत हासिल था। कई मायनों में वह नेहरूवाद से मुक्त और मौलिक सूझ-बूझ वाले थे। नवजागरण में जो पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियां थीं वे आजादी के बाद आपत्तिजनक शक्ल अख्तियार करने लगीं। वे भारतीय संस्कारों को संकीर्णता की ओर ले जाना चाहती थीं जिसका विकल्प परिष्कृत आधुनिकबोध, संस्कार और समझ ही था। जाहिर था यह अंतर्द्वन्द्व उभरता और ऐसा हुआ भी।

CC-0.Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

माथुर जी पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों के मताग्रहों को समझते थे। उन्होंने अपनी सोच, संस्कार और सक्रियता से एक ऐसी पगडंडी तलाश ली थी जिस पर चलते हुए कहीं किसी मताग्रह से टकराते नहीं थे। उनके पास एक ऐसी संतुलित और परिष्कृत अंतर्दृष्टि थी, जो सांस्कृतिक अस्मिता को मूर्त्त करने में परिवेश को बिना किसी वैचारिक मंतवाद के अपने अनुकूल कर सकी। वह जिस भूमिका में थे वहां बिना ऐसा किए, वह सृजन संभव नहीं था जो आजाद भारत के लिए अनिवार्य और अपेक्षित था। पददलित भारतीय समाज में गौरवपूर्ण आत्मविश्वास की प्रेरणा उसके भव्य अतीत से ही संभव था। इसे उन्होंने गंभीरता से महसूस किया था। लेकिन ऐसा करते हुए एक गंभीर विचलन की भी संभावना थी क्योंकि भद्रलोक की रोमानियत में अभिजात्य एकांगिकता होती है। यही कारण था कि उन्होंने भारतीय संस्कृति के शास्त्रीय स्वरूप के समानांतर, लोकधर्मी के पुनः संस्कार को भी समान महत्त्व दिया। यह उनके सांस्कृतिक सोच का केन्द्रीय प्रश्न था और किंचित उनके पूरे कार्य के महत्त्व का भी।

उनका जन्म 16 जुलाई 1917 को उत्तर प्रदेश के खुर्जा कस्बे में हुआ था। कस्बा अपने स्वभाव में ही परंपरा और आधुनिकता की संधि-संवेदना का होता है। जड़ें गहरी होती हैं, मगर उसके सूत्र ऊर्ध्वगामी होते हैं। उनके पिता लक्ष्मीनारायण माथुर जो वहीं जे.एस. हाई स्कूल में प्रधानाध्यापक थे और बहुत ही संतुलित आदर्शों के अनुशासित व्यक्ति थे। आर्यसमाजी संस्कारों और महात्मा गांधी के राजनीतिक आंदोलनों में तपकर, उन्होंने एक ऐसा परिष्कृत आचरण अर्जित किया था, जिसकी अघोषित छाप परिवार से विद्यालय तक समान रूप से दिखाई पड़ती थी। वह प्रबुद्ध अध्ययनशील और सम्मानित व्यक्ति थे। माथुर जी ने 'मेरे पिता' संस्मरण में उनके व्यक्तित्व के विवेचन क्रम में तीन केन्द्रीय घटनाओं का वर्णन किया है।

पहली घटना भंगी के साथ पिता के भोजन करने, दूसरी मशक से पानी ढोने वाले मुसलमान के विवाह में शरीक होकर भोजन करने तथा तीसरी मुस्लिम भाव की रक्षा में 'शाहजहां' नाटक स्थगित करने की है। किसी औसत कस्बे में, वह भी उस जमाने में जब सामाजिक व्यवस्था आज की तरह जागरूक नहीं थी— ऐसी घटनाओं का होना थोड़ा सनसनीखेज हो जाता है। एक स्कूल के प्रधानाध्यापक की ऐसी मजाल, ऐसी हरकत। सवर्ण और कट्टर हिन्दू प्रवृत्तियों वाले लोगों को ना-गवार गुजरनी ही थी लेकिन तमाम बड़े सामाजिक दबावों को झेलते पिता की दृढ़ता ने माथुर जी को गहरे प्रभावित किया। किशोर माथुर जी के मन में स्थायी छाप पड़ी। इन घटनाओं से बनी आस्था आगे प्रशासनिक अनुभवों में बड़ी काम

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आई। इसी दौरान की एक अन्य घटना माथुर जी की दृढ़ देशभक्ति को प्रमाणित करती है। पिकेटिंग करते उनके ऊपर से कलक्टर पैर रखते हुए गुजरता है। तेरह वर्ष की किशोर उम्र में सत्याग्रही साहसिकता का यह बीज आगे व्यक्ति-वट बन पूरे जीवन को ही गरिमावान बना गया।

उनके पिता न सिर्फ अध्ययनशील और वैज्ञानिक परिवर्तनों के प्रति जागरूक थे बल्कि अपनी शिक्षण-पद्धति में हमेशा नवीन प्रयोग भी किया करते थे। उन प्रयोगों की चर्चा करते हुए माथुर जी उसकी जरूरत दिल्ली के अधुनातन स्कूलों के लिए अनिवार्य बताते हुए मौजूदा शिक्षा पद्धतियों की आलोचना भी करते हैं। उनके पिता सुधारवादी और संयमी तो थे ही, स्वाधीनता समर्थकों की परोक्ष मदद भी किया करते थे। पिता के इस गोपन व्यक्तित्व की छाप माथुर जी पर गहरी पड़ी। वह भी अपने पिता की तरह कभी कट्टरता या उग्रता की ओर न बढ़े। इसीलिए नवजागरण से एक दूरी जगदीशचन्द्र माथुर के स्वभाव और लेखन— दोनों में बनी रह गई। बावजूद समझ और संस्कार के स्तर पर सहज रिश्ता तो रहा ही। इसे हम उनके किए रचनात्मक कार्यों में देख सकते हैं।

माथुर जी के स्वभाव और व्यवहार के रचने में बड़ी भूमिका उनके स्कॉउट शिक्षक श्रीराम वाजपेयी की भी रही। उनके नेतृत्व में सामाजिक सेवाओं के अनुभव और आत्मसंयम का सबक इतना स्थायी था कि माथुर जी ने भी अंत तक खुद को संयमित और संतुलित रखा। एक नैतिक दृढ़ता और सक्रियता उनके प्रशासनिक अनुभवों में उन्हें किस रचनात्मक शिखर तक ले गई— इसके गवाह उनके किए गए मौजूदा कार्य रहे। यही वाजपेयी जी जब गया में उनसे मिलने गए तो वहां माथुर जी कलक्टर थे। चिट पाते ही वह पांव छूने को दौड़कर बाहर आए। यह विनम्रता तब अपने समय में एक हद तक सहज थी। अब तो ऐसा दुर्लभ ही है। शिक्षक श्रीराम वाजपेयी कहां रहे ? रांची में वाजपेयी जी मिलने गए तो माथुर जी चैम्बर से बाहर थे। बैठे हुए— उनका गंदा टेबल देखा तो खुद साफ करने लगे। माथुर जी शर्म और खीझ से पानी हो गए। ऐसा आदर्श कभी वाकई यथार्थ था— यह सोचकर सहसा यकीन नहीं होता।

माथुर जी बहुत ही कुशाग्र बुद्धि के थे और उनकी मेधा असाधारण थी। इस स्कूली जीवन में ही उन्होंने हस्तलिखित पत्रिका निकाली तथा 'मूर्खेश्वर' नाम से प्रहसन लिखा— जो बाद में प्रयाग के 'बालसखा' पत्रिका में प्रकाशित हुआ। लव-कुश, शिवाजी, समर्थ रामदास पर नाटिकाएं और हेनरी फोर्ड की जीवनी लिखकर अपने आने वाले जीवन की पदचाप स्पष्ट कर दी। भविष्य की आहट बचपन में ही सुनाई देने लगी थी। आश्चर्य यह कि इन तमाम सक्रियताओं के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साथ उन्होंने बोर्ड की परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान से उत्तीर्ण की। कस्बे का स्कूल छोटा पड़ने लगा। 1933 ई. में वह आगे की शिक्षा के लिए इलाहाबाद आए। इलाहाबाद नवजागरण और आजादी का जबरदस्त केन्द्र था। वहां का परिवेश प्रबुद्ध और जागरूक था। उन दिनों वह बहुत ही सक्रिय शहर था। उस जमाने में देश के आधुनिक शिक्षा-केंद्रों में इलाहाबाद का काफी सम्मान था। 'युइंग क्रिश्चियन कॉलेज' में आई.ए. के छात्र बने माथुर जी ने फिर प्रदेश में सर्वोच्च स्थान अर्जित किया। यह सोचकर आश्चर्य होता है कि शिक्षा की सीढ़ियों पर इतने सफल कदमों से शिखर चढ़ते माथुर जी में राष्ट्रीय आंदोलनों के प्रति उदासीनता क्यों रही ? उनका लक्ष्य अपने पिता, परिवार और परिचितों की निगाह में सफलता का शिखर छूना था। जो हो, इतना तो तय था सफलता चाहे जैसी हो, निजी लक्ष्य कभी सार्वजनिक लक्ष्यों की उपलब्धि नहीं दिला सकते। माथुर जी ने जो हासिल किया वह बहुत बड़ा था, लेकिन जो छूट गया वह उससे भी बड़ा था। बावजूद जो परिवेश था, जैसी प्रतिभा थी, जैसे संस्कार मिले और जैसी बौद्धिकता अर्जित की— उसका सुफल भी कोई साधारण बात नहीं थी। एक बात तो थी कि माथुर जी में हिन्दी लेखन की निष्ठा कायम रह गई। बचपन में जो बीज पड़ा था— उसका वैभव तो फलना ही था। इलाहाबाद के म्योर होस्टल में उनका दाखिला होना उनके जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना बनी। तब डॉ. अमरनाथ झा की शोहरत शीर्ष पर थी। उनके रुतबे का सानी न था। वह अपने समय के शीर्ष आचार्यों में थे। माथुर जी ने उन्हें औपचारिकता में नहीं, यथार्थ में 'जीवन-निर्माता' कहा तो यह अकारण न था। उनकी छांव में पले-पनपे लोग आगे चलकर ऐसी भारतीय हस्तियां बने, जिन्हें इतिहास में नायकत्व हासिल हुआ। उनके सामीप्य-स्नेह, संयम-शील और शिक्षा-समझ को माथुर जी ने वरदान के रूप में स्वीकार किया। उनकी गंभीर और गुरुतर आंखों की प्रतिपल देखरेख में अनेक व्यक्तित्वों का निर्माण हुआ। इलाहाबाद के इस प्रवास में माथुर जी ने मेरी बांसुरी, भोर का तारा, रीढ़ की हड्डी और कलिंग विजय जैसी कालजयी एकांकियां लिखीं, अभिनय किए और 1937 ई. में अंग्रेजी से एम.ए. की परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की।

यह सही था कि लौकिक सफलता की सीढ़ियां चढ़ते माथुर जी का जीवन आजादी के उन रास्तों की ओर न गया, जो तूफानी झंझावातों से भरा था। उन्होंने आई.सी.एस. की तैयारी में लगने वाली दुर्लध्य राह ही अपनाई। उन्होंने जमकर तैयारी की और पूरे परीक्षार्थियों में चौथा स्थान प्राप्त किया। पिता की लालसा फली। जिन दिनों लोगों ने सरकारी नौकरियां छोड़ीं, उन दिनों सर्वोच्च सरकारी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नौकरी का वरण एक लेखक के रूप में उनकी आस्थाओं को कमजोर बनाता है, जिसकी क्षतिपूर्ति उन्होंने आगामी जीवन में पूरी की। ऐसी सोच ही संभवत: उनके प्रति निर्दोष निष्कर्षों तक पहुंचा सकती है। प्रत्येक व्यक्तित्व के मूल्यांकन का निकष, उसकी उपलब्धियों और सक्रियताओं के परिवेश के आसंग में ही संभव है। वह एक रचनाकार थे और उन्होंने अपने जीवन की जो भूमिका तय की उसे प्रयत्न से हासिल कर, ईमानदारी से निर्वाह भी किया। व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का कभी कोई अकेला आदर्श नहीं होता।

उनकी पहली नियुक्ति उड़ीसा के संबलपुर में सहायक मजिस्ट्रेट के पद पर हुई। बड़ी नौकरी और नए जीवन में युवा मन का स्वाभाविक राग-रंग उन्हें आकर्षित या विचलित न कर सका। उनके शील और संस्कार में जो नैतिक दृढ़ता थी, वह कभी भी तनिक कमजोर न पड़ी। अंदर का प्रबुद्ध और कलाकार मानस आदिवासी जीवन के स्पर्श से संवेदनशील हो उठा। जहां आदिवासियों की आदिम संस्कृति, उनके नृत्यों, गीतों और मांदर ध्वनियों से संपन्न राग-रंग ने उन्हें मोहित किया तो वहीं कोणार्क का वैभवपूर्ण निर्माण शिल्प की संस्कृति ने गहरे प्रभावित किया। शायद यही वह समय रहा जब उन्होंने अभिजात्य और लोकधर्मी संस्कृतियों के कगारों से प्रभावित भारतीय समाज की सांस्कृतिक धारा की प्रत्यक्ष पहचान की। लोकजीवन और लोककथाओं के प्रति अनुराग-भाव अंत तक बना रहा। एकांकी 'खंडहर' और नाटक 'कोणार्क' की रचना इन्हीं अनुभवों की उपज थी।

सन् 1942 की अगस्त-क्रांति की धधकती आग लक्ष्य-पूर्व समाप्त होने वाली नहीं थी। बिहार में आजादी का जो इतिहास रचा जा रहा था, उसकी कई धाराएं थीं। एक ओर स्वामी सहजानंद सरस्वती और राहुल सांकृत्यायन जैसे लोग किसान आंदोलनों को तेज कर रहे थे तो दूसरी ओर त्रिवेणी-संघ ने सामाजिक न्याय का बिगुल फूंका था। कर्पूरी ठाकुर, रामवृक्ष बेनीपुरी, रेणु, हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' जैसे कई राजनेता, रचनाकार समाजवादी आंदोलनों में संघर्ष, जेल और फरारी जीवन जी रहे थे। ऐसे सुलगते समय में ही माथुर जी हाजीपुर के अनुमंडलाधिकारी बनाए गए। जाहिर था एक प्रशासक की भूमिका में वह इन तमाम परिवर्तनों से अलग और अछूते रहे। राजेन्द्र प्रसाद, श्रीकृष्ण सिंह अनुग्रह नारायण सिंह, जगजीवन राम, मजरूल हक, दिनकर, शिवपूजन सहाय, सुधांशु जी जैसे कांग्रेसी मानसिकता वाले लोग राजनीति में जमींदारी-व्यवस्था को कायम रखते हुए अंग्रेजों को सत्तामुक्त करने की दिशा में लगे थे। इनमें सामाजिक सेवा-भाव वाली सक्रियता शामिल थी। ये बिहार की संस्कृति का

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सामंती शृंगार पूरी शास्त्रीयता में करना चाहते थे। माथुर जी करवट बदलते बिहार के तत्कालीन इतिहास के पार जाकर सुदूर अतीत की गरिमा को शिल्पित करने की दिशा में सक्रिय हुए। यही शायद सुरक्षित भूमिका भी थी क्योंकि इस भूमिका में उनकी प्रशासकीय मर्यादा भी भंग नहीं होती थी। यह माथुर जी की समझ और संस्कार के अनुकूल भी था।

हाजीपुर के अनुमंडलाधिकारी का पद-स्थापन न सिर्फ उनके जीवन की, बल्कि बिहार के सांस्कृतिक इतिहास की भी विलक्षण घटना सिद्ध हुई। तत्कालीन राजनीतिक सरगर्मियों की सीमाओं से सायास अलग रहकर, उन्होंने अकारण ही सांस्कृतिक शिल्पन की राह नहीं चुनी थी। उनकी समझ में सांस्कृतिक आशय-राजनीतिक आशय का पूरक था। ऐसा करते हुए राजनीतिक दमन के लिए कोई उच्च अधिकारी एक सीमा के बाद उन्हें विवश नहीं कर सकता था। अगर उनके लेखन के क्षेत्र और रुचि को ध्यान में रखें तो पूर्व इतिहास का आकर्षण उन्हें रचनात्मक स्तर पर लगातार उत्तेजित और उत्साहित करता रहा था। इसी बीच उनका विवाह इलाहाबाद के एक कुलीन परिवार में हुआ। विद्या और सुरुचिपूर्ण कला-चेतना से संपन्न साहचर्य का सौभाग्य, उनकी पूर्व सफलताओं की संगति में ही रहा। अत्यन्त परिष्कृत रुचिसंपन्न पत्नी बिल्कुल उनके अनुकूल रही। व्यावहारिक जीवन में बेहतरी के सारे संयोग उन्हें सुखी-संतुष्ट करने वाले ही मिले। उनके जीवन में अभाव और असंतोष की कोई जगह नहीं थी।

संसार के ज्ञात इतिहास में पहली बार गणतंत्र को मूर्त्त करने वाली लिच्छवियों की राजधानी वैशाली इतिहास की अमर नगरी है। उसके उजाड़ खंडहरों में झांकते हुए अतीत के गौरवमयी इतिहास की गाथा को समीप से सुनने का अवसर माथुर जी को लगातार रोमांचित करता रहा। पुरातात्विक अवशेषों और स्मारकों से गुजरते अंग्रेजी हुकूमत की नौकरशाही— शायद उन्हें अंदर से उद्वेलित करती रही। जिन गणतंत्रीय आदर्श के स्वप्नों को पाने के लिए करोड़ों देशवासी, ब्रितानी हुकूमत से प्राणप्रण से जूझ रहे थे, उन्हीं आदर्शों की जन्मभूमि पर वह नियुक्त प्रशासक थे। माथुर जी के संवेदनशील मन का द्वंद्व आसान नहीं था। शायद वैशाली के ध्वंसावशेष भारतीयों के आदर्शों को गहरे प्रेरित कर सके— कुछ ऐसे ही अंत:संघर्षों के साथ उन्होंने रचनात्मक संकल्प लिए होंगे। अंतत: कुछ जागरूक और प्रबुद्ध लोगों से संपर्क साध 'वैशाली-संघ' की स्थापना की। शासकीय सक्रियता लोगों को कितना क्रियाशील बनाती है— इसके उदाहरण थे इसी क्षेत्र के लालगंज में दुर्लभ पुस्तकालय के संस्थापक कर्मठ समाजसेवी जगन्नाथ प्रसाद साह। समय के साज पर जब सुधी हाथ पड़ते हैं तो उसका संगीत

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पीढ़ियों तक अविस्मरणीय बना रहता है।

देश स्वाधीनता की राह पर लगातार आगे बढ़ रहा था। परिस्थितियां अनुकूल होने वाली थीं। वैशाली संघ की सक्रियता से प्राचीन गौरव के पुनरुद्धार का महान कार्य प्रारंभ हुआ। सन् 1944 में पहला वैशाली महोत्सव हुआ जिसकी गूंज ने स्थानीय धरती में पुनर्जागरण की नई लहर पैदा कर दी। 24वें तीर्थंकरं महावीर स्वामी के जन्मोत्सव पर आयोजित समारोहों का सिलसिला चल पड़ा। देश-विदेशों के उद्‌भट विद्वानों, प्रबुद्ध राजनेताओं और समर्थ संस्कृति कर्मियों की श्रव्य और दृश्य रूपों में बौद्धिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति ने एक ऐतिहासिक समां खड़ा किया। यह बिहार का एक गौरवशाली अध्याय था। वैशाली के पुरातात्विक आसंगों और गौरव-गरिमा से जुड़ी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। माथुर जी ने राहुल सांकृत्यायन, हजारी प्रसाद द्विवेदी, उपेन्द्रनाथ महारथी और योगेन्द्र मिश्र जैसे समर्थ लोगों के सहयोग से सही अर्थों में अपने तरीके से नवजागरण मूर्त्त किया।

माथुर जी 1943 से 1949 तक बिहार के कई जिला मुख्यालयों में गए। इसी बीच उनकी नियुक्ति गया के जिलाधीश पद पर हुई। जिस दिन उन्होंने पद-भार ग्रहण किया, उसी रात भारत की आजादी की घोषणा हुई। स्थानीय मैदान में झंडा फहराते हुए माथुर जी के उल्लास का अंदाज किया जा सकता है। आजाद भारत की शासन-व्यवस्था में संचित कल्पनाओं के मूर्त्त भाव ने उन्हें और रचनात्मक प्रेरणा दी। तभी महात्मा गांधी की नृशंस हत्या से पूरा देश स्तब्ध हो गया। माथुर जी ने शहर के सबसे बडे मैदान का नाम महात्मा गांधी की स्मृति में रखा और एक विशाल स्टेडियम का निर्माण कराया। गया देश की प्राचीनतम पौराणिक और ऐतिहासिक नगरी है। पुरातात्विक दृष्टि से भी यह अनुपम नगर है, मगर गया के दुर्योग से वह यहां ज्यादा दिन नहीं रह सके और उनका तबादला हो गया।

सन् 1950 में वह बिहार सरकार के शिक्षा सचिव बने और आजाद बिहार के सांस्कृतिक इतिहास का स्वर्णिम अध्याय शुरू हुआ। तब आजादी की आंच में तपे राजनेताओं का जमाना था। शासन में सामाजिक स्तर पर सवर्ण दबदबा तो कायम हुआ ही, जमींदारों का वर्चस्व भी बन गया। बावजूद लंपटता नहीं थी और पतन का दौर अभी शुरू नहीं हुआ था। पददलित राष्ट्र की अस्मिता के पुनर्जागरण का जोर था। शासक वर्ग सामंती तो था लेकिन उसमें प्रदेश को अतीत आसंग में आधुनिक स्वरूप देने की ललक थी। सुखद संयोग से तत्कालीन शिक्षा मंत्री आचार्य बद्रीनाथ वर्मा प्रबुद्ध और परिष्कृत सांस्कृतिक अभिरुचि के थे। माथुर जी की चिरकल्पित योजनाओं को संभव करने का अनुकूल अवसर आया था।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उन्होंने बिहार के सांस्कृतिक वैभव की विविधता का ख्याल रख अनेक सांस्कृतिक-साहित्यिक संस्थाओं को मूर्त रूप दिया। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, भारतीय नृत्य कला मंदिर, नव नालंदा पालि प्रतिष्ठान नालंदा, मिथिला संस्कृत शोध संस्थान दरभंगा, प्राकृत शोध संस्थान वैशाली और काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान पटना जैसी महती संस्थाओं को साकार रूप दिया। इन संस्थाओं की कारगर सृजनशीलता के लिए जरूरी था ऐसे सारथियों का चयन, जो प्रदेश के सांस्कृतिक रथ को उत्कर्ष की ऊंचाई तक ले जा सकें। उन्होंने इसके लिए देश प्रसिद्ध और अपने क्षेत्र की प्रतिष्ठित हस्तियों के हाथों में सम्मानपूर्वक संचालन की बागडोर सौंपी। क्रमशः आचार्य शिवपूजन सहाय, श्री हरि उप्पल, भिक्षु जगदीश कश्यप, डॉ. उमेश मिश्र, डॉ. हीरालाल जैन और डॉ. अनत सदाशिव अल्तेकर जैसे मनीषियों और उद्‌भट आचार्यों को आसीन कराया। अगर इन सबके अथक प्रयत्नों से इन संस्थाओं के प्रारंभिक कार्यों का आकलन किया जाए तो बिहार के निर्मित होते इतिहास की भव्यता का सहज ही अनुमान हो जाएगा। अगर उस काल की गतिशीलता का दशांश भी कायम रहता तो आज अभिशप्त प्रदेश का चेहरा इतना कुरूप नहीं लगता। आज इन संस्थाओं को देखकर माथुर जी की कलपती आत्मा की मार्मिकता महसूस की जा सकती है। स्वप्नशिल्पियों की यह कतार देखते-देखते ओझल होती रही और ये तमाम सांस्कृतिक केन्द्र उजड़ते चले गए। आज ये संस्थान वेतनभोगियों के चरागाह बनकर रह गए हैं। लगभग छः वर्षों के सीमित शिक्षा-सचिव काल में उपलब्धियों की आश्चर्यजनक ऊंचाई चढ़ने वाले माथुर जी ने सिर्फ इतना ही नहीं किया बल्कि प्रौढ़ और बुनियादी शिक्षा पद्धतियों की राज्यव्यापी शुरुआत भी की। दरअसल उनके लिए संस्कृति कोई अलंकरण भर नहीं थी। शिक्षा और संस्कृति बेहतर राष्ट्रीय भविष्य के अनिवार्य तत्त्व हैं। इनकेअभाव में संस्कृति या साहित्य के कार्यों का कोई मतलब नहीं होता। उन्होंने संस्कृति के तमाम कारकों में नई पहल की। हमें उनके कार्यों को इसी परिप्रेक्ष्य में समझने की कोशिश करनी चाहिए। उनके इस सांस्कृतिक कल्पक रूप के आकलन क्रम में, हमें इस बात का भी ख्याल करना होगा कि वह मात्र प्रशासक की हैसियत में थे। आप तंत्र की सीमा का अनुमान कीजिए। फिर सामंती सवर्ण वर्चस्व की राजनीति में जो दूसरी कतार थी, उनमें सभी नेक इरादों वाले भी नहीं थे। हर क्षेत्र में ईर्ष्या-द्वेष और अड़ंगेबाजी-विरोध का भी सिलसिला था। लेकिन हालात इतने बेकाबू नहीं थे कि सब कुछ नष्ट हो पाता। उनके कार्यों को देखते हुए छः वर्षों का समय भी सीमित था। मेरा ख्याल है आजादी के संघर्ष में कॉलेज नहीं छोड़ने वाले माथुर जी का महत्त्व इसी में था। दिक्कत तब होती

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है जब हम व्यक्तियों के आकलन के निकष पहले ही तय कर चुके होते हैं। व्यक्ति को उसके परिवेश प्रसंग से अलग करके आकलित करना न्याय करना नहीं होगा।

माथुर जी के इलाहाबाद से बिहार के शिक्षा सचिव तक पहुंचने की प्रौढ़ता में एक महत्त्वपूर्ण पक्ष उनके जीवन में आए संयोग-संपर्कों का भी है। अपने पिता लक्ष्मीनारायण माथुर, श्रीराम वाजपेयी और डॉ. अमरनाथ झा के साहचर्य की उनके जीवन में जो भूमिका हो, मगर उनके पूरे व्यक्तित्व को उसी का विस्तार मानना अधूरी बात होगी। उनके जीवन में लगातार आते विस्तार में उनके स्वयं का रचा भी ज्यादा था। उनके लिखे संस्मरणों को पढ़कर यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। वह जैसा सांस्कृतिक नवजागरण संभव कर रहे थे, वह एक सामूहिक कोशिश थी। वह संयोजक थे, सूत्रधार थे। घनानंद की मशहूर पंक्ति है— लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मोरे कवित्त बनावत।— माथुर जी के साथ भी कुछ-कुछ ऐसा ही था। उसका विस्तार उनके संपर्क में निरंतर आते विशिष्ट व्यक्तित्वों से भी हुआ, जिन पर लिखे संस्मरण हिन्दी की मूल्यवान धरोहर हैं। व्यक्ति के वैशिष्ट्य की बारीक और गहरी समझ प्रमाणित करती है कि उनमें पहचान की विशिष्ट अंतर्भेदी क्षमता थी। तभी वह परस्पर भिन्न व्यक्तित्वों से गहरे जुड़े रह सके और उनके बीच सम्मानित हुए। देविका रानी के संपर्क को लें। उनके दो विवाहों की संक्षिप्त चर्चा में माथुर जी की नैतिक मर्यादा का चरमोत्कर्ष दिखाई देता है। यह आधुनिकबोध उनके अपने संस्कारों के विपरीत नहीं था बल्कि वह उनकी प्रबुद्धता की ही उपज था। एक ओर देविका रानी जैसी कलाकार देश-विदेश घूमीं, यूरोपीय रंगमंचों पर अभिनय कर सम्मान अर्जित करने वाली, दूसरे पति के रूप में प्रसिद्ध विदेशी कलाकार का वरण करने वालीं, पंडित नेहरू जैसे प्रधानमंत्री से पारिवारिक पहुंच रखने वालीं, तो दूसरी ओर गंवार लोगों का सांस्कृतिक नायक अनपढ़ भिखारी ठाकुर जो कभी-कभी श्लीलता और अश्लीलता का फर्क तक मिटा देता था। इन परस्पर विपरीत ध्रुवांतों पर खड़े कलाकारों की पसंद का संतुलन उन्हें विशिष्ट बना देता है। उनके व्यक्तित्व की यह विलक्षण बात बेहद दिलचस्प लगती है कि देविका रानी से कभी ऑटोग्राफ लेने वाले माथुर जी ने उसे पुरातात्विक वस्तु की तरह संजो कर रखा। कुछ भी मूल्यवान खो न जाए— इसकी वह गहन चिंता किया करते थे। यह बात विस्मित करती है कि माथुर जी जैसा भारतीय और अंतरराष्ट्रीय रंगमंचों का जानकार, अंग्रेजी, जर्मन और हिन्दी नाट्य-परंपरा का विद्वान और स्वयं समर्थ नाटककार डंके की चोट पर भोजपुरी जनपद के 'भिखारिया' को भरत मुनि बताता रहा। यह

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि आज भिखारी ठाकुर पर दुनिया के अनेक विश्वविद्यालयों में काफी शोध हुए और हो रहे हैं। ऐसी थी परख क्षमता और ऐसी थी सम्मान देने की उदारता।

माथुर जी प्रशासक थे और उनकी निष्काम सक्रियताओं पर सरकार की भी नजर थी। उनकी शिक्षा जिस घराने में हुंई थी और वह जैसे ऊंचे पदों पर गए– उसमें ऊंचे संपर्कों की सहज गुंजाइश थी, फिर उनका रचनाकार व्यक्तित्व भी था। सबसे बड़ी बात यह कि तब समय भी आज की तुलना में ज्यादा परख-पहचान का था। वह सन् 1955 में आकाशवाणी के महानिदेशक बनाए गए। यह निर्णय तो स्वाभाविक था मगर इसका प्रभाव उनके शुरू किए गए कार्यों पर पड़ना ही था। उनकी जगह दूसरे शिक्षा सचिव की व्यवस्था तो आसान थी मगर माथुर जी का विकल्प ढूंढना उतना ही कठिन था। संचालक का प्रभाव उन तमाम नवनिर्मित संस्थाओं और उसके सूत्रधारों पर भी पड़ा। क्रमशः शिथिलता, स्वार्थपरता और अकुशलता ने उन्हें आज के मुकाम पर पहुंचा ही दिया। इधर नए दायित्व की नई चुनौतियां थीं। माथुर जी ने आकाशवाणी का कायाकल्प शुरू किया। सुमित्रानंदन पंत, नरेन्द्र शर्मा, विष्णु प्रभाकर, केशवचन्द्र वर्मा, डॉ. नगेन्द्र, अमृता प्रीतम, रामचन्द्र टंडन, प्रफुल्लचन्द्र ओझा मुक्त, चिरंजीत राधाकृष्ण जैसे अनेक साहित्यिकारों, राष्ट्रीय और प्रादेशिक संस्कृतिकर्मियों को आकाशवाणी की सेवा में शामिल किया। आकाशवाणी को भारतीय संस्कार दिया। अनेक मौलिक और कल्पनाशील कार्यक्रमों की योजनाएं प्रारंभ कीं। भोंडेपन और अश्लीलता पर रोक लगाई। स्तरीय और परिष्कृत साहित्यिक पुरातात्त्विक, वैज्ञानिक, शैक्षिक, शास्त्रीय और लोक परंपरित सांस्कृतिक कार्यक्रमों की विविध योजनाओं ने भारतीय प्रसारण सेवा को विश्व की दूसरी विकसित प्रसारण सेवाओं के समकक्ष पहुंचा दिया।

उनके कार्य योगदान के अगले वर्ष 1956 में गौतम बुद्ध का 2500वां महानिर्वाण वर्ष पड़ा। इसे व्यापक पैमाने पर मनाए जाने की बृहद योजना बनाई गई और इसमें तमाम संभव देशी-विदेशी विद्वानों का सहयोग लिया गया। अनेक पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं। उनके कार्यकाल की एक दुर्लभ योजना क्रांतिकारियों के संस्मरणों की सुरक्षा थी। सुदूर इतिहास को संजोने वाले माथुर जी निकटतम अतीत के महत्त्व की अनदेखी नहीं कर सकते थे। नैतिकता और मर्यादा का आत्म-नियंत्रित परिचय दिया— अपने कार्यकाल में अपनी रचनाओं के आकाशवाणी से प्रसारण पर रोक लगाकर। आप तुलना कीजिए आज के प्रसिद्ध प्रशासक हिन्दी रचनाकार से जो विश्वविद्यालय हो या कोई दूसरी संस्था— अपनी जेब में

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लिए चलते हैं और अपनी प्रतिष्ठा स्थापन में सारे संसाधन और शक्ति लगा देने में तनिक हिचकते नहीं। सहसा विश्वास नहीं होता कि ऐसे निस्पृह प्रशासक हिन्दी रचनाकार भी आजाद भारत में हुए, जिसकी कायम मिसाल की आवृत्ति स्वप्नवत हो गई काश। इस लीक पर चलने और शासन तंत्र को ले चल पाने की दूसरी तीसरी कतारों का सिलसिला बना होता तो शायद प्रदेश का चेहरा इतना विकृत नहीं होता।

प्रशासन तंत्र का एक अपना व्याकरण होता है। ब्रिटिश तौर-तरीकों में किसी प्रशासक को किसी विशेष उद्देश्य को संभव करने के लिए असालतन एक ही पद पर नहीं रखा जाता था। भारतीय संचालक इसके विपरीत परंपराओं की लीक रखकर चलते— इसकी उम्मीद ही व्यर्थ है। फिर दबावों और अवसरों की अलग विवशताएं भी थीं। माथुर जी फिर तिरहुत-प्रमंडल के कमिश्नर बनकर सन् 1962-63 में दो वर्षों के लिए दुबारा बिहार आए। जिस भूमि पर उन्होंने गुलामी के दिनों में एक सांस्कृतिक अध्याय रचा था, उसी आजादी के बाद बड़ी सौगात देना चाहते थे। 6 अप्रैल 1963 का महोत्सव इसकी यादगार मिसाल थी।

यह वह काल था जब चीन के आक्रमण से जनता में पराभव की भावना आ गई थी। माथुर जी ने महसूस किया— उत्साहहीनता की इस मनोदशा में नए परिवर्तन की जरूरत है। उन्होंने इसी संदर्भ में कार्यक्रमों को कल्पित किया। एक बृहत समारोह हुआ। मेरी समझ में इस व्यापक और भव्य आयोजन की सबसे बड़ी खूबी यही नहीं थी कि इसमें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी व्याख्यान के लिए आमंत्रित थे। राज्यपाल अनंत श्याम आयंगार ने स्वयं अभिषेक तथा पुष्करिणी की नौका शोभा का संचालन किया या वैशाली के प्राचीनतम ऐतिहासिक प्रसंगों की विविध झांकियां निकलीं या सुसज्जित बैलगाड़ी पर चले मंगल-घट की शोभा को मुख्यमंत्री विनोदनंद झा ने स्वयं अगवानी की या माथुर जी के लिखे रूपक वैशाली-महिमा का मंचन हुआ या उपेन्द्र महारथी जैसे कलाकार ने सज्जा की— बल्कि खूबी यह थी कि इसमें व्यापक जनसमूह को शामिल किया गया था। 6 अप्रैल को वैशाली जनपद से ग्राम सेवकों ने राष्ट्रीय गीत गाते हुए पैदल मार्च किया था, जिसमें सैन्य टुकड़ियां शामिल थीं। राष्ट्रीय जागरण का आयोजन मनाया गया। यह मात्र समारोही उल्लास का प्रदर्शन नहीं था।

देश और समाज बड़ी तेजी से उस रास्ते पर आ रहा था जहां उसे आज पहुंचना था। दूरगामी समझ का विवेक शिथिल पड़ता जा रहा था और शासन तात्कालिक औपचारिकता की लकीर पर चलाया जा रहा था। इसमें प्रशासक के तबादले निश्चित थे। माथुर जी अमेरिका के हावर्ड विश्वविद्यालय में भेजे गए।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वहां उन्होंने ग्रामीण क्षेत्र और बहुतन संप्रेषण माध्यम का विशेष अध्ययन किया। लौटे तो इस अध्ययन की उपादेयता के विपरीत 'कल्चर' ए 'एग्रीकल्चर' में भेजे गए। वह कृषि विभाग में अतिरिक्त सचिव बनाए गए। वहां भी उन्होंने अपने अनुभव-अध्ययन का रचनात्मक उपयोग किया और हिन्दी को एक दुर्लभ पुस्तक भेंट की— 'बहुजन संप्रेषक के माध्यम'। यह सन् 1975 में राष्ट्रभाषा परिषद् से प्रकाशित हुई। अपने प्रशासकीय संचालन में माथुर जी में विनम्रता, उदारता और कल्पनाशीलता के अनेक उदाहरण हैं। मगर अनुशासित कठोरता और निस्पृहता के दो उदाहरणों की चर्चा विष्णु प्रभाकर ने की है। वह प्रशासन में अवांछित और अनुचित हस्तक्षेप को बिलकुल शील के विरुद्ध मानते थे। यहां तक कि उन्होंने सुमित्रानंदन पंत और विष्णु प्रभाकर जैसे सम्मानित आदमियों की सिफारिश भी रुक्षता से नापसंद की थी। संस्कारों की दृढ़ता के ऐसे उदाहरण दुर्लभ ही होते हैं।

माथुर जी उन प्रशासकों में नहीं थे जो मर्यादा उन्हें समान रूप से सक्रिय करती रही। वरना संस्कृति और शिक्षा में ऐतिहासिक नेतृत्व करने वाले प्रशासक को कृषि में बिल्कुल बेअसर हो जाना चाहिए था मगर नहीं। वहां भी उन्होंने 'हरित क्रांति' के महान परिवर्तन को मूर्त्त किया। लगातार सात वर्षों तक एकनिष्ठ हो, मनोयोगपूर्वक कार्य करते हुए, उन्होंने इस देश और जनता की बुनियादी जरूरतों के लिए कृषि-व्यवस्था को भी उसी लगन और महत्त्व से पूरा किया, जैसा सांस्कृतिक मामलों में कर चुके थे। इस तरह उन्होंने सांस्कृतिक दाय को अनिवार्य विस्तार और आधार दिया। सन् 1917 में जब उन्हें गृह मंत्रालय में हिन्दी सलाहकार नियुक्ति किया गया तो समय काफी बदल चुका था। देश में भाषा समस्या काफी जटिल बना दी गई थी। भाषा के मामले में शासक वर्ग का पाखंड नग्न हो चुका था। माथुर जी ने अतीत में हिन्दी के उत्कर्ष का जो इतिहास रचा था, उसकी तर्कसंगति में यहां सक्रियता की कोई संभावना नहीं थी। वह दक्षिण-पूर्व एशिया के कृषि-खाद्य संगठन के निदेशक रूप में बैकांक भेज दिए गए। यहीं उनकी सेवा समाप्त हुई और वह राजधानी दिल्ली में आ बसे। इस प्रवास काल में उनका 'दिनमान' में छपा धारावाहिक संस्मरणात्मक लेखन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कठिन प्रशासकीय दायित्वों का निर्वाह और उल्लेखनीय योगदान के साथ उनका लेखन अबाध चला। उनके अन्य नाटकों में बंदी, शादियां, पहला राजा, दशरथ-नंदन तथा रघुकुल रीति बहु प्रशंसित हो चुके थे। उनकी प्रौढ़ता अपनी अर्जित ऊंचाई पर थी। उन्होंने दो गंभीर और गहन शोध महत्त्व की अनुपम कृत्तियां हिन्दी को दी हैं। पहली राष्ट्रीय भाषा परिषद् से छपी लोकनाट्यों का प्रामाणिक इतिहास बताने वाली पॉयनियर पुस्तक 'परंपराशील नाट्य', जो उनके

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लिखित भाषणों का संग्रह है। संस्कृत नाट्य रंगमंच के ह्रास के बाद जो परंपरित नाट्य रूप विकसित हुए, उस पर संभवत: यह पहली पुस्तक है। इस स्तर की कोई दूसरी पुस्तक मेरे देखने में नहीं आई। इसमें उत्तर और दक्षिण— दोनों क्षेत्रों में प्रचलित नाट्य रूपों का समीक्षात्मक आकलन है। इसमें कुछ प्रदर्शन तो उन्होंने खुद देखे भी थे जिनमें कुछ के अंश भी संकलित हैं। दूसरी पुस्तक मध्यकालीन नाटकों का संग्रह 'प्राचीन भाषा नाटक संग्रह' है, जिसका महत्त्व असंदिग्ध है। ये दोनों हिन्दी नाट्य-साहित्य की स्थायी महत्त्व वाली दुर्लभ निधियां हैं।

समय बदलता है और लोग भी बदल जाते हैं। समाज और दुनिया की संस्कृति भी बदलती है, मगर मौत की अनिवार्यता कभी नहीं बदलती। लेकिन उसे भी बदलते हैं वे कृतकार्य करने वाले लोग, जिनकी नश्वर काया भले समाप्त हो जाए किंतु यश: शरीर चिरंजीवी होता है। 14 मार्च 1978 को माथुर जी ने अंतिम सांस ली किन्तु एक नाट्य-चिंतक, नाटककार और संस्मरणकार के रूप में शोध संस्थानों के परिकल्पित और वैशाली जनपद के नवजागरण सूत्रधार के रूप में उनकी कीर्ति अमर बनी रहेगी।

(वागर्थ, अगस्त 2002)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

एक फकीर जननायक पीर मुहम्मद मूनिस

नवजागरण हमारे इतिहास का एक ऐसा जीवित साक्ष्य है जिसका एहसास हमें आज भी सकर्मक सक्रियताओं के लिए प्रेरित करता है और हमें विरल विचारोत्तेजकता से भर देता है। अगर इसकी रोशनी के सहारे हम अतीत की पगडंडियों पर उतरते हैं तो हमें ऐसे अनेक दुर्लभ जननायकों की पहचान होती है, जो हमारी उदासीनता और लापरवाही से अभी तक ओट में हैं। आज भी नवजागरण का अध्ययन पूर्ण और स्थिर नहीं है। इसमें निरंतर अनुसंधान, शोध और सोच से नए-नए आयाम तलाशने और इसके क्षेत्रफल को विस्तार देने की जरूरत और गुंजाइश है। अभी कई ऐसे जननायक दबे पड़े हैं जिन्हें सामने लाना संभवत: आज कहीं ज्यादा जरूरी और प्रासंगिक है। दरअसल आजादी के बाद हमारी सबसे बड़ी चूक यही रही कि हमने नवजागरण से अपनी समकालीनता का कोई तार नहीं जोड़ा और एक किस्म की संवेदनहीन विमूढ़ता में अपनी परम्परा को बिसारते गए। नतीजतन हम आज ऐसी सुरंग में फंसे हैं, जिसका अगला सिरा बंद है और वापसी की कोई गुंजाइश शेष नहीं। अब भी हमारी मुक्ति की राह उसी नवजागरण के गर्भ में है, जिसे आलोचनात्मक दृष्टि और रचनात्मक विवेक से लगातार उकेरते जाने की बड़ी जरूरत है।

नवजागरण की इसी कोख में पले-पुसे पीर मुहम्मद मूनिस ऐसे विरल पत्रकार-लेखक हैं, जिनके बलिदानी संघर्ष की मार्मिक गाथाएं आज भी ओट में हैं। उन पर अपेक्षित रोशनी डालने और उनके रचनात्मक अवदान को सामने लाने की आज बड़ी जरूरत है। वह निर्धन दलित मुस्लिम परिवार से थे। उनका संपूर्ण जीवन तमाम दुर्भाग्यों से जूझते हुए गुजरा था। उन्होंने हाड़तोड़ गरीबी और भयानक तंगी से गुजरते हुए भी न सिर्फ अपने स्वाभिमान की रक्षा की बल्कि आखिरी सांस तक नवजागरण की मशाल जलाए रहे। उन जैसा असाधारण

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जीवट का अप्रतिम रचनाकार अंगुली पर गिने जाने योग्य हैं। नवजागरण के अन्य रचनाकारों की तरह वह सिर्फ हिन्दी लेखक भर नहीं थे बल्कि एक पूर्णकालिक राजनीतिकर्मी भी थे। हिंन्दी भाषा और चम्पारण के नील की खेती करने वाले 18 लाख किसान उनकी सक्रियता के प्रमुख विषय थे।

उनका जन्म संभवत: 1882 ई. में चम्पारण के बेतिया नगर में एक निहायत निर्धन और दलित किसान परिवार में हुआ था। उनके जीवनयापन और शिक्षा-दीक्षा का कोई विवरण तो नहीं मिलता लेकिन एक अपुष्ट सूचना के अनुसार वह स्कूल शिक्षक थे। नील किसान आंदोलन की सघन सक्रियता में उन्हें यह नौकरी भी गंवानी पड़ी थी। उनकी रचनाओं और जीवन के जो थोड़े बहुत साक्ष्य उपलब्ध हैं, उनसे इतनी बात तो प्रमाणित है कि हिन्दी लेखन और नील किसानों के आंदोलन की उन्होंने लगभग साथ-साथ शुरुआत की थी। उनका पहला लेख 'नील-विभ्राट' 1907-08 के हिन्दी केसरी में छपा। तब से वह लगातार लेखन की दिशा में भी सक्रिय रहे और नील किसानों के लिए भी जी-जान से संघर्ष करते रहे। सबसे बड़ी मुश्किल यह है कि अभी तक उनकी रचनाओं का अपेक्षित संकलन नहीं हो सका है और न ही उनके बारे में पर्याप्त जानकारी ही उपलब्ध है— इसलिए उपलब्ध सामग्री-सूचना के सहारे एक हद तक ही अनुमान संभव है। 1909 ई. के कर्मयोगी में उनका एक लेख छपा था— राष्ट्रभाषा हिन्दी हो, जिसे पढ़कर दिग्गज हिन्दी लेखक बालकृष्ण भट्ट ने कहा था कि— तुम लिखा करो और हमेशा लिखो। कुछ दिनों में तुम्हारी भाषा और शैली की कद्र होगी। 1917 ई. में अष्टम हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने जो लेखमाला प्रकाशित की थी, उसमें मूनिस जी का भी एक लेख शामिल था— 'क्या उर्दू हिन्दी से भिन्न कोई भाषा है ?' इसमें उन्होंने हिन्दी-उर्दू के अभेद को रेखांकित किया, जिस पर आगे चलकर प्रेमचन्द सहित कई हिन्दी लेखकों के विचार सामने आए। हिन्दी भाषा के प्रति विलक्षण लगाव के कारण वे अपनी कौम में गंभीर आलोचना और आक्षेप के शिकार होते रहे— खासतौर से उच्च वर्ण-वर्ग के मुसलमान उन्हें तनिक भी पसंद नहीं करते थे। बावजूद वे तनिक भी लचके नहीं। जब 'स्वदेश' में उनका लेख 'कन्हैया कहां हो ?' छपा तो सामंत मुसलमानों और कठमुल्लों में बड़ी खलबली मची और उन्हें गंभीर कौमी संकट झेलने पड़े। हिन्दी के प्रति उनका ऐसा अनन्य प्रेम था कि तमाम प्रतिकूलताओं को दरकिनार कर वह बिहार प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संस्थापकों में शरीक रहे और नियमित उसकी गतिविधियों में रचनात्मक रूप से जुड़े रहे। उन्हें आरा में संपन्न 15वें अधिवेशन का अध्यक्ष चुना गया। 1937 ई. में हुए इस अधिवेशन में इतिहास-परिषद् में

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जयचन्द्र विद्यालंकार और पत्रकार-परिषद् की बाबूराव विष्णु पराड़कर ने अध्यक्षता की थी। आचार्य शिवपूजन सहाय ने उस अधिवेशन की चर्चा करते हुए एक मार्मिक घटना का उल्लेख किया है कि पराड़कर जी के व्याख्यान के समय ही मोटर पर लदकर पं. पारसनाथ त्रिपाठी का शव पंडाल के सामने आ गया। अचानक सभा बिखर गई। ऐसी खलबली मची कि उस हलचल को देखकर मूनिस जी कहने लगे— मेरे ही दुर्भाग्य से इस अपूर्व अधिवेशन में ऐसी अशुभ सनसनी फैल गई कि सम्मेलन के हितार्थ सोची हुई मेरी योजना मेरे मन में ही विलीन हो गई। (बिंब-प्रतिबिंब, पृ. 16) लेकिन मूनिस जी का उक्त अवसर पर छपा व्याख्यान उपलब्ध है, जिसे पढ़ने पर उनकी विनम्रता और हिन्दी के प्रति ममत्व का अंदाजा होता है। हिन्दी के प्रचार-प्रसार में वह अहिन्दी क्षेत्रों और गांवों में विशेष जोर देना चाहते थे तथा इसके लिए उन्होंने प्राण-प्रण से लग जाने की अपील भी की थी। पुस्तकालयों का जाल बुनकर तथा गांवों की दुर्दशा का हवाला देकर उसके जीवन स्तर को सुधारने पर भी बल दिया था। इस तरह भाषा के सवाल को वह जनता के सवाल से अलग नहीं मानते थे। इस भाषण में भी उन्होंने हिन्दी-उर्दू की अभेद स्थिति पर विचार व्यक्त किया था और भाषा को जनसामान्य से जोड़ने की वकालत की थी।

मेरा तो विचार है कि जनसाधारण की भाषा के उन प्रयोगों और शब्दों को जो देहातों और गांवों में प्रचलित हैं और जिनमें खास-खास प्रान्त के लोग कभी-कभी प्रान्तीयता का दोष भी लगाते हैं, उस दोष की तनिक भी परवाह न कर धड़ल्ले से व्यवहार किया जाए बल्कि अन्य प्रान्त की भाषाओं में भी जो बोल-चाल के सरल शब्द हों, और जिनका प्रयोग सर्वसाधारण के कानों तक किसी-न-किसी रूप में पहुंच चुका हो— उनका भी प्रयोग होना अनुचित नहीं। अरबी, फारसी और अंग्रेजी के शब्द भी जो सरल हैं, जिनका उच्चारण सरलतापूर्वक हो सकता है और जिनकी जानकारी करीब-करीब जनसाधारण को हो चुकी है— उनका भी प्रयोग हो तो कुछ बुरा नहीं होगा। मैं तो उस दिन का स्वप्न देख रहा हूं जब एक ही बोली अथवा एक ही भाषा की किताबें हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी-अपनी मर्जी के मुताबिक फारसी या देवनागरी लिपि में पढ़ेंगे। इसके लिए प्रगतिशील लेखकों को पूरा प्रयत्न करना होगा। समय और देश का तकाजा इस बात के लिए उनके ऊपर है। (बिहार की साहित्यिक प्रगति, खंड 2, पृ. 58)

इस तरह भाषा के प्रति उनकी निष्ठा, उसे जनसाधारण से जोड़ने की इच्छा और सुलझे हुए विचारों के आलोक में उनकी निच्छल मानसिकता को परखा-पहचाना जा सकता है। उनकी अपील में 'प्रगतिशील लेखकों' का प्रयोग भी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
ध्यातव्य है। नवजागरण की आंच में तपे-पकाए रचनाकारों का यही वैशिष्ट्य उन्हें अनमोल बनाता है। यह अकारण नहीं था कि उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता और राष्ट्रीय मुक्ति की भावना पर बल देते हुए लिखा— दोनों जातियों में एकता का भाव प्रबल हो और वे अपने अंतिम उद्देश्य को पूरा करें और भारत को सार्थक भारत बनाकर छोड़ें। (प्रताप, 1917)

महात्मा गांधी का चम्पारण सत्याग्रह भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। इसे गांधी जी के जीवन संग्राम में भी एक निर्णायक मोड़ के रूप में याद किया जाता है। महात्मा गांधी की चम्पारण यात्रा के उपक्रम में अब तक पं. राजकुमार शुक्ल और मजहरूल हक जैसे बड़े लोगों का ही नाम लिया जाता है और यह बात ओट में कर दी जाती है कि इसमें एक केन्द्रीय सेनानी मूनिस जी भी थे। इस आसंग में किंचित विस्तार से विचार जरूरी है। चम्पारण के बेतिया महाराज की 3200000 रुपए सालाना आमदनी की जमींदारी थी। लेकिन उत्तराधिकारी नहीं होने के कारण वह कोर्ट ऑफ वार्डस के अधीन चला गया। पहले-पहल 1888 ई. में पीपरा गांव में पहली नीलकोठी बनी जो 1917 तक आते-आते 1070 की संख्या में पहुंच गई। पहले खुद काश्त करने वाले अंग्रेजों ने आगे चलकर वहां के किसानों को रैयत बनाया और प्रति बीघा तीन कट्ठा जमीन खुद के लिए तय कर ली जिसमें बीज के अलावा सब कुछ किसानों को करना पड़ता था, जिसे 'तीन कठिया लगान' कहा जाने लगा। इसके साथ ही अंग्रेज बेगार, आम-कटहल के पेड़ों पर, हाथी-घोड़े या कार की खरीद पर, होली जैसे उत्सव पर अथवा अपने घर लड़का पैदा होने पर भी कर और नजराना वसूलने लगे। इसके अलावा हत्या, बलात्कार तथा अन्य तरह के अत्याचार से भी वहां की किसान जनता बुरी तरह त्रस्त हो रही थी। इसके विरुद्ध पहली बार 1907-08 में जो किसान आंदोलन हुआ— उसे चम्पारण नील विभ्राट कहा गया, जिसमें 1600-1700 किसानों को 15 दिन से 5 वर्षों तक जेल काटनी पड़ी। मूनिस जी का पहला लेख 'नील विभ्राट' इसी किसान आंदोलन के संदर्भ में था, जो 1907 ई. के 'हिन्दी केसरी' में छपा था। नील किसानों की दारुण गाथा को राष्ट्रीय पैमाने पर उठाने के उद्देश्य से मूनिस जी ने 1910 में इलाहाबाद की यात्रा की। वहां वह 'अंग्रेजी राज के दो सौ वर्ष' के प्रसिद्ध लेखक और स्वतंत्रता सेनानी पं. सुंदरलाल के यहां ठहरे। जहां उनकी मुलाकात मशहूर पत्रकार गणेशशंकर विद्यार्थी से हुई। मूनिस जी चम्पारण के 18 लाख किसानों की मार्मिक गाथाएं कांग्रेस तक पहुंचाना चाहते थे। विद्यार्थी जी ने उन्हें सलाह दी कि इस वक्त कांग्रेस से ऐसी उम्मीद रखना व्यर्थ है। उनके अनुसार जरूरत इस बात की है कि

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वह जनता के कानों तक चम्पारण के किसानों की मार्मिक आर्त्रकथा पहुंचाएं। 'प्रताप' में मूनिस जी के चम्पारण नील किसानों पर लिखी लगातार रपटों की यही पृष्ठभूमि है, जिसके कारण यह आगे चलकर राष्ट्रीय मसला बना और महात्मा गांधी को अंततः चम्पारण सत्याग्रह करना पड़ा। गांधी जी के सत्याग्रह के बाद तीन कठिया प्रथा तो खत्म हुई लेकिन उनके अत्याचारं और बढ़ गए। मूनिस जी की नौकरी खत्म हो गई और वह अंग्रेज सरकार की आंखों की किरकिरी बन गए।

मजहरूल हक और राजकुमार शुक्ल ने रैयत सभा गठित की तो मूनिस जी उसके साथ संबद्ध और सक्रिय हुए। इस बीच उनका लेखन भी लगातार चलता रहा। 1916-17 ई. के बाद उन्होंने 'विशाल भारत' में लगातार लेख लिखे और जब तक बनारसीदास चतुर्वेदी उसके संपादक रहे उनके लिखने का सिलसिला चलता रहा। 1929 ई. के पहले 'नवजीवन' के द्वारिका प्रसाद सेवक के संपादन काल में मूनिस जी के कई लेख उक्त पत्र में प्रकाशित हुए। एक तरफ यह लेखन और दूसरी तरफ जेल, झूठे मुकदमों का सिलसिला— इस तरह मूनिस जी की साहित्यिक और राजनीतिक सक्रियता बनी रही। जिस वर्ष वह हिन्दी साहित्य सम्मेलन बिहार के अध्यक्ष बनते हैं, उसी वर्ष बेतिया के हरिजन कर्मचारियों की हड़ताल में भी सक्रिय भागीदारी लेते हैं तथा गन्ना किसानों के आंदोलन में भी शरीक होते हैं। 1937 ई. का यह वर्ष उनके जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी वर्ष वह कांग्रेस टिकट पर चम्पारण जिला परिषद् के सदस्य और बेतिया लोकल बोर्ड के अध्यक्ष चुने जाते हैं लेकिन उसी वर्ष त्यागपत्र देकर सत्याग्रही भूमिका को ही पसंद करते जमीनी आंदोलन में सक्रिय रहते हैं। 3 मई 1937 ई. को बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम पत्र में मूनिस जी ने लिखा— 'तू भी फलक बदल कि जमाना बदल गया।' इस आश्वासन के अनुसार अब चुपचाप बैठना भी अच्छा नहीं है। सांप्रदायिकता का जमाना बड़े वेग से गुजर रहा है। रंग-ढंग अच्छे नजर आ रहे हैं। अब आप लोगों का काम है समाज के ख्यालात के अनुकूल साहित्य की रचना करें।

लेकिन इसके बाद लगभग 11-12 वर्षों तक जीवित रहे मूनिस जी का जीवन भयानक तंगी से गुजरा, जिसकी मार्मिक गाथाएं उनके लिखे अप्रकाशित पत्रों में दबी पड़ी हैं। बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम एक खत में उन्होंने लिखा है— 'यदि मेरा आर्थिक कष्ट कुछ कम हो जाए तो मैं फिर साहित्यिक क्षेत्र में कमर कसकर तैयार हो जाऊं और साहित्य सेवा ही अपना अंतिम ध्येय तसव्वर कर लूं, भोजन और वस्त्र तो किसी प्रकार मिल जाता है, पाकिट खर्च का अभाव

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कठिनता में डाल देता है, इसलिए पत्र लिखने में हमेशा दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। लेकिन खुदा की मंशा कुछ और थी— मूनिस जी की जिन्दगी यातनाओं के शिकंजे में जकड़ती जा रही थी और किस्म-किस्म का कहर बरप रहा था। 1940 के आसपास का उन्हीं के नाम पत्र का उपलब्ध अंश अविकल यहां दे रहा हूं—

'आपका पहला पत्र ता. 9 को, दूसरा 13 को मिला। दोनों पत्रों का उत्तर एक साथ इसलिए देना पड़ रहा है कि मैं मानसिक और पारिवारिक कष्टों से इस तरह बेतरह परेशान हूं। मेरा पौत्र मुहम्मद कासिम (जिसकी अवस्था केवल चार वर्ष की है) 16-17 रोज से ज्वरग्रस्त है। नित्य डाक्टरों के दरे-दौलत पर दस्तक और हाजिरी बजा लेना मेरा प्रधान कर्त्तव्य हो गया है। मुहम्मद कासिम का ज्वर नित्य उतरता है और चढ़ता है। रोज-रोज डाक्टरों की फीस और दवा-दारू में प्राय: 4-5 रुपए सर्फ करने पड़ते हैं। मेरा लड़का मुहम्मद सुलेमान भी बेकार है और मेरा तो पूछना ही क्या? मुंह का आहार (धान) बेच-बेचकर किसी प्रकार काम चलाता हूं। इस गिरानी के जमाने में धान बेचकर आइन्दा के लिए अपने सिर पर मुसीबत उठाने की कोशिश कर रहा हूं। लाचारी और मजबूरी जो न करा डाले वह थोड़ा— ये तो पारिवारिक मजबूरियां हैं। और अपने विषय में पहले ही निवेदन कर चुका हूं। जेल में मधुमेह शुरू हुआ। पेट की खराबी के कारण कुछ दांत तुड़वाने पड़े। आंखें कमजोर हो गईं। 54-55 वर्ष की अवस्था और आर्थिक तथा मानसिक कष्ट। यही सब मजबूरियां हैं जो चित्त को उद्विग्न किए रहती हैं। आर्थिक दशा शोचनीय होने के कारण मित्रों के पत्रों का उत्तर ठीक समय पर देना मेरे लिए प्राय: मुश्किल हो जाया करता है।

मूनिस जी के दु:खों का कोई अंत नहीं था। बनारसीदास चतुर्वेदी और शिवपूजन सहाय दोनों उनसे आत्मचरित लिखने का आग्रह कर रहे थे लेकिन कई कारणों से वह ऐसा नहीं कर सके। 1944 ई. के पत्र में चतुर्वेदी को लिखा— 'दुनिया के उपहास और समालोचनाओं से बहुत डरता हूं' आर्थिक दुरावस्था के कारण वह पत्रिकाएं मंगा नहीं पाते थे। उसी पत्र में आगे लिखा है— 'इस जमाने में कौन व्यक्ति सांप्रदायिक है और कौन नहीं, समझना मुश्किल है। मेरी तो धारणा है कि— 'रास्ती मूजिबे रजाए खोदास्त। कस न दीदम के गुमशुद अज रहे रास्त।' अर्थात् सत्यता परमात्मा की रजामंदी का कारण है। मैंने किसी को नहीं देखा कि सीधी राह से गुम हुआ।

मूनिस जी के जीवन की सबसे अधिक हृदयविदारक घटना 8 अप्रैल 1945 को घटी जब उनका इकलौता 26 वर्षीय जवान बेटा मुहम्मद सुलेमान 8-9 महीने

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तक बीमार रहकर मर गया। वही एकमात्र सहारा था। वह हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी भाषा का जानकार भी था। उसे 4 वर्षीय पुत्र और 2 वर्षीय कन्या भी थी। मूनिस जी के शब्दों में— 'उसकी माता और उसकी विधवा स्त्री का करुण-क्रन्दन हृदय को विकंपित कर रहा है। मैं अधीर और व्याकुल हो गया हूं। ज्ञान और विवेक— सबनें साथ छोड़ दिया। किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा हूं। संसार मेरी आंखों के सामने सूना नजर आ रहा है। घर में जो कुछ था, उसे बेचकर उसकी बीमारी में खर्च कर डाला। डाक्टर, हकीम और वैद्य सबकी दवा की, पर कालबली से कोई न बचा सका। परमात्मा की इच्छा बलवान है।' (20.4.45 को बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम पत्र)

ऊपर वाले की इच्छा वाकई बलवान थी, तभी तो पौत्र, पुत्र के बाद उसने आखिरी अग्निपरीक्षा खुद मूनिस जी से ली— बार-बार आत्मचरित लिखने के आग्रह पर उन्होंने चतुर्वेदी जी को लिखा— 'मैं चार महीने से सख्त बीमार हूं। मधुमेह तो सता ही रहा था, फरवरी से काला आजार, तेहाल, वर्मे जिगर आदि कई बीमारियों ने मुझे अपना शिकार बना लिया है। एकमात्र खेती ही हम लोगों की जीविका है। जनवरी 15-20 रोज खेत ही पर रहना पड़ा। उसी स्थान पर मलेरिया ज्वर शुरू हुआ जो आज तक भोग रहा हूं.... आत्मचरित लिखकर क्या करूंगा? कई पुस्तकें पड़ी हुई हैं, जो अर्थाभाव से प्रकाशित नहीं हुईं।'

इन तमाम भयानक हादसों को झेलकर भी उस वीर सेनानी ने आखिरी दम तक पराजय स्वीकार नहीं किया। कलेजे में सदमा लिए यह दुर्धर्ष नायक हाथ में नवजागरण की मशाल ऊंची किए रहा और जिन्दगी की बहादुर बुलंदियों को छूने की आखिरी कोशिश जारी रखी। चम्पारण का स्वाधीनता इतिहास लिखने की शुरुआत कर डाली, जिसकी अनछपी पाण्डुलिपि आज पता नहीं कहां दबी-पड़ी होगी। अपनी मृत्यु के लगभग महीने भर पहले चतुर्वेदी जी को 21 अगस्त 1949 ई. के पत्र में लिखा— 'मैं एक व्यक्ति से बात कर रहा था। चम्पारण के एक खास भाई हैं। उनके भाई 1904-08 ई. में जेल गए थे। उनके भाई का जीवन-संबंधी नोट ले रहा था। उसी समय आपका पत्र मिला। आपके पत्र ने मुझ में सचमुच बिजली पैदा कर दी और एक प्रकार का सच्चा साहस और प्रोत्साहन दिलाया। मैं अंधकार में था— रोशनी मिल गई।'

जीवन के आखिरी समय में तमाम तरह के दैहिक, दैविक और भौतिक तापों को झेलते हुए जवान बेटे की मौत की दिल में हूक लिए इस अमर सेनानी ने बेमिसाल आदर्श रखा। चतुर्वेदी जी के नाम 26 अगस्त 1949 ई. के आखिरी खत में मौत की पदचाप सुनी जा सकती है— 21 तारीख से ही हृदय की धड़कन

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

शुरू हो गई थी। निश्चिंत होकर कोई काम नहीं कर सकता और न एक स्थान पर कुछ देर बैठ सकता हूं। दवा हो रही है—

24 सितंबर 1949 ई. को इस फकीर जननायक ने आखिरी सांस ली। बहुत लोगों को यह भ्रम है कि मूनिस जी बिहार स्तर के एक सामान्य पत्रकार-लेखक थे और उनका कोई खास महत्त्व नहीं था। शायद इस कारण भी उनकी उपेक्षा हुई। लेकिन 'प्रताप' में लिखी उनकी रपटें इस धारणा को झुठलाती हैं। 26 सितंबर 1937 ई. के प्रताप में विद्यार्थी जी की उन पर एक टिप्पणी छपी थी और उन्होंने उनके महत्त्व को रेखांकित किया था। अपने समय के महान क्रांतिकारी रेडिकल लेखक राधामोहन गोकुल जिन्हें निराला जी अपना गुरु मानते थे— मूनिस जी के लेखन के मुरीद थे। उन्होंने कलकत्ता में उनकी व्यवस्था करा दी थी लेकिन किसी कारणवश मूनिस जी नहीं जा सके। गोकुल जी भी किसान आंदोलन में शहीद होने वाले नवजागरण के अमर सेनानियों में हैं। अस्सी वर्ष की आयु में किसानों के बीच सुदूर गांवों में काम करते हुए पेचिश से उनकी मृत्यु हुई थी, जिसकी खबर हिन्दी साहित्य को तीन-चार दिनों बाद ही मिल सकी थी। डॉ. रामविलास शर्मा ने उनके बारे में विस्तार से लिखा है। पं. बालकृष्ण भट्ट, पं. सुंदरलाल, गणेशशंकर विद्यार्थी, राधामोहन गोकुल, प्रसिद्ध कवि सत्यनारायण, कविरत्न बालकृष्ण शर्मा, नवीन, स्वामी सत्यदेव, महात्मा मुंशीराम, पं. माधव शुक्ल, आचार्य शिवपूजन सहाय और बनारसीदास चतुर्वेदी जैसी तत्कालीन हिन्दी हस्तियां मूनिस जी की अंतरंग आत्मीय दुनिया में शामिल थीं।

दरअसल उनकी उपेक्षा का सबसे बड़ा कारण उनके रचनात्मक लेखन का उपलब्ध नहीं रहना ही रहा। उनके लेखों की पहली पाण्डुलिपि पुस्तक-भंडार लहेरिया सराय दरभंगा में छपने को गई, जो 1934 के भूकंप में नष्ट हो गई। उसमें उनके 45 लेख संकलित थे। 'चम्पारण का स्वाधीनता इतिहास' की पाण्डुलिपि उनके मरने के बाद उपलब्ध रहकर भी इधर-उधर हो गई। बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा लिखित तोताराम सनाढ्य की आत्मकथा 'फिजी द्वीप में ग्यारह वर्ष' के उर्दू अनुवाद की पाण्डुलिपि लखनऊ जिस सज्जन के यहां छपने गई— वह गोमती की बाढ़ में नष्ट हो गई। उनकी एक और दुर्लभ पाण्डुलिपि अनछपी ही खो गई। वह थी 'हिन्दुस्तान सल्तनत मोगलिया' का उर्दू से हिन्दी अनुवाद। तब से आज तक उनके लेखों को संकलित-प्रकाशित करने का कोई गंभीर, विवेकसम्मत कार्य नहीं हुआ। इसलिए उनके महत्त्व आकलन की गुंजाइश क्षीण रही। आचार्य शिवपूजन सहाय ने उनके लेखों के महत्त्व की बार-बार चर्चा करते हुए उनके द्वारा संपादित निर्भीक नामक साप्ताहिक पत्र निकालने का भी उल्लेख किया है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ऐसी बात नहीं कि उस समय का हिन्दी समाज इतना संवेदनहीन था कि उनकी सहायता किसी ने नहीं की। आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है कि 'बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अन्यतम संस्थापक श्रीरामधारी प्रसाद की काफी खेती चम्पारण में थी। इसलिए जब तक वह जीते रहे, तब तक मूनिस जी को प्रति वर्ष धन की निश्चित राशि दिया करते थे। जड़ावर-घंमावर कपड़े के लिए आर्थिक सहायता भी देते रहते थे। किन्तु मूनिस के अभावों से प्रताप-संपादक विद्यार्थी जी की जैसी हार्दिक सहानुभूति थी वैसी गिने-चुने गुप्त दानियों की भी न थी। जब विद्यार्थी जी हिन्दू-मुस्लिम एकता की बलिवेदी पर शहीद हो गए तब मूनिस जी सर्वथा असहाय हो गए। उनकी दरिद्रता के मरुस्थल में उनके मित्रों के गुप्तदान की बूंदें तप्त तवे की बूंदों की तरह क्षणभंगुर सिद्ध होती रहीं।' (बिंब : प्रतिबिंब, पृ. 18)

यह कैसी विडंबना है कि आजादी के बाद मुसलमानों पर अपने दावे ठोंकने वाली कांग्रेस ने अपने ही एक महान सेनानी की स्मृति रक्षा में कुछ नहीं किया। पिछले एक दशक से अधिक समय से मुसलमानों की आक्रामक संरक्षक बनी बिहार सरकार जो इस दौरान लाखों रुपए के पुरस्कार और राष्ट्रभाषा परिषद् जैसी कई हिन्दी संस्थाओं के गह्वर में करोड़ों रुपए का अनुदान भसाती चली जा रही है लेकिन आज तक उसने अपने एक फकीर जननायक की सुधि नहीं ली। जरूरत इस बात की है कि सबसे पहले उनकी रचनाओं, पत्रों और पाण्डुलिपियों की खोज-खबर ली जाए। उनको विवेकसम्मत तरीके से संपादित-प्रकाशित किया जाए। उनकी स्मृति-रक्षा के अन्य उपाय भी किए जाएं। बिना ऐसा किए हम उन पापों से अपने को मुक्त नहीं कर सकते, जो आज तक अपने इस दुर्लभ और अमर पूर्वज के प्रति करते आए हैं।

(आलोचना, सहस्राब्दी अंक 2001)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बिहार की नदियों के भगीरथ हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'

हिन्दी नवजागरण के आखिरी छोर पर साहित्य में जिनकी पलकें खुली थीं— उन साहित्यकारों में एक नाम आचार्य हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' का विनम्रता से जोड़ लिया जाना चाहिए। स्वाधीनता संग्राम की समाजवादी आंच में उनका मन-मिजाज तपा था और आजाद देश के सांस्कृतिक पुनर्जागरण में उन्होंने अपनी भूमिका तलाश की थी। आजादी के बाद की तात्कालिक राज्य सरकारों ने अपने दलित प्रदेशों के पुनर्निर्माण की एक अपेक्षाकृत ईमानदार पहल शुरू की थी, जिसमें अतीत के गौरव को संवारने की बहुविध कोशिशें बिहार में भी हुई थीं। सहृदय जी ने इसी कार सेवा में अपने को समर्पित किया था। ऐसे प्रौढ़ पकठाये साहित्य सेनानी का स्मरण-दरअसल उन मूल्यों का सम्मान है, जिन्हें हमने नवजगरण से अर्जित किया था।

सहृदय जी ने 1937 ई. में आचार्य शिवपूजन सहाय के संपादन में लहेरिया सराय, दरभंगा से निकलने वाले 'बालक' में सहायक के रूप से अपनी रचनात्मक यात्रा शुरू की थी। स्वाधीनता आंदोलन का वह उत्कर्ष काल था। विचारों से समाजवादी सहृदय जी का मन मान नहीं रहा था लेकिन शिवपूजन जी का दबाव उन्हें पसोपेश में डाले रहा। अंततः 1942 ई. के विद्रोही जयप्रकाश नारायण के आह्वान ने उन्हें इतना उत्तेजित कर दिया कि वह अपने परिवार को शिव जी के हवाले कर, नौकरी छोड़, फरार हो गए। स्वाधीनता के इस अभियान में उनका जीवन बेहद ऊबड़-खाबड़ तरीके से गुजरा लेकिन फरारी के तप्त अनुभवों ने उन्हें अंदर से बहुत ही पुख्ता कर दिया। 1945 में वह गिरफ्तार हुए। राजनीतिक सक्रियता के कारण वह प्रदेश के तमाम समाजवादियों में सम्मानित रहे— कर्पूरी ठाकुर तो उनके अंत तक अनन्य बने रहे। लेकिन शिव जी के परामर्श और

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आग्रहों के कारण उन्होंने सक्रिय राजनीति की तुलना में रचनात्मक डगर का ही वरण किया और बिहार के सांस्कृतिक इतिहास में अपनी अमिट छाप छोड़ी। 1947-48 में वह रामवृक्ष बेनीपुरी की छत्रछाया में 'जनता' साप्ताहिक में काम करने लगे और हिन्दी साहित्य सम्मेलन सहित तमाम साहित्यिक गतिविधियों में भाग लेते रहे। इसी दौरान उनकी कविता पुस्तक 'शशि दर्शन' भी प्रकाशित हुई। लेकिन आचार्य शिवपूजन सहाय के सहायक बनकर राष्ट्रभाषा परिषद् में उनकी वापसी वस्तुतः साहित्य-संस्कृति की दुनिया में वापसी थी। तभी से उनके जीवन और लेखन में एक तार्किक व्यवस्था भी आती है।

सन् 1956 में गौतम बुद्ध के 2500वें परिनिर्वाण के अवसर पर बिहार में विशेष रूप से विविध आयोजन हुए थे। राष्ट्रभाषा परिषद् की ओर से एक अखिल भारतीय निबंध प्रतियोगिता हुई थी, जिसमें सहृदय जी ने बौद्ध धर्म के विकास में बिहार की देन नाम से निबंध लिखा था। सर्वोत्तम चयन के बाद उन्होंने लेखन-क्रम में जुटाई गई विपुल सामग्री का उपयोग करते हुए बौद्ध धर्म और बिहार नामक पुस्तक तैयार की। हिन्दी में इस पुस्तक के साथ उन्होंने पहली बार अपनी गंभीर उपस्थिति दर्ज की। इसी ग्रंथ से वस्तुतः उनके रचनात्मक जीवन में महत्त्वपूर्ण मोड़ आता है। यह पुस्तक बौद्ध धर्म और दर्शन की मीमांसा नहीं करती। उससे अलग गौतम बुद्ध और उनके धार्मिक आंदोलन की ढ़ाई हजार वर्षों की उपस्थिति को सजीव करती है। उनके लेखन में अनुभूति के स्तर पर उतर कर साथ रमाने की जबरदस्त क्षमता थी, जिसका अनुभव इस पुस्तक से ही हो जाता है। ऐसा लगता है मानो गौतम बुद्ध के साथ उस काल की बीथियों में हम टहल रहे हों। लेकिन यह काम उनके द्वारा किए जाने वाले आगामी कार्यों की पूर्वपीठिका ही था। बौद्ध धर्म और बिहार को पढ़ना निःसंदेह भिन्न किस्म के विरल अनुभवों से गुजरना है।

एक सरलता, सहजता और आदर-आतिथ्य के स्तरीय संस्कार की गवाही वह हर कोई देगा जो उनसे कभी एक बार भी मिला हो। उनके व्यक्तित्व की बरगदी जड़ें कितनी गहरी और फैली थीं, उनके साहित्य से गुजरने वालों को इसका अनुमान बड़ी सहजता से लग जाएगा। आज के आत्ममुग्धा और अहं से भरे लोगों के लिए उनके धीरज को आंक पाने में भारी मुश्किल होगी। घनघोर अभाव और उपेक्षा में पूरी जिन्दगी गुजारते हुए उन्होंने हजारों रुपए खर्च कर पूरे अठारह वर्षों के अथक श्रम से लगभग दो हजार पृष्ठों का अद्भुत ग्रंथ 'बिहार की नदियां' तैयार किया। बिहार की प्रत्येक छोटी-बड़ी नदी के सहारे पूरे प्रदेश का रग-रेशा जानने और बताने का संकल्प संभव करने वाले असीम जीवट के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सहृदय जी, वस्तुतः बिहार की नदियों के भगीरथ थे। जीवन के आख़िरी दो से ढ़ाई दशकों तक इस विशाल पाण्डुलिपि का बोझ ढोते हुए उस वृद्ध बृहस्पति की पेशानियों पर मैंने कभी पराजय, हताशा अथवा उत्साहहीनता नहीं देखी। आश्चर्यजनक तरीके से वह सृजनात्मक स्तर पर अंत तक गतिशील और सक्रिय रहे। उन्होंने पर्याप्त उम्र के बावजूद साहित्य में कभी रिटायर्ड जिन्दगी नहीं गुजारी। उपेक्षा की शिकायत नहीं की, अभाव का रोना नहीं रोया और न ही अपने को पुजवाने या कोई जुगत भिड़ाने के लिए टोह ली। रचनात्मक मोर्चे पर एक साहसी और कर्मठ योद्धा की तरह उन्होंने पूरी जिन्दगी गुजार दी। जीवन के अंतिम दौर तक कभी पलटकर यह देखने की कोशिश नहीं की कि अपने पीछे कितने पग-चिन्ह छोड़े जा चुके हैं। उनके सामने अपनी जन्मभूमि को उकेरने, परखने और जानने की गहरी तड़प थी। इसी तड़प का सुफल था— बिहार की नदियां, जो वस्तुतः बिहार का सर्वांगपूर्ण कोश हैं। आने वाले युगों में उनके कार्यों की अनदेखी कर बिहार को पहचानना-जानना कठिन होगा।

उनके अनुसंधानपरक और रचनात्मक दक्षता के अपूर्व मणिकांचन योग का उत्कर्ष तो 'बिहार की नदियां' में ही देखने को मिलता है। भाषा और गद्य के स्तर पर उन्होंने जो कलात्मकता अर्जित की है— उसका समृद्ध-संपन्न स्वाद आप तभी महसूस करेंगे जब आप उनके रचनात्मक साहचर्य में शामिल होंगे। बिहार की नदियों का आनंद भी सचमुच आपको नदियों के साथ यात्रा में शरीक करता है। जैसे कोई आपको नदियों और उसके किनारे स्थित स्थलों से जुड़ी प्राचीन गाथाओं को सुनाता, प्राकृतिक दृश्यों की मनोरम छटा दिखाता अपने साथ-साथ लिए चल रहा हो। इसमें प्राचीन बिहार के गौरवपूर्ण सांस्कृतिक जीवन के अतीत का भव्य उद्घाटन वह जिस प्रामाणिकता और बारीकी के साथ करते हैं, उसी तरह के काव्यात्मक गद्य से उसे सजीव भी करते हैं। ऐसा करते हुए वह कहीं से अतीतजीवी नहीं होते बल्कि हर स्थल में अपेक्षित होने पर आज से सुदूर अतीत और अतीत से आज तक की समानांतर और दोहरी यात्रा करते हैं। उनकी इतिहास दृष्टि वस्तुतः आधुनिक और वैज्ञानिक समझ के कारण ही सार्थक और महत्त्वपूर्ण हो पाती है। पुरातात्विक स्रोतोपकरणों, प्राचीन साहित्य-ग्रंथों, ताम्रपत्रों, अभिलेखों, सिक्कों, भित्ति, मूर्ति, मंदिर, भवन और चित्रकलाओं के साक्ष्य से वह जिन पौराणिक या बौद्ध काल के प्रसंगों की विवेचना करते हैं— वह गवेषणापूर्ण, सुचिंतित और सुसंगत ही नहीं होती बल्कि बहुत ही रोचक और कौतूहलपूर्ण होती है। ऐसा करते हुए वह तमाम प्रमाणों से अपनी बात की पुष्टि में हर कोण से इतने सारे तथ्य-तर्क प्रस्तुत कर देते हैं कि मतभेद की तात्कालिक राह ही नहीं

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu
सूझती। ऐतिहासिक तथ्यों के विवेचन में प्राप्त प्रमाणों को वह सीधे उद्धृत नहीं करते बल्कि उस काल के संदर्भ में साक्ष्यों से अभिप्रेत अर्थ की तलाश करते हैं। इससे उसकी वास्तविकता ज्यादा प्रामाणिक हो जाती है।

दूसरी महत्त्व की बात उनके शोध की संपूर्णता की है। वैदिक काल, बौद्ध काल, मध्य काल, मुगल काल और आधुनिक काल के विविध संदर्भ-साक्ष्यों से वह स्थलों के नामों के भाषिक विकास द्वारा साक्ष्य रखते हैं। इस प्रक्रिया में उन्होंने पूरे बिहार के चप्पे-चप्पे की अतीत से आधुनिक काल तक एक पगडंडी बना डाली है। उन पगडंडियों से गुजरते हुए उनकी गद्य की उस धड़कती छाती का एहसास होता है जिसमें बिहार को उकेरने की अंतहीन हवस थी। उनकी रचनाओं से गुजरते हुए अतीत से आज तक बिहार की जनसंस्कृति के इतिहास की वास्तविकता सजीव हो उठती है। उनकी रचनाओं से गुजरना अचरज और कौतूहल से भरा हुआ अनुभव है। विवेचित समय-सीमा के प्रति इतनी निष्ठा और साधित एकाग्रता से वह काम करते रहे कि संपूर्णता सहज ही अर्जित हो जाती है। गोया उस विषय पर दूसरों के शोध की कोई गुंजाइश ही नहीं बचती हो। उनका लेखन बिहार की ऐतिहासिक जनसंस्कृतियों का दुर्लभ दस्तावेज है।

बिहार के अतीत की जीवित साक्ष्य यात्रा की सुख-समृद्धि पाठक की पहली उपलब्धि होती है। अतीत के अनुभवों और अनेक नवीन जानकारियों के साथ ज्ञान के विविध पक्षों का साक्षात्कार दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इस आसंग में सबसे अधिक आकृष्ट करता है उनका गद्य। उनका गद्य हिन्दी जातीय गद्य का एक बेहतरीन नमूना है। जिस तरंगायित काव्यमयी भाषा को उन्होंने रचा, उसमें उत्तर छायावाद वाला हवाईपन नहीं है बल्कि सघन रसज्ञता है। यही बात पुरातत्व, इतिहास और भूगोल को समेटती, इन विषयों का अतिक्रमण करती उसे साहित्य का दर्जा दिलाती है। बरबस विषय के साथ सामीप्य सघन और आत्मीय करती हुई सहजता से विषय के अपरिचय की झिझक मिटा देती है। यह इतिहास या भूगोल के पेशेवर लेखक नहीं कर सकते थे। यह गद्य ही प्रमाणित करता है कि उनके भीतर हिन्दी नवजागरण काल की बोध संजीवनी थी। बाणभट्ट से ईश्वरीप्रसाद शर्मा तक, शिवपूजन सहाय, रामवृक्ष बेनीपुरी, नलिन विलोचन शर्मा, फणीश्वरनाथ रेणु, राजकमल चौधरी और नागार्जुन तक बिहार के गद्यकारों की जो बड़ी और महान परम्परा है— सहृदय जी का गद्य उस परम्परा में शामिल होने की विनम्र मांग करता है।

सहृदय जी के लेखन में नदियों के अलावा पहाड़ हैं, उनकी चोटियां हैं, गुफाएं हैं— मैं नहीं जानता दूसरे किन हिन्दी लेखकों ने गुफाओं पर लिखा है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जंगल, झरने और वह सब कुछ जो बिहार में रहा है और जो बिहार में है— उन्हें वनस्पतियों और पक्षियों की भी लाजवाब पहचान थी। उनके लेखन में जहां भी वनस्पतियों का प्रसंग आया— उनकी परख सामने आई है। वह अक्सर पटना नगर में अंग्रेजों द्वारा सड़कों के किनारे लगाए गए वृक्षों की विविध प्रजातियों पर बहुत सारी बातें करते थे। पटना नगर के पेड़-पौधों और पक्षियों को लेकर उनकी पहचान बेहद दिलचस्प थी।

1990 में उनकी निजी लागत से 'समय के पथ पर' पुस्तक छपी थी। इसमें उनके कुछ लेख और वर्णनात्मक विवरण-यात्रा-संस्मरणों के रूप में संकलित हैं। लेकिन ऐसी विपुल सामग्री विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी है। आखिरी दिनों में उन्होंने दो उल्लेखनीय कार्य किए। संस्कृत के महान गद्यकार बाणभट्ट के कथा-बंध पर एक समीक्षात्मक पुस्तक महाकवि बाणभट्ट और उनका कथा गद्य-बंध निजी पैसे देकर प्रकाशित कराई। बिहार के इस विश्वविभूति गद्यकार बाणभट्ट के कथा गद्य-बंध पर गहन, तलस्पर्शी अंतर्दृष्टि से विवेचन करते हुए वह बाणभट्ट के अर्थ-गौरव का संक्षिप्त आकलन अवश्य कर लेते हैं। लेकिन इसके गद्य में कहीं-कहीं कुछ भाषिक रोड़े भी मिलते हैं, जो उन्हीं के एक संस्कृत मित्र द्वारा विजातीय संशोधन के कारण हुए। लेकिन बाणभट्ट के मूल संसार में प्रवेश दिलाने के लिए यह पुस्तक उपयोगी है। अंतिम दिनों में पटना से बेदखल होकर अपने गांव के प्रतिकूल परिवेश के बावजूद वह भोजपुरी व्युत्पत्ति कोश तैयार करते रहे, जो संभवत: किसी लोकभाषा में अपनी तरह का अनूठा और मौलिक कार्य है। दुर्भाग्य से यह भगीरथ प्रयत्न आखिरी हिस्से में अधूरा रह गया। अभी भी उनकी काफी सामग्री अप्रकाशित असंकलित पड़ी है।

वैसे तो सहृदय जी की पहली पुस्तक शशि-दर्शन कविता संकलन ही है लेकिन आगे उन्होंने कविता रचने की कोशिश नहीं की, सिवाय भोजपुरी में 'भोजपुरी महिमा' को लेकर लिखी काव्य-पुस्तिका के। लेकिन उनके भीतर का काव्य उनके गद्य में तात्विक रूप से उतर आया था। लेकिन लगभग तीन दशकों के लंबे अंतराल के बाद उनके भीतर पकती कविता की सृजनशीलता जैसे एकाएक पाताल फोड़ सोते की तरह प्रवाहित हुई हो। उन्होंने महाकवि कालिदास की प्रसिद्ध रचना 'मेघदूत' का भोजपुरी में काव्यानुवाद किया। इसकी भूमिका में कालिदास की गंभीर और समझपूर्ण प्रशस्ति के साथ उनके वैशिष्ट्य और महत्त्व को उद्घाटित किया। फिर मोहक और काव्यात्मक भाषा में कालिदास की गीतिकाव्य की प्रकृति के कमनीय श्रीसौंदर्य और विलास-वैभव का जीवंत चित्र प्रस्तुत किया। गीतिकाव्य के नाटकीय तत्त्वों में कलात्मक चित्रमयता और काव्यगत

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तत्त्वों में सांगीतिक गूंज के एकत्व आनंदानुभूति को बड़ी ही दक्षता से संभव किया। कविता के विरल आनंद की रसात्मक अनुभूति मौलिकता की तरह आस्वाद देती है। मैं संयोग से इस बात का साक्षी रहा कि उन्होंने मेघदूत के भोजपुरी अनुवाद के अलावा हिन्दी-बंगला में हुए तमाम अनुवादों को बड़ी गंभीरता से टटोला और अनेक शब्दकोशों से बार-बार मदद ले चिंतन-मनन करते हुए एक-एक श्लोक के अनुवाद को सैकड़ों बार बदला। प्रामाणिकता के लिए आगे बढ़कर वह मल्लिनाथ, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं. सीताराम चतुर्वेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल तथा विविध कोशों से चिंतन-मनन करते हुए समझ की धार को निरंतर चमकाते रहे। विरह छंद में रची यह काव्य-पुस्तिका पढ़ते-सुनते हुए बड़े ही सघन अनुभवों से भर देती है लेकिन इसकी भूमिका 'पूर्वाकाश' कालिदास के अध्येताओं के लिए विचारोत्तेजक और अनिवार्य है। कालिदास के मेघदूत में वर्णित साक्ष्यों के आधार पर उनके निष्कर्ष चमत्कृत करते हैं। इसलिए उसका अलग से महत्त्व है। स्वभाव से कलाकार और कवि मानस सहृदय जी सघन रसिकता वाले रसज्ञ थे। बुढ़ापे में मेघदूत को रससिद्ध अनुवाद से मानों उन्होंने अपनी जवानी दुबारा हासिल की थी। 'भोजपुरी मेघदूत' सुनाते हुए उनकी रसज्ञता छिप नहीं पाती थी। बार-बार छलक जाती थी। कविवर शमशेर बहादुर सिंह को उन्होंने मेरी उपस्थिति में लगातार पांच घंटों तक ठहर-ठहर शब्दों के मूल और अनुवाद की परख-पहचान करते हुए मुग्ध-मुदित भाव से सुनाते रहे। शमशेर जी की सराहना के शब्दों को सहेजा तो नहीं जा सकता लेकिन उनका पत्र आज भी साक्षी है। बाबा नागार्जुन, डॉ. नामवर सिंह, कवि केदारनाथ सिंह और पूर्व प्रधानमंत्री चंद्रशेखर तक ने उनसे मेघदूत का भोजपुरी अनुवाद तन्मयता से सुना और सराहा। यह रसज्ञता उन्होंने सब कुछ देकर जीवन में अर्जित किया था और इसे हासिल करने में बाजाप्ता अपना शीश भी कटाया था।

उनके स्वभाव की सरलता इकहरी नहीं थी। उसके पीछे आस्था और मूल्यों की ठोस ताकत थी। बेहद रूढ़िग्रस्त इलाके में ब्राह्मण परिवार में जन्मे सहृदय जी समाजवादी विचारों के प्रति इतने आग्रही थे कि विपरीत बयार के बावजूद सामाजिक न्याय के पक्ष में घूम-घूमकर प्रचार किया था मगर सरकार में कभी जुगत नहीं लगाई। दुर्योग से घटित अपनी विधवा युवा पौत्र वधू का पुनर्विवाह भी किया। बावजूद उनकी बड़ी दुर्दशापूर्ण स्थिति में मौत हुई। उपेक्षा और उदासीनता की मार ने उनकी मौत को और नारकीय बना दिया था। कैसी मार्मिक विडंबना है कि बिहार ने बिहार बनाने वाले शिल्पी के ही हाथ बड़ी निर्दयता से कलम कर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दिए। लंबी पीड़ा झेलते हुए 28 दिसंबर 1995 ई. को उनकी आत्मा मुक्त हुई लेकिन उनके कृतित्व से जिस हवलदार त्रिपाठी सहृदय का जन्म हुआ— वह इस प्रदेश के साथ ही स्थायी बना रहेगा- इसमें तनिक संदेह नहीं। जरूरत इस बात की है कि उनकी रचनाओं का संकलन-संपादन प्रकाशित हो।

(बिहार की नदियों के भगीरथ शीर्षक से
हिन्दुस्तान, 4 जनवरी 1996
आज, 6 जनवरी 1996
संध्या-प्रहरी, 14 जनवरी 1996 में प्रकाशित लेखों को मिलाकर)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा

भारी–भरकम शरीर। विशाल डील–डौल। गोरा रंग। उन्नत ललाट–भव्य व्यक्तित्व था आचार्य नलिन विलोचन शर्मा का। वह बहुत ही परिष्कृत संस्कार और स्वाभिमान के स्वामी थे। उन्हें विद्वता, धीरता और गंभीरता विरासत में मिली थी। जर्मन विद्वान विंटरनित्स ने जिसे आधुनिक बृहस्पति कहा था, उस पं. रामावतार शर्मा के वह सुपुत्र थे। अपने समय की नवोदित कलाकार कुमुद शर्मा से उन्होंने प्रेम विवाह किया था। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी के प्रकांड विद्वान तो वह थे ही; पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगला, उर्दू, फारसी के साथ फ्रेंच, जर्मन और रूसी भाषा में भी उनका दखल था। वह विश्व की अधुनातन साहित्यिक वैचारिक और कला–संबंधी गतिविधियों से परिचित रहते थे। राजनीति में डॉ. राममनोहर लोहिया उनके अंतरंग मित्रों में थे।

वह बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वह कवि थे, कथाकार भी— विद्वान, शोधार्थी थे, गंभीर आलोचक भी। रेखांकन में ऊंचे कलाकार थे। प्राध्यापक के रूप में उनकी विद्वता का दबदबा ऐसा सम्मानित था कि आज तक बिहार में उनकी दूसरी मिसाल नहीं बन सकी। क्या मार्क्सवादी, क्या परम्परावादी–सभी के बीच वह श्रद्धेय बने रहे। यह बात थोड़ी अटपटी लग सकती है लेकिन इसमें एक संगति भी है कि हिन्दी कहानी में जो पहचान जैनेन्द्र कुमार की है— कुछ-कुछ हिन्दी आलोचना में वही नलिन विलोचन शर्मा की। दोनों आधुनिकता और मनोवैज्ञानिकता के प्रति गहरी आस्था वाले थे। यह अकारण भी नहीं कि दोनों अंतरंग और अभिन्न भी रहे। दुर्योग से नलिन जी का असामयिक निधन हो गया और उनकी जबरदस्त तैयारी संभावना बनकर ही रह गई। इसकी कचोट उन्हें जानने वाले आज भी व्यक्त करते हैं। उनके मौजूदा लेखन में भी उनकी असाधारण मेधा, विद्वता, मौलिक सूझ–बूझ और तीक्ष्ण दृष्टि का परिचय मिलता है। उनमें

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रचना के मर्म तक पहुंचने की विलक्षण दृष्टि थी। इसलिए उनकी रचनाओं में जो किरणें हैं, उसकी दीप्ति को नजरअंदाज करना अक्लमंदी नहीं होगी।

वह हिन्दी में आधुनिकता को वरण करने वाले प्रारंभिक रचनाकारों में थे। अज्ञेय जी के समानान्तर उन्होंने प्रयोगवाद की एक नई धारा का सूत्रपात किया था और उनकी स्पर्द्धा में उभरकर सामने आए थे। अज्ञेय जी के साथ उनकी मौन मुलाकात का संस्मरण तो लोग किंवदंतियों की तरह सुनाते हैं। अज्ञेय जी उनसे मिलने गए तो देर तक दोनों के बीच चुप्पी रही। अज्ञेय जी ने पूछा— कैसे हैं? लंबी चुप्पी के बाद नलिन जी ने कहा— ठीक हूं। फिर देर तक चुप्पी रही। अज्ञेय ने कहा— चलता हूं। नलिन जी ने उन्हें ससम्मान विदा कर दिया। जो हो, दोनों की प्रयोगशीलता में फर्क था। नलिन जी कविता और कहानी में इस हद तक प्रयोगकर्मी रहे कि प्रयोग उनके लिए साधन नहीं, साध्य हो गया। यह उनकी विशेषता भी रही और सीमा भी। जाहिर था चमत्कार पैदा करने और चौंकाने की यह प्रवृत्ति आगे अपनी धारा विकसित नहीं कर सकी क्योंकि इसकी कोई गुंजाइश ही नहीं थी। नतीजा यह हुआ कि उनकी कविताएं उनकी कवि-क्षमता और कहानियां उनके कहानी-कौशल का प्रमाण भर रह गईं। लेकिन यह सब उनमें व्यर्थ नहीं हुआ बल्कि कविता, कहानी और निबंधों की मूल रचना-प्रक्रिया से गहरे जुड़ाव के कारण आलोचना में उनकी दृष्टि का प्रसार काफी फैला और गहरा हुआ। उनकी समीक्षा रचना आश्रित होती थी। वह किसी बाह्य आरोपण के विरुद्ध थे मतलब वह विशुद्धतावादी थे, जो रचना को सिर्फ रचना में ही देखना-परखना पसंद करते थे। उनकी मौलिकता दंभ की सीमा तक थी और उन्होंने लगभग तमाम विधाओं को अपनी विचार सीमा में समेटा था। पूरे प्रदेश में उनसे मुग्ध शिष्यों या प्रशंसकों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी है जिसका दावा होता है कि अपने समय में उनकी कोई चुनौती नहीं थी।

नलिन जी का हिन्दी आलोचना में प्रवेश आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद होता है। आचार्य शुक्ल जी की समीक्षा चौथे दशक में पूर्ण होती है और आचार्य नलिन जी की शुरूआत इसी दशक से होती है। यह दशक अनेक दृष्टि से देश और दुनिया में महत्त्वपूर्ण था। मार्क्सवाद, फ्रायडवाद और अस्तित्ववाद— ज्ञान और दर्शन की ये तीन प्रमुख धाराएं थीं, जो दुनिया के तमाम बुद्धिजीवियों को प्रभावित कर रही थीं। इसका स्वस्थ-अस्वस्थ प्रभाव पड़ रहा था। हिन्दी साहित्य भी इससे अछूता नहीं था। उन दिनों साहित्य में छायावादी संस्कारों के प्रति तीखी प्रतिक्रिया थी और आधुनिकता का जोर था। नलिन जी आधुनिकता के प्रबल प्रवक्ता थे लेकिन परम्परा के उतने ही गहरे जानकार भी। आचार्य शिवपूजन

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सहाय ने लिखा है कि संस्कार से वह परम्परा के प्रति गहरे सम्मान रखने वाले विलक्षण व्यक्ति थे।

उनका रचनात्मक कार्यक्षेत्र अत्यंत फैला हुआ तो है ही, असंकलित होने के कारण उनका समग्र मूल्यांकन भी कठिन है। 'दृष्टिकोण' उनकी साहित्य-कला-मनोविज्ञान-संबंधी आलोचनाओं का पहला संग्रह है। उनके निधन के बाद 'मानदंड' और 'हिन्दी उपन्यास विशेषत: प्रेमचन्द' दो और पुस्तकें छपीं जिसमें उनके कुछ आलोचनात्मक निबंध प्रकाशित हुए। उनकी कविताओं का इकलौता संकलन 'नकेन के प्रपद्य' है, जिसमें उनके प्रपद्यवादी सहयोगियों केसरी कुमार और नरेश के साथ उनकी कविताएं भी शामिल हैं। इसमें उनके लिखे द्वादश सूत्री काव्य सिद्धांत हैं, जिसे प्रपद्यवादी अपना घोषणापत्र मानते थे। तेरह कहानियों का संकलन 'विष के दांत' और सत्रह असंगृहीत पूर्व छोटी कहानियों के दो कहानी संग्रह हैं। अपने विषय पर पहली पुस्तक 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' भी उनके जीवनकाल में ही छपी थी। आश्चर्य और विचार की एक बात और है कि 1954 में उन्होंने बाबू जगजीवन राम की अंग्रेजी में जीवनी भी लिखी थी। आकर और लोक साहित्य, हस्तलिखित पोथियों के विवरण, कहानी-उपन्यास कथा और निबंध सहित उन्होंने कुल बारह ग्रंथों का संपादन किया जिसमें सदल मिश्र-ग्रंथावली और शिवनंदन सहाय की गोस्वामी तुलसीदास अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अलावा सह-संपादन में चौदह संपादित पुस्तकें हैं जिनमें संत परम्परा और साहित्य के अलावा आचार्य शिवपूजन सहाय के साथ अयोध्याप्रसाद खत्री-स्मारक ग्रंथ भी शामिल हैं जो विशेष रूप से समादृत हुए। उनकी संपादित पत्रिकाओं में त्रैमासिक साहित्य, दृष्टिकोण (मासिक) और द्विमासिक कविता अपने समय की गंभीर पत्रिकाओं में गिनी जाती थीं। उनकी स्मृति में आचार्य शिवपूजन ने साहित्य का जो 'नलिन-स्मृति अंक' प्रकाशित किया था, उसमें उनके असंकलित और अप्रकाशित साहित्य की पूर्ण विवरणी भी छपी है। उसका विस्तार और वैविध्य विस्मित करने वाला है। उसमें 88 संपादकीय टिप्पणियों, 242 पुस्तक समीक्षाओं, 122 निबंधों, 8 व्यक्तिगत निबंधों, 7 संस्मरणों, 10 पठित अभिभाषणों और 34 भूमिकाओं के अलावा अतिरिक्त कहानियों-कविताओं की भी विस्तृत विवरणी है। इसके अतिरिक्त अप्रकाशित ग्रंथों और रचनाओं का विपुल जखीरा दर्ज किया गया है। उनके मूल्यवान पत्रों की चर्चा उन पर लिखने वालों ने बार-बार की है। बेशक किसी सार्थक प्रयत्न से उनकी रचनावली का प्रकाशन अवश्य किया जाना चाहिए।

ऐसी स्थिति में उनके रचनात्मक अवदान का मूल्यांकन संभव नहीं। बावजूद

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

एक कामचलाऊ आकलन की विनम्र कोशिश तो की ही जा सकती है। नलिन का समीक्षात्मक आकलन उनके लिखे निबंधों और छोटी-छोटी टिप्पणियों के आधार पर ही संभव है। उन्होंने किसी रचनाकार या काल पर केन्द्रित पूरी पुस्तक लिखी। जो लिखा उसमें उनकी पद्धति सूत्रात्मक थी। इसी कारण कुछ लोग उन्हें ऊंचे दर्जे का टिप्पणीकार मानते हैं। वह अपनी टिप्पणियों में ही रचना की मर्म पहचान कर लेते थे और उसी क्रम में रचनाकार के कौशल को भी समेट लेते थे। उन्होंने भक्तिकाल और रीतिकाल पर लिखा व छायावाद और आधुनिक काल पर भी। प्रेमचंद और जैनेन्द्र उनके प्रिय कथाकार थे, यशपाल और रेणु भी। निराला उनके सर्वाधिक प्रिय कवि थे। कविता, उपन्यास और समीक्षा उनकी आलोचना के मुख्य केन्द्र रहे। उनमें पाश्चात्य साहित्य और भारतीय साहित्य की समसामयिक रचनात्मकता का पूरा बोध था और वह चिंतन की अधुनातन प्रवृत्तियों से गहरे जुड़े थे। उनका काव्यालोचन सिद्ध सरहपा से प्रयोगवाद तक फैला हुआ है। इसमें उनकी पैनी और गहरी दृष्टि ऐसी है जो विस्तार को सूक्ष्मता में समेटती है। इसलिए उनकी स्थापनाएं ताजगी और नएपन से भरी लगती हैं। मौलिकता के प्रति विशेष आग्रह के कारण उन पर यह आरोप भी लगता है कि उनमें चमत्कार पैदा करने की प्रवृत्ति थी जो उनकी कुछ मनमौजी सूक्तियों से सिद्ध भी होती है। अर्थ-चमत्कार नलिन जी की कविताओं में भी रहा जैसे धूल और धूप को मिला कर 'धूलप' शब्द बनाना। इसका अर्थ वह धूल सने धूप से लेते थे। उनके द्वारा व्यावहारिक समीक्षा शुरू किए जाने को विशेष उपलब्धि के रूप में माना जाता है। उन्होंने खुद रचना आधारित व्यावहारिक समीक्षा की और ऐसी समीक्षाओं को प्रोत्साहित भी किया। अगर आप देखें तो उनकी आलोचना पद्धति उनके समकालीन आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की तुलना में ज्यादा आधुनिक, मौलिक तथा गंभीर है। उनकी दृष्टि एक्स-रे की तरह रचना के मर्म तक पहुंच जाती थी जिससे वह रचना की संरचना के अंतर्गत बारीक से बारीक तत्त्वों की परख-पहचान कर लेते थे। शायद इसीलिए उनकी भाषा में कलात्मक विचारोत्तेजकता और निथरे गद्य-प्रवाह का रूप दिखाई पड़ता है। आश्चर्य है कि उनके शिष्यों और प्रशंसकों ने उनके लेखन से आलोचनात्मक संवाद कायम नहीं किया। वे उनके आतंक से हतप्रभ रहे। जरूरत है कि अब उनके सूत्रों का विश्लेषण विकास किया जाए, तभी उनकी मौलिकता, तेजस्विता और सूक्ष्म गहनता का समीक्षात्मक आकलन हो सकेगा।

नलिन जी उपन्यास-आलोचना में बनी-बनाई कसौटियों को अनावश्यक और असंगत मानते थे। 'गोदान' की अक्रमबद्ध कथावस्तु को लेकर जो आशंकाएं

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रखी जा रही थीं— नलिन जी ने शहरी और ग्राम्य समाज की दो जीवनधाराएं मानी थीं। गोदान के बारे में उनकी एक सूक्ति है— 'खून का एक कतरा न गिरा और क्रांति हो गई।' कृति या कृतिकार के स्वतंत्र वैशिष्ट्य प्रयोग का सम्मान उनकी विशेषता थी। यही कारण है कि वह जैनेन्द्र कुमार की विशिष्टता को महत्त्व देते समय प्रेमचंद के महत्त्व से भी कहीं भी तनिक विचलित नहीं होते थे। जिन दिनों बड़ी मुश्किल से रेणु जी का उपन्यास 'मैला आंचल' छपा था और कोई उसे महत्त्व नहीं दे रहा था उस समय नलिन जी ने खुलकर, जोर देते हुए उसकी अभिनव विशेषताओं को हिन्दी उपन्यास की एक विशेष घटना के रूप में रेखांकित किया था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की खास तौर से सराहना करते हुए उसे एक कवि चित्रकार की रचना कहा था।

यह अकारण नहीं कि रूढ़ि के विरुद्ध होने के कारण ही उनकी समीक्षा पद्धति में विविधता है। वह विभिन्न कोणों और बिन्दुओं से मतवादों के आग्रह से बचकर उपन्यास समीक्षा विकसित कर रहे थे। समीक्षा में वह विधाओं की प्रकृति को खासतौर से महत्त्व देते थे। कहानी-वैशिष्ट्य पर उनकी सूक्ति है— कहानी प्रवाह नहीं, बुलबुला है— वह एक प्रकाशपूर्ण क्षण है। वह क्षण शृंगार या वीभत्स, रौद्र या करुण— किसी का हो सकता है। इस घनीभूत और सारभूत क्षण के पूर्व जो भी होता है— वह भूमिका और बाद में जो कुछ होता है— वह उपसंहार। कहानी की दुनिया छोटी होती है, उसके प्राणी छोटे-छोटे तीर की कन्नी की तरह। वह कहानी को एक सूक्ष्मदर्शक यंत्र मानते थे जिसके नीचे मानवीय अस्तित्व के सच्चे दृश्य खुलते हैं। जाहिर था वह रचना के शिल्प और संरचना पर विशेष बल देते थे। उनके अनुसार बिना शिल्पसंधान के कहानी के मूल-सत्य को सामने नहीं रखा जा सकता। अपनी शैली में वह रूपकों, सहज आत्मीय संस्मरणों और अक्सर घटनात्मक अनुभवों से अपनी बात कहते थे इसलिए उनके लेखन में विचारोत्तेजकता के साथ साहित्यिकता भी है।

नलिन जी का महत्त्व यह रहा कि उन्होंने हिन्दी के परम्परागत आलोचना के चिंतन में सार्थक हस्तक्षेप किया और चिंतन की नई भावभूमि पर बहस को खींच लाने की भरसक कोशिश की। वह रचना के विभिन्न तत्त्वों के एकत्व पर बल देते थे। वह रचना में चित्रात्मक चेतना से रागात्मक तीव्रता जोड़कर आलोचना की एक नई दिशा तलाश रहे थे। अनुसंधान में उनकी गहरी पैठ थी। इसमें संदेह नहीं कि असामयिक निधन से उनके सृजन की लहरें भरपूर लहलहा नहीं पाईं। बावजूद उनकी रचनाओं का चयन-संपादन अवश्य होना चाहिए।

('वर्तमान साहित्य', आलोचना विशेषांक, मई 2002)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

डॉ. रामविलास शर्मा का हिन्दी नवजागरण : पक्ष-विपक्ष

डॉ. रामविलास शर्मा के चिंतन में इतिहास की भूमिका बुनियादी है और इसमें हिन्दी नवजागरण की अवधारणा उनकी मूल और मौलिक देन है। वैसे यह सही है कि उनका इतिहास लेखन अन्य इतिहासकारों से काफी भिन्न है। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो वह उस अर्थ में व्यवस्थित इतिहासकार नहीं हैं, जो मूल स्रोत सामग्री के मौलिक अनुसंधान की प्रविधि अपनाते हों। वह इतिहास संबंधी अपने ज्यादातर लेखन में ऐतिहासिक भौतिकवाद की वैज्ञानिक दृष्टि से सभ्यता के परिवर्तनों का सैद्धांतिक आकलन करते हैं। इसमें या तो उनके पास सीमित साक्ष्य होते हैं अथवा वह इतिहासकारों की मूल स्थापनाओं या निष्कर्षों से बहस करते हैं। ऐसा करते हुए वह प्रगतिशील और प्रतिगामी शक्तियों की भूमिका को विस्तार से सामने रखते हुए ऐतिहासिक विकास को रेखांकित करते हैं। इस तरह उनका इतिहास लेखन एक व्यापक बहस की तरह लगता है, जिसमें अनेक महत्त्वपूर्ण मुद्दे विचारणीय बनकर शामिल होते हैं।

उनके इतिहास चिंतन का एक प्रमुख मुद्दा यह है कि वह भारत सहित एशिया के परिवर्तनों को भी ऐतिहासिक भौतिकवाद की मूल स्थापनाओं के अनुरूप ही मानते हैं। यह विवादास्पद पक्ष है। पूरी दुनिया के परिवर्तनों को एकरेखीय के रूप में आकलन करना अब वैज्ञानिक नहीं रह गया है। समय, स्थान, परिवेश, परिस्थितियों, अंतराल और स्वरूप भेद की अनिवार्यता झुठलाई नहीं जा सकती। इसलिए जो लोग भारत में परिवर्तन की प्रक्रिया को मौलिक और भिन्न मानते हैं, उनसे डॉ. शर्मा का मतभेद होता है। यूरोप की तुलना में एशिया की पक्षधरता का स्वर डॉ. शर्मा में ज्यादा है और इसे लेकर अंग्रेजी सोच और चिंतन के इतिहासकारों से टक्कर स्वाभाविक है। विचारणीय यह है कि डॉ. शर्मा के आग्रह आधार क्या

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है ? इसका आधार है एशिया की समृद्धि और सभ्यता का भव्य अतीत। जाहिर है इसके पीछे विकास की लंबी प्रक्रिया रही होगी और इसके अनुकूल समाज की स्थितियां मौजूद होंगी। लेकिन यूरोप की संपन्नता का एक बड़ा कारण है एशिया की निर्मम लूट। इसी प्रक्रिया में यूरोप की घिनौनी लूट और एशिया का पिछड़ापन विचारणीय मुद्दा बनता है। विश्व राजनीति में अमेरिका और यूरोप की समवेत राजनीतिक ताकत और प्रभुत्व के कारण एशिया का अपेक्षित समृद्धि और विकास बाधित हुआ। यूरोप की संस्कृति ने एशियाई देशों की मौलिक सांस्कृतिक अस्मिता का विनाश किया और अपनी अपसंस्कृति का प्रदूषण निर्यात किया। इसलिए डॉ. शर्मा ने इसे बार-बार और विस्तार में जाकर रेखांकित किया है लेकिन एशिया की संपन्नता और फिर उसके विनाश की प्रक्रिया में परिवर्तन की भिन्नता भी प्रमाणित होती है इसलिए मौटे तौर पर स्वीकार या नकार की प्रविधि वास्तविकता को चिह्नित करने में संभवतः कारगर नहीं हो सकती। हमें राष्ट्रीय प्रभावों और परिवर्तनों की मौलिकता को देश-काल में रखकर रेखांकित करना होगा।

सन् 1857 का स्वाधीनता संघर्ष और उसके सापेक्ष हिन्दी नवजागरण की स्थापना डॉ. रामविलास शर्मा की नितांत मौलिक स्थापना है और यह उनके चिंतन की केन्द्रीय धुरी रही है। अनेक मार्क्सवादी विचारक इस संघर्ष को प्रतिगामी मानते रहे और उनकी मान्यता रही है कि अंग्रेज सामंतवाद को समाप्त कर पूंजीवादी विकास का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। डॉ. शर्मा ने इस स्थापना का सबल तथ्य-तर्कों से खंडन किया। उन्होंने अंग्रेजों और सामंतों के रिश्तों को उजागर करते हुए सैनिक और किसानों की एकता को रेखांकित करते हुए इसे जनता का संग्राम सिद्ध किया और इस संघर्ष को राष्ट्रीय मुक्ति से जोड़ा। भारतेन्दु युग को इसके सापेक्ष रखकर उन्होंने आधुनिकता की शुरुआत को रेखांकित किया। डॉ. शर्मा की इस प्रामाणिक स्थापना को एकदम खारिज कर बदल देने की कोशिश भले सामने नहीं आई हो, लेकिन इस आसंग में कुछ जरूरी सवाल जरूर खड़े किए गए, जिनकी चर्चा से इस मुद्दे को और गंभीरता मिली।

पहली बात यह है कि हिन्दी नवजागरण को भारतीय नवजागरण से अलग रखकर देखा जाए या उसी के आसंग में। दोनों स्थितियों में इनके परस्पर संबंध-संवाद को रेखांकित करना अपेक्षित है। दोनों की परस्पर एकता और दोनों की भिन्नता पर विचार नहीं किया गया। यह तो सही था कि एक नवजागरण पूरे देश में था और भारतेन्दु उसके अकेले अग्रदूत नहीं थे, न ही वे तमाम मुद्दे उनके चिंतन में शामिल थे। नवजागरण एक ऐसी बहुविध जागरूकता थी, जिसमें समाज के अनेक पक्षों को लेकर आंदोलन उठे थे। इसमें अपने-अपने निश्चित

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उद्देश्यों की सीमाओं में लगकर नए परिवर्तनों को अंजाम देने वाले अनेक महापुरुष हुए। नारी उत्थान, शिक्षा का प्रसार या अछूतों की सामाजिक दुर्दशा के विरुद्ध लगे लोगों का संभव था अंग्रेजी साम्राज्य से सीधा प्रतिरोध न हो, न ही सभी की समान दिशा हो, न ही उनके बीच समानता या संवाद ही हो, मगर इन सबसे मिलकर ही वह नवजागरण खड़ा हुआ था, जिसने देश की तस्वीर और तकदीर बदलकर एक नए भारतवर्ष का निर्माण किया। संभव था एक जगह पर एक पक्ष को लेकर चला आंदोलन दूसरी जगह पर उसी समय नहीं चला हो लेकिन इन तमाम आंदोलनों का परस्पर प्रभाव जरूर पड़ा— इसमें संदेह नहीं। सामंती रूढ़ियों और साम्राज्यवादी शोषण की दोहरी चक्की में पिसती भारतीय जनता के बीच नवजागरण की मशाल अपने-अपने तरीके से जलाने वालों की संख्या कम नहीं थी। जो लोग अंग्रेजों को सामंतवाद के विरुद्ध बता कर उन्हें प्रगतिशील सिद्ध करना चाहते हैं नील की खेती को विवश चम्पारण के किसानों का इतिहास देख और तमाम किसान आंदोलनों की छानबीन करें। यह सही है कि नारायण गुरु, ज्योति बा फुले या राजा राममोहन राय जिन मुद्दों को उठाकर बुनियादी परिवर्तनों का अलख जगा रहे थे— वैसा हिन्दी प्रदेशों में नहीं हुआ। महत्त्वपूर्ण यह है कि हिन्दी प्रदेशों में क्या भारतेन्दु के अलावा कहीं कोई परिवर्तन का स्वर नहीं था और ये प्रदेश निष्क्रिय और शांत थे? बिहार में आदिवासी विद्रोहों की एक अनवरत श्रृंखला थी और मध्य जातियों के बीच से संगठित होने की सुगबुगाहट शुरू हुई थी, जो तथाकथित सवर्ण-सामंती ताकतों के प्रतिरोध में मुखर थी। स्त्री जागरण की दिशा में छिटपुट आंदोलन पनप रहे थे। विभिन्न समुदायों के संगठन, शिक्षा के साथ उनके बीच फैली कुरीतियों के विरुद्ध जागरूकता फैल रही थी। डॉ. रामविलास शर्मा ने भारतेन्दु और उनके समकालीन रचनाकारों के लेखन और कार्यों के आधार पर जिस हिन्दी नवजागरण को रेखांकित किया उसमें हिन्दी क्षेत्रों के सामाजिक परिवर्तनों को भी समेटना चाहिए था, जो उन्होंने नहीं किया। न ही उन्होंने भारतीय नवजागरण की दिशा और स्वरूप के आसंग में इसकी अहमियत रेखांकित की। सवाल यह कि जो किया वह अपर्याप्त था या गलत? इसलिए इस अवधारणा को भी मिटाकर हम आखिर क्या करना चाहते हैं? ज्यादा बेहतर होता इस अपर्याप्तता को दूर कर इसे पूर्णता की दिशा में विस्तार दिया जाता— इसे आगे बढ़ाया जाता। लेकिन डॉ. शर्मा के प्रति द्वेष और ईर्ष्यावश इस महत्त्वपूर्ण अवधारणा को ही क्षत-विक्षत करने की कोशिश होती रही।

यह बात सही है कि हिन्दी में भारतेन्दु युग के साहित्य को ही हम नवजागरण

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

का उभार नहीं मान सकते। हिन्दी प्रदेशों में कौन-कौन मुद्दे थे, जिन्हें लेकर गहरा असंतोष था और यहां की जनता अंग्रेजों से लड़ रही थी। आदिवासियों की विद्रोह गाथाएं इसमें शामिल की जाएंगी या नहीं? सामाजिक और सांस्कृतिक स्तरों पर इस प्रदेश में क्या परिवर्तन हो रहे थे— जिसे हम जनता के बीच नवजागरण का उभार कह सकें? इसी से जुड़ा मुद्दा उर्दू और हिन्दी प्रदेशों की लोकभाषाओं का है— क्या हम हिन्दी के आधार पर पूरे हिन्दी प्रदेश के नवजागरण को जान पाएंगे? लोकभाषाओं में भी 1857 ई. की अनुगूंज मिलती है और उर्दू में भी इसके सापेक्ष काफी लिखा गया है। बेशक उसे भी समेटा जाना चाहिए।

सवाल और भी उठाए जा सकते हैं और उठाए जाने चाहिए भी। मगर नवजागरण की मूल स्थापना को उलटकर अंग्रेजों की भूमिका को प्रगतिशील सिद्ध करना अथवा हिन्दी नवजागरण के अस्तित्व को ही विवादग्रस्त करना उचित नहीं। लेकिन निहित उद्देश्यों वाले संदिग्ध मार्क्सवादियों का एक अच्छा-खासा वर्ग है जो भारत की सभ्यता, विकास— यहां तक कि आजादी का श्रेय भी अंग्रेजों को देने में शर्म महसूस नहीं करते। लेकिन डॉ. नामवर सिंह ने आलोचना-79 के संपादकीय में पहली बार हिन्दी नवजागरण की समस्याएं लिखकर कुछ गंभीर सवाल खड़े किए। उनके लेख में कई विसंगतियों का संकेत है, जो हिन्दी नवजागरण की मुख्य चिंतनभूमि को ही संदिग्ध करती हैं। उनके अनुसार बंगला और मराठी में नवजागरण पहले आया— इसलिए वहां गद्य का विकास हुआ। हिन्दी गद्य उसका अनुसरण करता विकसित हुआ। भारतेन्दु बंगाल के नवजागरण से प्रेरित थे, जो सन् 1857 के काफी पहले शुरू हुआ था। इसका इस राजक्रांति से सूत्र नहीं जोड़ा जा सकता। वह एक साक्ष्य यह भी रखते हैं कि यह न भूलना चाहिए कि भारतेन्दु का सीधा संपर्क ईश्वरचंद विद्यासागर, केशवचंद सेन, बंकिमचंद्र, राजेन्द्रलाल मिश्र और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी से था। उनकी एक शिकायत यह भी है कि नवजागरण कालीन प्रकाशित साहित्य में राजनीतिक स्वाधीनता का स्पष्ट स्वर कम ही सुनाई पड़ता है। उनका मानना है कि 'आर्थिक शोषण', 'पुलिस' तथा 'अफसरों के अत्याचार और अन्याय' की शिकायत की गई पर राजसत्ता पलटने के विचार को जैसे अंतर्गुहावाक्ष दे दिया गया। 'देशभक्ति के साथ राजभक्ति की ऐसी अभिन्नता रही कि सुरक्षा, सुशासन, शिक्षा, उन्नति और शांति के लिए ब्रिटिश राज के प्रति उपकृत भाव रहा— विशेषकर मुगल शासन की तुलना में। उनका एक आरोप यह भी है कि भारतेन्दु सहित सभी में बुद्धिभाव का अभाव था। स्वयं नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु में वैष्णवी भावुकता थी। एक अन्य आरोप के बारे में उनका कहना है कि राजक्रांति के नितांत असांप्रदायिक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पक्ष का संदेश, हिन्दी नवजागरण तक पूरा-पूरा नहीं पहुंच सका। नवजागरण हिन्दू-मुस्लिम दो धाराओं में क्यों बंट गया है! वह सिद्ध करते हैं कि भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी लेखकों की दृष्टि में अंग्रेजी राज की चुनौती राजनीतिक से अधिक सांस्कृतिक थी और इसमें बंगाल नवजागरण से अस्त्र-शस्त्र मिलने की संभावना थी। अंत में डॉ. शर्मा पर एक व्यंग्यात्मक टिप्पणी जड़ते हैं कि— 'आज इस रंगभूमि में उतरने वाले 'पूर्वसूरियों' पर राय देते समय अपने गिरेबां में मुंह डालकर देख लेना भी जरूरी है।'

इन आरोपों में कई का उत्तर डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने विवेचन में दिया है। लेकिन डॉ. नामवर सिंह की तमाम बातें एक सिरे से खारिज नहीं की जा सकतीं। भारतेन्दु और उनके मंडल के लगभग सभी लेखक संस्कृत, अंग्रेजी और उर्दू के साथ-साथ बंगला, मराठी और गुजराती भाषाएं भी जानते थे। इनसे उन्होंने अनुवाद भी किए। इसलिए हिन्दी नवजगरण संबंधी उनके चिंतन में इसकी भूमिका को एकदम नकारा जाना उचित नहीं। यह बात भी यथार्थ के करीब है कि ब्रिटिश राजसत्ता को एकदम उलट देने की बातें मुखरता के साथ सामने नहीं आ रही थीं। सन् 1857 की स्पष्ट पदचाप भी इनकी रचनाओं में सुनाई नहीं पड़ती। यह भी सही है कि उनमें राजभक्ति के पर्याप्त प्रमाण हैं और वैष्णवी भावुकता से भी इंकार नहीं किया जा सकता। लेकिन बावजूद इसके पक्ष-विपक्ष की एकांगी पक्षधरता से हम यथार्थ के समीप नहीं पहुंच सकते। बेशक ये अंतर्विरोध रहे हैं और इसके बीज तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक स्थितियों में हैं। हम काल और परिवेश को नजरअंदाज कर हिन्दी नवजागरण की असलियत को नहीं समझ सकते। इसलिए डॉ. रामविलास शर्मा की राजक्रांति और नवजागरण संबंधी विवेचन की भी पूर्वाग्रह मुक्त होकर परख की जानी चाहिए।

डॉ. रामविलास शर्मा ने सन् 1857 पर काफी विस्तार से लिखा है और इसे अनेक साक्ष्यों एवं तर्कों से पहला संगठित स्वाधीनता संग्राम भी सिद्ध किया है। इसमें दो मत नहीं कि इस असफल क्रांति का बहुत गहरा असर पड़ा और इस असर से भारतेन्दुयुगीन लेखन को निरपेक्ष नहीं माना जा सकता। जहां अंग्रेजों ने अफगानिस्तान से रूस तक साम्राज्य विस्तार की मंशा बनाई थी, वहां उन्हें भारतीय क्षेत्र में ही हुकूमत कठिन जान पड़ने लगी। राधाचरण गोस्वामी की रूस के ज़ार के नाम चिट्ठी 'भारतेन्दु' पत्रिका में छपी थी। ज़ार की तुलना में ब्रिटिश शासन ज्यादा अनुकूल था— संभवतः यही राजनीतिक दूरदर्शिता भी थी। गोस्वामी जी के उक्त पत्र में यह दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से सामने आता है। बावजूद अंग्रेजी शासन की अवांछनीयता का एहसास तमाम लेखकों में था और काफी गहराई से

CC-0.Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

था। सन् 1857 के बाद देश की जो हालत बनी, उसमें उनके हस्तक्षेप की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अंग्रेज जनता के आक्रोश से कितने सहमे हुए थे— इसके अनेक प्रमाण अंग्रेज अधिकारियों के पत्रों, डायरियों दस्तावेजों, फाइलों और संस्मरणों में मिलते हैं। वह बुरी तरह परेशान थे। संग्राम को कुचलने में उनकी नृशंसता चरम पर थी। इसका एक प्रभांव तो स्वीकार करना ही चाहिए कि अंग्रेजों ने जिस तरह अफ्रीका और अमेरिका में तबाही मचाई थी, वैसा वे भारत में नहीं कर सके। जो लोग इसे सामंती और धार्मिक ताकतों की लड़ाई तक सीमित करने का हठ करते हैं, वे स्पष्टत: गलत करते हैं। जिस समझ से भारतीय सामंतों को इस संघर्ष के साथ जोड़ा जाता है, उसी ईमानदारी से भारतीय सामंत और अंग्रेजी सत्ता के सघन रिश्तों को भी विवेचित किया जाना चाहिए। कितने सामंत संघर्ष में थे, कितने अंग्रेजों के साथ और कितने तटस्थ थे? दिल्ली के बादशाह को राजा मानने की पहल और निर्णय रजवाड़ों ने नहीं, विद्रोही सैनिकों ने किया था। वे लड़ाकू सैनिक जो किसान परिवारों से आते थे, गांवों की स्थिति से परिचित थे। वे राष्ट्रीय मुक्ति का स्वप्न देख रहे थे, इसके काफी प्रमाण सुलभ हैं। इन सैनिकों के साथ कुछ क्रांतिकारी बहादुर सामंती भी थे, जिन्हें व्यापक जन-समर्थन मिलने के पर्याप्त साक्ष्य हैं। कंपनी के हाथ से ब्रिटिश हुकूमत तक सत्ता हस्तांतरण के बाद जो जनोपयोगी घोषणाएं हुईं, वे अकारण नहीं थीं और न ही अंग्रेजों की यह उदारता थी। कई जगहों पर सड़कों के दोनों ओर शहीदों को सूली पर टांगने वाले और गांव के गांव जला देने वाले अंग्रेज कोई सभ्य और सुसंस्कृत कौम नहीं थी— दरअसल यह उनकी विवशता थी। बंगाल और मद्रास में अकाल से मरने वाले लाखों लोगों की मौत के बाद जब ब्रिटिश सत्ता से मोहभंग हुआ तो इन लेखकों की राजभक्ति के तेवरों में भी परिवर्तन हुए। यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि तब जनता के बीच ऐसी कोई राजनीतिक शक्ति या संगठन नहीं था, जो सत्ता को पलटने का आंदोलन चला रहा हो। फिर लेखकों से ही ऐसे आह्वान की अपील की अपेक्षा क्यों? सत्ता पलटने का लेखकीय आह्वान बिना राजनीतिक संगठन और आंदोलन के नहीं किया जा सकता था। आतंक और दमन के बीच तब काम करना कितना कठिन रहा होगा— इसका अनुमान करते हुए ही उनकी रणनीति और बुद्धिमता का आकलन करना होगा।

इसलिए राजभक्ति के अंतर्विरोध को जरूर लिया जाना चाहिए, लेकिन अतिरिक्त बल देकर उन 'पूर्वसूरियों' पर व्यंग्य करना ज्यादा औचित्यपूर्ण नहीं लगता। जिस आर्थिक शोषण या अत्याचार को शिकायती मुद्रा में नामवर जी ने लिखा है— वहां भी सकारात्मक को धुंधला करने का ही भाव दिखता है। अगर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बार-बार उद्धृत किए जाने वाले उद्धरणों में कुछ को ही लिया जाए तो उस युग में इसे मात्र 'शिकायत' नहीं कहा जा सकता। हमें नहीं भूलना चाहिए कि यह एक ऐसी भाषा के द्वारा की जा रही कोशिश थी, जो अभी बन नहीं पाई थी। हिन्दी गद्य का जन्म हो रहा था। भारतेन्दु ने लिखा— रेलवे कंपनी वाले ने जो द्रव्य व्यय किया है, उसका ब्याज सरकार को देना पड़ता है और उसे लेनें वाले बहुधा विलायत के लोग हैं। कुल मिलाकर 26 करोड़ रुपया बाहर जाता है। कपड़ा बनाने वाले सूत निकालने वाले, खेती करने वाले, आदि सब भीख मांगते हैं। खेती करने वालों की यह दशा है कि लंगोटी लगाकर हाथ में तुंबा ले भीख मांगते हैं। अब तो प्रतिवर्ष कहीं-न-कहीं दुष्काल पड़ा ही रहता है— मुख्य करके अंग्रेजी राज में इसका घर है और बहुधा ऐसा सुनने में आया है कि विसूचिका का रोग जो अब संपूर्ण भारतवर्ष में छा रहा है, अंग्रेजों के राज के आरंभ से इसका प्रारंभ हुआ है। 'जब अंग्रेज विलायत से आते हैं प्राय: कैसे दरिद्र होते हैं और जब हिन्दुस्तान से विलायत को जाते हैं तब कुबेर बनकर जाते हैं... रोग और दुष्काल इन दोनों के मुख्य कारण अंग्रेज ही हैं।' भाइयों! अब तो सन्नद्ध हो जाओ और ताल ठोंक के सामने खड़े हो जाओ। देखो भारतवर्ष का धन जिसमें जाने न पावे— यह उपाय करो। हम लोगों को केवल अंग्रेजी भाषा प्राप्त हुई परन्तु कला-कौशल के विषय में हम लोग भली-भांति अज्ञान सागर में निमग्न हुए हैं— इसमें संदेह नहीं। स्पष्ट लिखा है—जब अमेरिका उपनिवेशित होकर स्वतंत्र हो सकता है तो भारतवर्ष क्यों नहीं? उन्होंने स्वदेशी आंदोलन की अपील की। हिन्दू, मुस्लिम, सिख, मराठी, गुजराती सभी को एक होने की अपील की। क्या राष्ट्रीय एकता की यह अपील 'बुद्धिवाद' के अभाव में संभव थी। भारतेन्दु ने विज्ञान और गणित की पुस्तकें अपनी भाषा में तैयार करने पर जोर दिया था। उस समय समस्याएं ज्यादा सघन थीं। अपने विश्वास को शून्य और बंजर में पैदा करना था। बतौर साधन के भाषा भी कायदे की बन नहीं पाई थी। भारतीय भाषाओं के उत्थान और विकास पर बल देना, उस भाषा को सीखना, पढ़ना और लिखना बिना समझ भरी देशभक्ति के नहीं थी। राधाचरण गोस्वामी ने विधवा विवाह के आंदोलन क्रम में जिस तरह की भाषा में हिन्दू धर्म की रूढ़ियों पर चोट की है, उसका साक्ष्य बस कबीर की भाषा में ही ढूंढा जा सकता है। प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रेमघन, राधाचरण गोस्वामी और ठाकुर जगमोहन सिंह के लेखन से इन आरोपों के प्रतिकूल अनेक उद्धरण दिए जा सकते हैं। डॉ. शर्मा ने सन् 1947 तक भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की विवेचना करते हुए बार-बार सन् 1857 के प्रभाव को काफी बाद तक प्रेरणास्रोत के रूप में दिखाया

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है। गदर पार्टी की स्थापना और गदर पत्र का प्रकाशन अकारण ही नहीं हुआ था। इसके सदस्य भकना या अन्य किसान आंदोलनों में सक्रिय हिस्सेदारी लिए और आगे साम्यवादी दलों के गठन होने पर उसमें शामिल भी हुए।

डॉ. शम्भुनाथ ने भारतेन्दु युग पर जो पुस्तक संपादित की उसमें 'भारतीय नवजागरण' का शीर्षक दिया। यह सही था कि हिन्दी नवजागरण, बंगला नवजागरण या मराठी नवजागरण अथवा अन्य भाषाओं में आए नवजागरणों में समानताएं और भिन्नताएं थीं। किसी में कोई मुद्दा मुखर था तो दूसरे में वह मुद्दा ही न था। किसी में पहले तो किसी में बाद में नवजागरण आया। यहां तक कि लोकभाषाओं में भी समय और मुद्दों के स्तर पर भेद रहा लेकिन इसमें संदेह नहीं कि इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। इसलिए अनुसरण का आरोप उचित नहीं लगता। अगर ऐसा होता तो ऐसा फर्क नहीं आता। सन् 1857 के गर्भ से नवजागरण पैदा हुआ या नहीं— इस पर विवाद करना भले संभव हो, मगर स्वाधीनता आंदोलन पर इसके गहरे प्रभाव और नवजागरण को समृद्ध करने वाले मुख्य कारक मानने पर विवाद नहीं किया जा सकता। जैसी विकसित चेतना भारतेन्दु या उनके सहयोगियों की रही, उसके सापेक्ष सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, राजेंद्रलाल मिश्र या चिपलूणकर, आगरकर की चेतना को देखा जाना चाहिए। बंगला में अंग्रेजों की प्रशस्ति वाले विशेषांक भी छपे थे और काफी बुद्धिजीवी अंग्रेजों की यारी को अहमियत देने वाले थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का आंदोलन शिक्षित बेरोजगारों द्वारा नौकरियों की हिस्सेदारी में चलाया गया था— यह तो तथ्य है। बंकिम बाबू के पूर्व बंगला गद्य का कोई वैसा प्रमाण मेरी जानकारी में नहीं है, जो भारतेन्दु के गद्य की बराबरी करता हो। बंकिमचंद्र का 'आनंदमठ' 1882 ई. में छपा था। सती प्रथा पर केन्द्रित 'संवाद-कौमुदी' राजा राममोहन राय ने 1821 ई. में निकाला। उसमें लिखा कि मेरा यही उद्देश्य है प्रजा को उनके शासकों द्वारा स्थापित कानून और तौर-तरीकों से परिचित कराना ताकि शासक जनता को अधिक से अधिक सुविधा देने का अवसर पा सके और जनता उन उपायों से परिचित हो सके, जिनके द्वारा शासकों से सुरक्षा पाई जा सके और उचित मार्गें पूरी कराई जा सकें। यह पत्र अप्रैल 1923 में बंद हुआ। श्री युगलकिशोर शुक्ल ने 30 मई 1826 को 'उदंत मार्तण्ड' हिन्दी साप्ताहिक का प्रकाशन किया। सरकार और ग्राहकों की सहायता के अभाव में यह पत्र जब 4 दिसंबर 1827 को बंद हुआ तो संपादक ने लिखा—

आज दिवस सौं उग चुक्यो मार्तण्ड उदंत,
अस्ताचल को जात है दिनकर दिन अब अंत।

यह राजा राममोहन राय जैसे समर्थ व्यक्ति की सुविधाओं के विपरीत एक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साधारण व्यक्ति की उत्साही कोशिश थी, जिसकी व्यथा इन दो पंक्तियों में महसूस की जा सकती है। गद्य की दृष्टि से भी इंशा अल्ला खां, रामप्रसाद निरंजनी, लल्लूलाल, सदासुख लाल और राजा लक्ष्मण सिंह का गद्य भी कम परिष्कृत नहीं था और काल-क्रम में वह बंगला या मराठी गद्य से बहुत पीछे का भी नहीं है। इसलिए कौन गद्य, किसका अनुसरण कर रहा था— यह बहुत महत्त्वपूर्ण या कारगर निष्कर्षों तक नहीं ले जाएगा। चिपलूणकर ने अपने निबंधों में अंग्रेजों के गुण-दोषों का विवेचन किया था मगर उनका स्वर भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, सदानंद मिश्र की तरह विचारवान, बुद्धिवादी और उग्र नहीं था— यह दोनों की रचनाओं को देखकर समझा जा सकता है। भारतेन्दु के मित्रों में सिर्फ बंगाल के चंद महत्त्वपूर्ण लोग ही नहीं थे बल्कि उनमें मराठा, पंजाबी, उड़िया, गुजराती से लेकर लंदन तक फैले हुए थे। वह बंगाल के उक्त महानुभावों से बराबरी की ही मित्रता रखते थे। ईश्वरचंद विद्यासागर उनके यहां टिके भी थे। भारतेन्दु से पत्राचार तथा उनके निधन पर इन महानुभावों की शोकांजलियां प्रमाण हैं कि भारतेन्दु उनके बंगाल नवजागरण के हिन्दी प्रतिनिधि भर नहीं थे। भारतेन्दु के सोच-विचार लेखन और कार्य का दायरा काफी व्यापक था। वह मौलिक ढंग से विचारों का विकास और विनिमय करते हुए उसे समृद्ध करते थे। मात्र 34 वर्ष कुछ महीनों की जिन्दगी में अपनी सारी पैतृक संपत्ति लुटाकर लेखन, संपादन और व्यावहारिक तीनों पर विपुल मात्रा में इतने काम संपन्न करने वाले भारतेन्दु का महत्त्व किसी के कृपांक के भरोसे नहीं है। जहां तक राजनीतिक स्वर की बात है तो हमें कविवचन सुधा, सार सुधा निधि, हिन्दी प्रदीप, भारतेन्दु जैसे पत्रों के हजारों पृष्ठों की छानबीन करनी होगी।

रही बात वैष्णवी भावुकता की तो भारतेन्दु में भावुकता उतनी ही थी, जितनी एक बड़े कलाकार और महान-उदारचेता महामानव में अपेक्षित है। वह उन्हें ऊंचे दर्जे की मनुष्यता और जीवंतता से संपन्न करती है। उनके पूर्व भक्तिकाल और रीतिकाल गुजर चुका था। भारतेन्दु ने भक्तिकाल से रिश्ता जोड़कर कोई गलत चुनाव नहीं किया। उनकी भक्ति नितांत वैयक्तिक मुक्ति वाली 'प्रभु हौं पतितन को टीकौ' की नहीं थी। उन्होंने भक्ति की एक नई रेखा खींच दी जब यह लिखा कि— 'कहां करुनानिधि केशव सोए, जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए।' मेरा विनम्र अनुरोध है कि 'तहकीकातपुरी की तहकीकात', विधवा-विवाह विवरण, विदेश यात्रा-विचार सहित अनेक रचनाओं को गंभीरता से देखा जाना चाहिए— उनकी तर्कक्षमता और बुद्धिमता कायल करेगी। भारतेन्दु ने एक गणित की पुस्तक की समीक्षा करते हुए लिखा है कि वे लोग जो हिन्दी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

को विचार, विज्ञान और तर्क की भाषा नहीं मानते वे इसे देखें। लिखते हैं— बहुत से लोग बिना समझे-बूझे दाढ़ी हिला-हिलाकर कहा करते थे कि हिन्दी में वैज्ञानिक ग्रंथ Scientific works नहीं लिखे जा सकते और भाषा में इतने शब्द नहीं कि वैज्ञानिक भावना प्रकाश की जाए पर हम लोग यह जल्पने वाले लोगों को सचेत करते हैं कि वे इस निद्रा से जागें और टुक आंखं खोलकर देखें कि अब हिन्दी भाषा की उन्नति चाहने वाले लोग जो कहते थे सो कर दिखाते हैं। बंगाल या मराठा का कौन नवजागरण कालीन रचनाकार अधार्मिक था? धार्मिक होने से कोई प्रगतिशीलता विरोधी नहीं हो गया। कबीर से बड़ा धार्मिक कौन था?

हिन्दी नवजागरण आगे दो सांप्रदायिक धाराओं में बंटा तो इसका अपराध भारतेन्दु या उनके साथियों पर क्यों मढ़ा जाए— यह बात भी समझ में नहीं आती। भारतेन्दु युगीन लेखकों ने हमेशा हिन्दू-मुसलमान को 'भारतमाता की दो आंखें' कहा और अंग्रेज हमें आपस में लड़ा रहे हैं— इससे सावधान किया। अंग्रेजों ने सन् 1857 की राजक्रांति के समय दिल्ली और बरेली में दंगे कराए, बावजूद वे हिन्दू-मुसलमान एकता तोड़ नहीं पाए। भारतेन्दु ने पैगम्बर साहब की जीवनी लिखी, इस्लाम पर लेख लिखा। सभी भारतेन्दुयुगीन लेखक उर्दू-फारसी के जानकार थे और कई ने तो इन भाषाओं में स्वतंत्र रचनाएं भी लिखीं। प्रेमघन जी 'अब्र' नाम से लिखते थे।

सन् 1857 का संघर्ष पूरे भारत को ध्यान में रखकर चलाया गया और इसमें हिन्दू-मुसलमान एक साथ शरीक हुए— इनका दुश्मन एक था और स्पष्ट था— अंग्रेज। इसमें जनता की व्यापक हिस्सेदारी को हमेशा ध्यान में रखकर विवेचन करना होगा। जमींदारों और साहूकारों का भी बड़ा वर्ग अंग्रेजों के साथ था और मामूली हिस्सा क्रांतिकारियों के साथ। जनता ने जमींदारों और साहूकारों को दी गई विशेष सुविधा को उलट दिया था। अंग्रेज पूंजीपतियों का सघन संबंध भारतीय सामंतों से ही नहीं, इंग्लैंड के सामंतों से भी था— इसे नहीं भूलना चाहिए। सेना में भर्ती वे किसान परिवार के लोग ही हुए थे जिनकी दशा मुगल काल से ही खराब थी। इसमें विभिन्न वर्गों, धार्मिक समुदायों और जातियों के लोग थे जो एक साथ रहते खाते-पीते थे। आज भी पुलिस मेस में उच्च, निम्न और भिन्न धार्मिक समुदायों के भोजन अलग पकते हैं— कम से कम बिहार में यही स्थिति है एक तीखी सच्चाई यह भी है कि अंग्रेज हिन्दी क्षेत्रों की क्रांति को दबाने में गैर हिन्दी प्रदेशों के सैनिकों का इस्तेमाल कर रहे थे। जिस तरह वे पंजाब पर ध्यान दे रहे थे, उस तरह हिन्दी प्रदेशों में नहीं। हिन्दी प्रदेशों में न तो कोई बंदरगाह थी, न ही यहां आधुनिक शिक्षा का वैसा प्रसार था— जैसा बंगाल,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

महाराष्ट्र, मद्रास या केरल में था। यह भी ध्यान देने वाली बात है कि अंग्रेजों को सबसे कठिन संघर्ष हिन्दी प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमाने में करना पड़ा। इस कारण भी इन प्रदेशों की घोर उपेक्षा होती रही।

सन् 1857 पर प्रगतिशील और प्रतिगामी विचार रखने के सूत्र ज्यादा गहरे रहे हैं। इस देश में एक ऐसा प्रभुवर्ग है जो भारत और उसकी जनता को जाहिल और पिछड़ा मानता है तथा अंग्रेजों को इस बात का श्रेय देता है कि उसने हमें सुसंस्कृत किया। उसी ने भारत को एक किया। इसी का अगला चरण यह है कि आज भी हम इंग्लैंड और अमेरिका के बिना न तो सुसंस्कृत हो सकते हैं और न ही विकसित। इसलिए ऐसे प्रतिगामी विचारों के पीछे जो नीयत है, जो खतरे हैं—उनसे सावधान होने की आज भी उतनी ही जरूरत है जितनी पहले थी।

(पुरुष, 19 सितंबर, 1993)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मुक्तिबोध का गद्य

संस्कृत के वामन की यह उक्ति 'गद्यं कवीनां निकषं वदंति' बहुत प्रसिद्ध रही है, लेकिन यह सवाल मुझे अक्सर परेशान करता रहा कि आखिर गद्य को कविताओं की कसौटी क्यों कहा गया? कविता न सिर्फ साहित्य की आदि विधा रही बल्कि, अन्य विधाओं की तुलना में तत्वतः संश्लिष्ट भी। मुझे इस उक्ति की सार्वजनीन सत्यता को लेकर कोई हठ नहीं है लेकिन मुक्तिबोध के गद्य आसंग से यह मुझे ज्यादा प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण उक्ति लगती रही है। दरअसल गद्य की तात्विक बुनावट में ही कुछ ऐसी सहूलियतें होती हैं, जिनसे हम रचनाकार की गूढ़ उपस्थिति और पहचान को कविता की तुलना में ज्यादा आसानी से लक्षित कर पाते हैं। गद्य में रचनाकार के छल-छिपाव की गुंजाइश अपेक्षाकृत कम होती है और दूसरी बात यह कि अंदरूनी पहचान के संकेतों को समझने की सुविधाएं भी पाठकों को ज्यादा होती हैं। आधुनिक युग के कवियों के आसंग में, यह बात इस कारण भी विशेष महत्त्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध हुई कि कवियों के गद्य ने उनकी कविता भीतर प्रवेश की राह को ज्यादा सुगम और सहज किया। कम-से-कम मुक्तिबोध के बारे में यही सच लगता है।

मुक्तिबोध का गद्य एक ऐसे बीहड़ प्रांत की अजानी यात्रा की तरह है, जो मनुष्य की प्रागैतिहासिक सभ्यता के आदिम रास्ते से गुजरकर हमारे समय के विवेकसम्मत बोध के उत्कर्ष तक पहुंचती है। वह ऐसे संकेतों से अटी पड़ी है, जो यात्रा के नैरन्तर्य की साक्ष्य रखती है। यह हिन्दी जातीय गद्य का नया शिखर था क्योंकि मुक्तिबोध के गद्य में नए क्षितिज संभव हुए। वह लिखते हैं— 'ज्ञान से अज्ञान की ओर जाने से ही ज्ञान की विवशताएं टूटती रहेंगी, उसकी सरहदें टूटती रहेंगी। लेकिन जिस दिन से आप केवल ज्ञान से ज्ञान की ओर जाएंगे, उस दिन आप केवल अपनी ही कील पर अपने ही आसपास घूमते रहेंगे। यह अच्छा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नहीं है। इसलिए आपको अज्ञान से डरने की जरूरत नहीं। एक बार अज्ञान के एक हिस्से को ज्ञान बना लेने पर पहले का ज्ञान भी कुछ नया रूप धारण करेगा। उसको यह नया रूप धारण करने दो, उसकी क्रिया में बाधा मत डालो।' (मु.र. 4/33) वह आगे सतर्क करते हैं— हर तरह के अज्ञान के प्रति आकर्षित होना बुद्धिमता नहीं है।

अज्ञात की यात्रा का साहस ही पर्याप्त नहीं, उसके चुनाव का विवेक भी जरूरी है जो हमारे उद्देश्य पर निर्भर करता है। 'विपात्र' में एक पंक्ति आती है— 'मुझे इन जलते रेगिस्तानों पर पैर रखते हुए ही चलना है।' हम उनकी यात्राओं की प्रकृति का एक हद तक अनुमान कर सकते हैं। इसमें शक नहीं कि अज्ञात की इस अजानी यात्रा पर पांव रखते मुक्तिबोध निरन्तर तीव्र अनुभव-संवेदन और बौद्धिक विवेचन की सतत समानान्तर आंच में तपते रहे। हमें उनकी इस गद्य-यात्रा में जो सबसे बड़ी सुविधा मिलती है— वह है बोलते-बतियाते मुक्तिबोध की उपस्थिति, जिसके बिना हम इस यात्रा का साहस शायद ही बटोर पाते। गद्य-चिंतन का यह एक नया आयाम था। एक ऐसा मित्र-वत्सल आत्मीय और दुर्लभ सहयात्री जिसके व्यक्तित्व की एक-एक परत जैसे-जैसे खुलती जाती है— उसकी अनिवार्यता हमारे लिए और जरूरी होती जाती है। निश्छलता, विनम्रता, सहजता, दृढ़ता, प्रखरता और सच्चाई की लगातार खुलती परतें हमारे आत्मीय रिश्ते और विश्वास को स्थायी करती जाती हैं। वे हमारे भीतर जीवन की ऐसी ऊर्जा भरती हैं, जो हमें रूपान्तरित करती हैं। शायद इसी कारण इस दुस्साहस भरी गद्य-यात्रा में हम थकते नहीं, बल्कि विजय के दुर्लभ विश्वास से भर उठते हैं।

यह प्रश्न विवादास्पद रहा है कि मुक्तिबोध की इस यात्रा में संवेदना और बौद्धिकता, व्यक्ति यानी 'निज' और समाज यानी लोक, शिल्प और अंतर्वस्तु, जातीयता और आधुनिकता देशीय और सार्वभौमता, तात्कालिक और शाश्वत का द्वैत रहा है या नहीं ? पहली बात यह कि इसका द्वैत नहीं, द्वंद्व है। उस द्वंद्व से ही सवाल उगते हैं और उन्हीं के हल संधान में चिन्तन की प्रक्रिया चलती है। यहां मैं कहूं कि सवाल और समाधान की इस प्रक्रिया में कोई बौद्धिक प्राणायाम अथवा भाववादी आत्म-मुक्ति की कामना नहीं पलती, न ही मुक्तिबोध एकरेखीय चिन्तन के आलोक में किसी एक की पक्षधरता का आसान रास्ता चुनते हैं। वह इससे ज्यादा दुर्गम मार्ग चुनते हैं। वह दोनों के भेद-अभेद का विवेचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। दोनों के अंत:संबंधों और अंतर्विरोधों का आकलन करते हैं। कोई जरूरी नहीं निष्कर्षों के साथ ही, वह अनुत्तरित भी छोड़ते हैं, अनिश्चित भी। जहां विश्वास के पांव ज्यादा ठोस आधार पाते हैं वहां उनकी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दृढ़ता भी देखते बनती है। सरलता ऐसी कि कभी-कभी सोच की अंदरूनी प्रक्रिया को ही हू-ब-हू ज्यों का त्यों रख देते हैं। इतना निर्विवाद है कि तथ्यों से सिद्धांतों और सिद्धांतों से तथ्यों की समानान्तर यात्रा, तीव्र आत्म-संवेदन और बौद्धिक विवेचना के साथ ही संपन्न होती है या विकसित होती है। आप पाएंगे पूरी यात्रां में मुक्तिबोध की निर्वैयक्तिक ईमानदारी-दोनों की साझीदारी और संतुलन को कायम रखती है। इससे उनका अंतर्संज्ञान निर्मित होता है।

अंतर्संज्ञान या सुविधा के लिए, अंतर्दृष्टि को उनके गद्य में बहुविध देखा जा सकता है। न सिर्फ मनुष्य, वस्तु और प्रकृति के प्रगाढ़ संपर्कों में बल्कि, विचार, दर्शन, संस्कृति या साहित्य से सघन संवादों में भी। आलोचना में यह कितनी तलस्पर्शी, सूक्ष्म और संक्षिप्त होती है इसके उदाहरण हमें 'कामायनी' की आलोचना में मिलते हैं। एक जगह लिखते हैं— 'जरा ध्यान दीजिए इन दो पंक्तियों पर : 'स्वयं देव थे हम सब, तो फिर क्यों न विशृंखल होती सृष्टि' और 'कंपती धरती उन चरणों से होकर प्रतिदिन ही आक्रांत!' देव शब्द में कितना व्यंग्य भरा हुआ है। (4/232)

मुक्तिबोध तथ्यों के भीतर से ऐसी चीजें निकालते हैं— जिसकी कोई संभावना नहीं दिखती, जब सामने रखते हैं तो लगता है — बस! यही तो है। यह अंतर्संज्ञान उन्हें आगे परस्पर भिन्न भावों और विचारों के विश्लेषण में और अपने रास्ते के चुनाव में मदद करता है। सच तो यह कि वह निर्णायक सिद्ध होता है। एक ऐसा रास्ता जो 'निज' का परिष्कार और उन्नयन करे और लोक या समाज का हित भी। वह कहते हैं— 'गहरी मनुष्यता के बिना वस्तुपरक यथार्थग्राही दृष्टिकोण असंभव है इसलिए व्यक्तित्व का विकास असंभव है।' (4/217)

जीवन और जीवन-मूल्यों के प्रति कठोर आग्रही होकर भी वह कला की उपेक्षा नहीं करते और न ही इसे लेकर कोई हिचक पालते हैं। वह 'जीवन-मूल्यों' और 'कला-मूल्यों' के 'अवयविक संबंधों' की चर्चा करते हैं और उसके अपेक्षित एकत्व पर बल देते हैं। 'विपात्र' में जगत के बारे में बताते हैं कि उसके लिए काव्य-सौंदर्य केवल एस्थेटिक महत्त्व का ही न था बल्कि जीवन-निष्कर्षपूर्ण महत्त्व का भी था। इसीलिए वह साहित्य को देखने के नजरिए की चर्चा करते हुए उसके उद्भव-स्रोत यानी वे वास्तविकताएं जिनसे वह रचा गया, उसके कलात्मक प्रभाव और उसकी अंत:प्रकृति रूप-रचना को आकलित करने पर जोर देते हैं। वह कलात्मक सौंदर्य को आत्मसात कर कृति के मर्म में प्रवेश करने की बात कहते हैं। उनके अनुसार रचना का वहीं 'सिंहद्वार' है। उनके अनुसार जीवन-जगत तक जाने का वही सुगम मार्ग है। वह जीवन-जगत आंतरिक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

और बाह्य तत्त्वों से बना है। लिखते हैं— 'मानव-संबंधों, जीवन-मूल्यों, ज्ञान-दृष्टियों तथा गहन मानसिक प्रतिक्रियाओं का एक संवेदनात्मक समवाय है, जो कलाकार के अंत:करण में अनेक मिश्र-रूपों में संचित होकर अभिव्यक्त-क्षणों में प्रोद्‌भासित हो उठता है, अपने सारे वैभव और समृद्धि के साथ।' (4/326)

रचना के जन्म-क्षण की संश्लिष्टता पूरी स्पष्टता से गद्य में उतरती है। मुक्तिबोध का लगभग संपूर्ण गद्य गहरे चिंतन का है। इसके बावजूद उसमें कहीं उलझाव या अस्पष्टता नहीं। 'कामायनी: एक पुनर्विचार' के प्रारंभिक हिस्से के फैंटेसी विवेचन संबंधी तथा एक साहित्यिक की डायरी में खास तौर से रचना-प्रक्रिया संबंधी चिंतन को देखें तो उनकी संश्लिष्टता, जटिलता के साथ गद्य की स्पष्टता बराबर आपकी सहायता करती मिलेगी।

मुक्तिबोध के चिंतन की प्रकृति और स्वभाव के कारण उनके गद्य का सौंदर्य उसके रूपगत वैविध्य में नहीं बल्कि गद्य के भीतरी स्तरों और भाषा रूपों में है। इसी कारण उनके गद्य लेखन में विद्याओं के बीच फासले कम हैं। उनकी सीमाएं लगभग मिली-जुली हैं। मूल कारण उनकी चिंता और चिंतन की एकरूपता हैं उनका पूरा चिंतन नैरंतर्य का है। उसी यात्रा का, जिसमें वह कहीं सामने से, कहीं किसी ओट से, दूर-समीप बतियाते अपनी उपस्थिति हमेशा बनाए रखते हैं। आप पाएंगे कहानी, लेखों या डायरियों के कई पात्रों-चरित्रों में वैसा ही आवेग है जैसा उनके पत्रों में। उनके गद्य में कथाकार, कवि, आलोचक या चिंतक का बेरोकटोक एक-दूसरे की विधाओं में आना-जाना होता रहता है। बमुश्किल कुछ अपवादों को छोड़ भी दिया जाए तो उनकी कहानियों में विधागत अपेक्षाओं के प्रति बेहद बेफिक्री है। दरअसल उनकी कहानियां भी अपने मूल स्वर या तात्विक निष्कर्षों में चिंतन-प्रधान ही हैं। उनमें भी जीवन-प्रसंगों के बीच से उठते सवाल हैं और उनसे जूझते संवाद। चिंतन का निरंतर वेग अपने प्रबल प्रवाह में विधाओं की सीमाओं के प्रति लापरवाही बरतता है। ऐसा लगता है जैसे मुक्तिबोध की कुछ कहानियां संयोग से कहानी हो गईं वरना कई तो ठीक-ठीक किसी विधा की तय परिभाषाओं से आज तक परहेज ही करती रहीं।

निर्मल वर्मा भी मानते हैं कि उनकी विधाओं के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती, लेकिन निर्मल वर्मा उनके बाहरी यथार्थ और भीतरी यथार्थ के संबंधों की अनदेखी करते हैं। वह इस बात को ही दरकिनार कर देते हैं कि मुक्तिबोध भीतरी यथार्थ को बाहरी यथार्थ से निर्मित मानते हैं। विधागत सीमाओं की इस एकता का एक कारण वह यह बताते हैं कि वह एक कस्बाई भारतीय के आध्यात्मिक संकट को उसकी समस्त कमजोरियों, आत्म-भ्रांतियों

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

और बीहड़ दुःस्वप्नों के बीच पकड़ते हैं। यह मंतव्य लगभग आत्म-प्रक्षेपित लगता है। कस्बाई भारतीय के आध्यात्मिक संकट की बात उठाई ही नहीं जा सकती। अगर निर्मल वर्मा आध्यात्मिक संकट को सांस्कृतिक संकट के रूप में कहना चाहते हैं तो भी यह अधूरा सत्य होगा क्योंकि मुक्तिबोध समय के संकट को ध्यान में रख रहे थे। दरअसल वह संकट भी संश्लिष्ट है क्योंकि वह आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संकट का समवेत स्वरूप है।

प्रश्न यह भी है कि ऐसी आकुलता कैसे निरंतर ऊर्जस्वित रहती है ऐसा अखूंट उत्साह कि थकान का , आलस्य का, प्रमाद का गद्य तो पूरे मुक्तिबोध के लेखन में ढूंढे न मिलेगा। उनका गद्य एक 'होल टाइमर' का गद्य है। मुझे लगता है इसका कारण उनमें गहरी मनुष्यता, गहरा जीवन-राग और ज्ञान की तीव्र उत्कटता है। बात के विकल आग्रह का ज्वार तो कहीं-कहीं वाक्य-विन्यास में व्याकरण की बंदिशें भी तोड़ देता है और भाषा की संवैधानिकता मानने से इंकार कर देता है। ढीली-ढाली पैंट-शर्ट की तरह गद्य का शिल्प इतना सहज भी हो जाता है— जैसे अनुभव, बोध, चिंतन और लेखन एक साथ चल रहा हो यानी रचना प्रक्रिया ही अनूदित हो रही हो। इस ढीली-ढाली शैली से इस भ्रम में नहीं पड़ा जा सकता कि उनके चिंतन का स्वरूप भी ऐसा ही है। वहां वाक्य बड़े होते हैं— मानो एक उपवाक्य ठेलकर दूसरे, तीसरे को आगे करता है। भाषा की दृष्टि से उनके शब्दों के चयन में भिन्न स्तरीयता अनायास आ जाती है। उनमें सहजता के कारण ही दो विरोधी चयनधर्मिता एक साथ भी देखने को मिलती हैं। मुक्तिबोध सघोष शब्दों और गहरी भावपूर्ण चित्रात्मक भाषा लिखने में भी बड़े दक्ष थे। इसे हम आगे उनके विविध भावभंगी गद्याशों के विवेचन में देखेंगे।

मुक्तिबोध का गद्य एक कवि का गद्य है—काव्यात्मक नहीं। निर्मल वर्मा का यह कथन एक हद तक सही है। जहां काव्य है वहां अंतर्गर्भित है। कहीं-कहीं लालित्य तक से परहेज नहीं। कहीं ऐसा भी लगता है जैसे वह कविता लिखने के क्रम में गद्य लिख रहे हों या गद्य से कविता की ओर बढ़ रहे हों। उनकी अधूरी रचनाओं को छोड़ दें तो किसी पूरी रचना में भी ऐसा लगता है कि वह बात आगे और लंबी करेंगे। कभी ऐसा करते भी हैं तो कभी उनकी बातों के छोर निकलकर कहीं दूर कविता में प्रवेश कर जाते हैं। उनके गद्य में बातों में अनेक छोर कहीं दूर जाकर उनकी किसी कविता में खुलते हैं यानी गद्य और कविता के छोर ही नहीं बल्कि उनका संपूर्ण लेखन ही आपस में बहुत घुला-मिला है। संभवतः उनकी चिंता और चिंतन के कारण ही ऐसा होता है।

चिंतन के गहन क्षणों में संश्लिष्ट अभिव्यक्ति होती है तो अर्थगर्भी, समावेशी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

और तत्समी शब्द ज्यादा आते हैं लेकिन उसी सहज प्रवाह में। वे कृत्रिम लगते ही नहीं जबकि उनके वाक्य से बाहर वे ऐसे लग सकते हैं। कुछ शब्द मौलिक और नए होते हैं तो कुछ व्यवहार में इस कदर शामिल कि ऊंचे चिंतन में उनकी उपस्थिति का हम-आप साहस भी नहीं करते। ध्यान देने की बात है कि वह चिंतन को सहज जीवन-प्रसंगों के बीच आत्मीय बातचीत के जरिए संभव करते हैं। कभी लहजा एकदम याराना भी हो जाता है। आप देखें—स्पृहाकांक्षाओं, स्थित्यात्मकता, निःस्वदृष्टि, विर्जायिष्णु, युयुत्सा, वैषम्यातिरेकों—जैसे अनेक शब्द तो कहीं— 'पता नहीं गांधार देश की यह भ्रमणशील घुमन्तू स्त्री कैसे खूंटावादी हो गई।' या मनु और श्रद्धा का झगड़ा केवल विचारधाराओं का झगड़ा नहीं है, वह दो विभिन्न 'टाइप' के लोगों का झगड़ा है। या इड़ा अपने ही समाज की विषमताओं के विभ्राट को देखकर अगतिक हो उठी है। या श्रद्धा ने मनु को रिटायर कर दिया, खुद रिटायर हो गई या अब होते-हुआते एक बात यों पैदा हुई या कड़े बालों की तेज रेजर से हजामत किया हुआ अथवा आध्यात्मिक टटपूंजियापन आज की कविता का महत्त्वपूर्ण लक्षण है।

आप सहज ही सोच सकते हैं कि परस्पर भिन्न जातीय, भिन्न स्वभाव के इन शब्दों का प्रयोग मुक्तिबोध ने इस तरह किया है कि उनमें गंभीर अर्थवत्ता और आत्मीय सहजता एक साथ चली आई है। उनकी कलात्मकता, अर्थ-व्याप्ति के साथ दीप्त हो जाती है। एक ओर इस तरह उर्दू का छोर है— 'उनके व्यक्तित्व की चंद बातें, कुछ खयालात, कुछ खैयात, कुछ तर्जो-अंदाज, कुछ तौर-तरीके मुझे पसंद नहीं आए।' तो दूसरी ओर तत्सम का— 'वह उस आवेग-उच्छल कबन्ध के समान है जो सिर कट जाने के बाद रणक्षेत्र में खून के फव्वारे छोड़ते हुए लड़ता रहता है।' आप देशज, विदेशज और तत्सम शब्दों को एक साथ घुला-मिला भी पा सकते हैं— यह बातचीत के लहजे के कारण ही संभव होता है। विद्यापति के उत्तान शृंगार के गीतों को प्राइवेटली गुनगुनाते रहने के बावजूद, आलोचना के क्षेत्र में कतिपय आलोचक शुद्धतावादी का स्वांग करते रहते हैं। आलोचना में स्वांग खूब चलता है। स्वांग शब्द शायद ठीक नहीं। होना चाहिए शब्द 'नाट्य'। (4/19) शब्दों की मुखरता के लिए एक दूसरा उदाहरण लें— 'इस शून्य के जबड़े में मांसाशी दांत और रक्तपायी जीभ है।'— शब्द मुखर हैं और किसी रोड़े की तरह गड़ते जैसे हैं। लेकिन ये क्रूरता की अभिव्यक्ति को वजनदार करते हैं और उसकी प्रकृति पर भी रोशनी डालते हैं। मुक्तिबोध एक मामले में कबीर और निराला के बाद एकमात्र ऐसे समर्थ कवि लगते हैं, जो भाषा में 'दरेरा' देते हैं। ध्यान देने की एक बात यह भी है कि वह आरामपसंद सिद्ध

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

चिंतक की तरह कहीं नहीं लगते बल्कि उनमें एक निहायत विकल और आकुल आत्मा दिखाई पड़ती है, जिसमें गहरी मनुष्यता है, जो गहरे जीवन-राग से भरा हुआ है। उसमें जीवन की जितनी गहरी करुणा है, उसमें उतनी ही गहरी आकांक्षा भी पलती है, जो उन्हें विकल किए रहती है। उनमें रचनाओं के निरंतर कांट-छांट, परिमार्जन, परिष्कार के जहां प्रमाण मिलते हैं, वहां भी उनका गद्य सायास नहीं लगता है। उनके पास बात अधिक है और अभिव्यक्ति की कोई रुकावट ही नहीं। खूब कह देने की बेचैनी बार-बार स्पष्टतः लक्षित होती है।

मुक्तिबोध के गद्य में गैर कथा लेखन के बीच जो पात्र या चरित्र आए हैं, वे खास तौर से बौद्धिक और चिंतनशील हैं। उनका चुनाव सायास किया गया है। वे विशेष मानव-मन, मानव मस्तिष्क या व्यक्ति-समूहों की, वर्गों की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं— गोकि वे अपनी निजता के साथ ही परिदृश्य पर आते हैं। वे अपनी विशेष स्वाभाविकता नहीं छोड़ते। उनकी बातचीत, संवाद या बहस में विश्लेषण की प्रक्रिया लगभग आत्मखंडनात्मक है— इससे एक तरह की नाटकीयता पैदा होती है जो गद्य को आत्मीय, आकर्षक और सौंदर्ययुक्त करती है। इस क्रम में अनेक मौलिक सवाल उभरते हैं, बहस, खंडन-मंडन का सिलसिला चलता है— कोई हड़बड़ी नहीं, यह भी जरूरी नहीं कि निष्कर्ष हाथ लगें ही। संभव है वे अनुत्तरित छूट जाएं। एक साहित्यिक की डायरी में आए पात्र-चरित्र भिन्न-भिन्न नजरियों के भी हैं। उनमें एक 'मैं' भी शामिल है। कोई जरूरी नहीं हर जगह 'मैं' मुक्तिबोध ही हों। ऐसी दो टूक राय वाली निर्लिप्त ईमानदार तटस्थता उनके निष्कर्ष और निर्णय को बहुत मूल्यवान बनाती है—बहुत विश्वसनीय भी। निर्मल वर्मा के निष्कर्षों के साथ एक दिक्कत यह भी रही है कि वह 'मैं' को यहां तक कि 'विपात्र' के 'मैं' को मुक्तिबोध मान लेते है। 'मैं' एक पात्र-चरित्र है, जिससे वह डिटैच भी हैं, अटैच भी। 'मैं' ही क्यों? अन्य पात्रों-चरित्रों पर भी उनका निजी प्रक्षेपण है— इससे इंकार नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए 'विपात्र' का जगत एक ऐसा चरित्र है, जिसमें मुक्तिबोध के स्वर भी मिलते हैं और ठीक विपरीत आचरण के प्रमाण भी। इसलिए उनके पात्रों-चरित्रों के मन्तव्य से कहीं-कहीं मुक्तिबोध के मन्तव्यों को तय करने में चूक की पूरी गुंजाइश बनी रहती है। जहां तक मुक्तिबोध में दुविधा, संशय, अनिश्चितता या द्वंद्व की स्थितियों की बात है तो ये सामान्य तौर पर वहां ज्यादा स्पष्ट रूप से उपस्थित हैं, जहां क्या, क्यों और कैसे का सिलसिला आखिरी या किसी हद को छू नहीं पाता, वहां अबूझे अनुभवों या बोध की अभिव्यक्ति के तरीके मुक्तिबोध में प्रसंगानुकूल ही नहीं होते बल्कि बेहद मौलिक भी होते हैं। 'क्लॉड ईथरली'

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के एक विशेष प्रसंग में वह काफी रोचक तरीके का चुनाव करते हैं। लिखते हैं— 'तब मुझे वह ऐसा लगा मानो वह अज्ञात साइंस के गणितिक सूत्र की अंक-राशि हो जिसका मतलब तो कुछ जरूर होता है लेकिन समझ में नहीं आता।' इसमें तनिक मतभेद नहीं कि वे पात्रों-चरित्रों में एक समर्थ कलाकार की तरह परकीयन करते हैं। उनके अंतर्मन या अंतर्यात्रा में जो बहस चलती रहती है, उसमें अपने ही विपरीत तर्क रखकर, फिर उसे काटकर प्रतिउत्तर शैली में चिंतन विकसित करते हैं। निर्मल वर्मा का विश्वास है कि आस्था और संदेह के बीच बहस चलती है क्योंकि उनमें आत्मशंका है। अगर इस बात को यहीं तक छोड़ दिया जाए—तो भ्रम की गुंजाइश हो जाएगी। क्या मुक्तिबोध में सारी आस्थाएं संदिग्ध हैं ? और समान रूप से संदिग्ध हैं ? और वे आखिर तक संदिग्ध ही रह जाती हैं ? यानी वह आस्थाविहीन या संदिग्ध आस्था के कवि या चिंतक थे ? इस पर विचार करना होगा— उसकी प्रकृति की भी पहचान करनी होगी, उद्देश्य की भी। लेकिन जब आत्मशंका या संशय को खींचकर किसी भाववादी रहस्यवादिता की ओर ढकेला जाता है, तो मुक्तिबोध अचानक किसी अनावश्यक और बेवजह विवाद में फंसा दिए जाते हैं। तब उनकी वास्तविकता को अनदेखी हो जाती है और उनका सच कुहरे में डाल दिया जाता है।

अब हम मुक्तिबोध के भिन्न भावभंगी गद्य-खंडों के व्यावहारिक आकलन की ओर आएं। उनके गद्य में तीखी नफरत और अकूत घृणा वहां देखते बनती है जहां वह मनुष्य विरोधी ताकतों, वर्गीय दुष्प्रवृत्तियों और मानवीय क्षुद्रताओं के विरुद्ध अपने भाव व्यक्त करते हैं। जिस समाज में जननेन्द्रियां भी बेची जाती है, वहां व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी बिकती है। रोष और नफरत को व्यक्त करने का यह तरीका मुक्तिबोध की लगभग हद है। वरना उनके बौद्धिक शील का उत्कर्ष तो अपनी भव्यता में उनके पूरे गद्य को ही गरिमावान करने वाला है। यह सही है कि उनमें हिन्दी जातीय गद्य की परम्परागत जिन्दादिली नहीं है, लेकिन उनके गद्य में जो खालीपन है उसकी जड़ें निश्चित रूप से हमारी जातीय धरती में ही हैं। ऐसा नहीं होता तो वह 'टटपूंजियापन' और 'खूंटावादी' का प्रयोग यों बेधड़क नहीं करते। तो मुक्तिबोध के गद्य की जमीन हमारी जातीयता की ही जमीन है क्योंकि सोच के स्तर पर लोकजन और अपनी धरती के प्रति राग तथा बेबाक ईमानदारी में मुक्तिबोध का कोई सानी नहीं। अत्यन्त मनोरम, सुंदर और खास तरह की आत्मीयता भरा गद्य लिखकर भी निर्मल वर्मा का गद्य इसी जातीय जमीन के अभाव में अपना सर्वोत्तम उत्कर्ष खो देता है, जिसे उन्हीं के समकालीन रेणु प्राप्त कर लेते हैं। गद्य की जमीन दरअसल गद्यकार के जीवन की जमीन पर ही निर्भर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

करती है।

मुक्तिबोध के व्यंग्य को देखें, जो हिन्दी के परम्परागत व्यंग्य से बिलकुल स्वतंत्र, मौलिक और भिन्न रूप में सामने आता है लेकिन आज का जमाना कैसा है, जबकि बुलबुल भी यह चाहती है कि वह उल्लू क्यों न हुई। (4/39) या 'उसमें मुझे मूर्खता के विशाल दृश्य दिखांई देने लगे। उसने अपनी बात को रबर-जैसा तान दिया— ऐसा मुझे लगा।' (4/40) 'विपात्र' में आए कुछ चरित्र लें— 'सारा चेहरा लंबी सलवटों में बांटा जा सकता है और वह ऐसा बिगड़ा हुआ सा लगता है मानो उन्होंने कोई निहायत कड़वी दवा अभी-अभी खाई हो और उसकी डकार ऊपर आ रही हो और आ न पाती हो। वह 'रसायनशास्त्री' हैं। अगर आप थोड़ा परिवर्तन करें और लिखें कि 'डकार न ऊपर आ रही है, न नीचे जा रही है।' तो यह मात्र यथार्थ स्थिति का अंकन भर होता। जिस तरह मुक्तिबोध ने लिखा उससे उपहास ज्यादा गहरा होता है— 'वे जब हंसते हैं तो ऐसा लगता है कि प्रतिध्वनि की लहरों से कहीं दरख्त ही न टूट पड़े।' आप पाएंगे इस तरह का व्यंग्य हिन्दी गद्य में सामान्यतया नहीं मिलता। रसायनशास्त्री जी, गणितशास्त्री जी के साथ चमत्कार दर्शनशास्त्री भी हैं। इन शास्त्रियों पर मुक्तिबोध अपनी निगाह शायद कुछ ज्यादा ही टिकाते हैं। उनके पास अपने को अस्तित्वहीन बनाकर, निःशेष बनाकर एक नामहीन छाया बैठी हुई है, जो इतनी पीली है कि ऐसा लगता है मरघट में से, चिता पर से अभी उठकर चली आई है। यह सज्जन गणितशास्त्री हैं। उनकी बगल में एक महोदय बैठे हुए हैं, जिनकी बैल की सी मोटी गरदन पर एक नीला रुमाल लिपटा हुआ है। यह महोदय ठिगने और चौड़े तो हैं ही, उनके चेहरे पर जडी हुई आंखें बहुत बारीक हैं और एक आंख तो है भी नहीं। उनके माथे की ढाल ऊपर से नीचे की ओर जा रही है। माथा एकदम छोटा तंग है, उसकी चौड़ाई तीन अंगुल से शायद ही बड़ी हो। सिर लगभग चपटा है और पीछे की तरफ एकदम समाप्त होता है, जिससे यह लगता है कि गरदन ही सिर पर चढ़ गई है।

यह वर्णन दोस्तोवस्की के उपन्यास 'माई अंकिल्स ड्रीम' की याद दिलाता है। उसमें भी काउण्ट का वर्णन इसी तरह से है। शास्त्रियों की ऐसी शानदार दुर्दशा, जिनमें उनका 'टेक्सचर' भी है, एक्स-रे रपट भी। इतने बारीक निरीक्षण और सघन समावेशी भाषा में कि उन शास्त्रियों की सच्ची जन्म कुंडली ही सिमट आई हो जैसे 'उसका चेहरा मजेदार है। मजेदार और दिलचस्प। कोंकण में जन्मा, शोलापुर में पढ़ा। इंदौर में शादी की। उज्जैन में नौकरी की। तब से मैं जानता हूं। अब वह छुट्टा है। उसका चेहरा दिलचस्प है। गोरा और लंबा। गाल की उपरली

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हड्डियों से ठुड्डी के समीप तक दो सलवटें और उनकी दो रेखाएं, हमेशा, एक अजीब व्यंग्य भाव को अंकित करती हुईं। नीचे का होंठ बड़ा, उपरले छोटे होंठ के आगे आकर मानो उसे दबाता हुआ। चौड़ा सपाट भाल। और लंबे-लंबे कान। सारे चेहरे पर सूक्ष्म सलवटों की आधी-दृश्य आधी-अदृश्य जाली-मानो वह सलवट-जाली मुख की त्वचा के नीचे हो।' (4/94)

यह गद्य, बेहद चुस्त है। इसके वाक्य-विन्यास विस्तार समेटने वाले हैं। ऐसी माइक्रोस्कोपिक निगाह हिन्दी गद्य में ज्यादा नहीं। यथार्थ अंकन में वह न सिर्फ परतें उकेरते हैं बल्कि व्यक्ति या वस्तु के ओट का सच भी सामने लाते हैं। उनके बाह्यजगत के वर्णन में अंतर्जगत के और अंतर्जगत में बाह्यजगत के संकेत सूक्ष्म रूप से देखे जा सकते हैं। मुझे लगता है कि मुक्तिबोध को सूक्ष्म रूप से यथार्थवादी गद्यकार कहकर नहीं टाला जा सकता।

उनकी कहानियों में या अन्यत्र भी जहां संवेदनशील गद्य आया है— वहां प्रकृति के सौंदर्य-वर्णन, प्रसंग और प्रस्तुति मुझे विशेष रूप से आकर्षित करती हैं। संक्षिप्त होकर भी वह अत्यंत सजीव और प्रभावशाली हैं और कथ्य की संवेदना को प्रभावशाली और गहरा करते हैं।

'जब मेरी धाराप्रवाह बात से वह कुछ उकताने लगता, तब वह पत्थर उठाकर तालाब में फेंक मारता। पानी की सतह पर लहरें बनतीं और डुप्प-डुप्प की आवाज।

सांझ पानी में भीतर लटक गई थी। संध्या तालाब में प्रवेश कर नहीं रही थी। लाल-भड़क आकाशीय वस्त्र पानी में सूख रहे थे और मैं संध्या के इस रंगीन यौवन से उन्मत्त हो उठा था।

इतने में शाम सांवली हो गई। वृक्ष अंधेरे के स्तूप-व्यक्तित्व बन गए। पक्षी चुप हो उठे। एकाएक सब ओर स्तब्धता छा गई। और फिर इस स्तब्धता के भीतर से एक चम्पई पीली लहर ऊंचाई पर चढ़ गई। कॉलेज के गुम्बद पर और वृक्षों के ऊंचे शिखरों पर लटकती हुई चांदनी सफेद धोती-सी चमकने लगी।' (4/77)

सहसा विश्वास नहीं होता कि यह किसी चिंतनपरक लेख का गद्यांश है। इस तरह जीवन-प्रसंगों के बीच से चिंतन के उभरने से उसकी प्रकृति भी संकेतित होती है। प्रकृति की यह सजीवता, सौंदर्य-संपन्नता जीवन से जुड़कर चिंतन की प्रकृति को सजल करती है, संवेद्य और अर्थवान करती है। दरअसल जीवन के प्रति मुक्तिबोध का बहुविध संवाद है। वह एक लेख की शुरुआत ही इस तरह करते हैं— 'पहाड़ों को तोड़कर चट्टानी दीवारों को काटकर, कगारों को ढहाकर, गूंजकर और गुंजाकर, पहाड़ी क्षेत्र की धड़कन बनकर, जो आगे बढ़

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रहा है उसी को अपनी भाषा में झरना कहते हैं।'

इसे पढ़कर हम झरने को अपनी भाषा में नए सिरे से महसूस करते हैं। मुक्तिबोध के गद्य की यह ईर्ष्या खूबी है कि उसमें तीव्र अनुभव-संवेदन और गहरी सूझ का विलक्षण संयोग है। 'विपात्र' में एक प्रसंग है— 'उसका चेहरा लंबा थां, जिस पर कुलीन अभिजात्य की आभा फैली हुई थी, जो उसकी आत्म-विश्वासपूर्ण चाल-ढाल, मजाक-भरी मुस्कुराहट और उंगलियों में फंसी सिगरेट की राख झिड़कने की तरकीबों से प्रकट हो रही थी।'

पूरा एक वाक्य है जिसमें अनेक उपवाक्य हैं। इसमें जो लंबे चेहरे वाला सामने आता है उसे उपवाक्य रेखांकित करके उसकी पहचान बता रहे हैं। उस चेहरे वाले का अतीत कुलीन आभिजात्य का है। आत्म-विश्वासपूर्ण चाल-ढाल में मजाक भरी मुस्कुराहट उसकी सारी वास्तविकता व्यंजित करती है। सामान्य लेखक इससे आगे बढ़ने की दिशा में पांव रखने को भी शायद नहीं सोचता मगर उंगलियों में फंसी सिगरेट की राख झिड़कने की तरकीबों से जो सच लाया जाता है— वह छिपा हुआ था, जिसके लक्षित होने से लंबे चेहरे वाले का अभिजात्य मूर्त्त हो उठता है। ऐसी सूझ के मुक्तिबोध के गद्य में एक नहीं, कई प्रमाण हैं।

मुक्तिबोध रचनावली के आखिरी खंड में पत्रकारिता के गद्य लेखन की ओर भी देखें तो आश्चर्य होता है कि वहां भी उनके गद्य की गरिमा और गंभीरता वैसी ही कायम रहती है। भले ही वह 'गेहूं सस्ता क्यों हो रहा है' में आंकड़े और तथ्यों का विश्लेषण कर रहे हों अथवा सर्वथा भिन्न अंतरिक्ष-यात्रा जैसे वैज्ञानिक लेख में जानकारियों को वर्गीकृत कर पूरी तफसील रख रहे हों अथवा किसी समकालीन राष्ट्रीय या अंतरराष्ट्रीय राजनीतिक समस्या के विभिन्न मुद्दों पर पूरे विस्तार से जमकर ही क्यों न लिख रहे हों। हर जगह गंभीरता कायम रहती है। यह रुचि विस्तार के ही प्रमाण नहीं बल्कि उनकी विविध गद्य लेखन के सामर्थ्य और उनकी बहुविध जागरूकता के भी साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। इन अंशों में कुछ ऐसे गद्य-खंड भी मिले, जिनकी भाषा मतवाला की सर्वोत्तम पत्रकारिता के गद्य-खंडों से काफी मिलती है। कुछ-कुछ शिवपूजन सहाय वाली छायावादी छटा लिए हुए अथवा जयशंकर प्रसाद वाली प्रांजलता वाली।

'हिन्दुस्तान जैसे देश में, जहां अनन्य भूमि है, रत्नगर्भधरित्री है, और उर्वर वसुन्धरा है, निरभ्र आकाश है, भव्य गंभीर मेघराज हैं और उत्तरस्थ हिमालय नगाधिराज है, विद्युत-शक्ति, जल-शक्ति, भूमि-शक्ति है— उस देश में अगर नौजवान के छाती की हड्डियां निकल आएं, चप्पल की कीलें पैर में लगातार छेद कर रही हों, चेहरे के बाल बढ़े हुए हों, और अगर वह एक पैसे की दो बीड़ी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पीता हुआ किसी लड़की के मुखड़े को देख सिनेमा का एकाध फोश गाना गुनगुना उठता हो तो उसके दिल की कभी चमकती हुई तो कभी फफकती हुई तमन्नाओं के ज्वार को देख हमें गुस्सा नहीं आता। उस पर गुस्सा करने वालों पर गुस्सा आता है। बल्कि उन शक्तियों की कमर तोड़ने की इच्छा होती है, उन काली ताकतों को हमेशा के लिए जमीन में गाढ़ देने के लिए भुजा ऊंची उठ जाती है, जिन्होंने मनुष्यता के रत्नों, इन नौजवानों को इस तरह पीस डाला है।' (6/34)

यह एक संपादकीय का गद्यांश है, जिसका शीर्षक रचनावली के संपादक ने दिया है 'नौजवानों का रास्ता'। आप सोच सकते हैं कि यह कैसी सहज दिनचर्या में यूं ही लापरवाही से लिखा गया होगा। पढ़कर विश्वास नहीं होता कि विद्रोह की ऐसी प्रचंड आग आजादी के पांच ही वर्ष बाद हिन्दी पत्रों में धधकने लगी थी। दूसरा गद्यांश एक ऐसे लेख से उद्धृत कर रहा हूं, जो उनके नाम से भी नहीं छपा था।

'जब वे अपने अखाड़े के अस्त्रों का जुलूस निकालते हैं और ढोलक की जुझार बेतहाशा बुलंद तड़-तड़ के छंद में लाठियों के पैंतरों की हरकत के जोशीले दृश्य दिखाते हुए आगे बढ़ते हैं। तब देखने वाले धड़क जाते हैं और किसी अबूझे जोश की थिरकन उनके रोमों में बिंध जाती या हृदय की जितनी भावात्मक शक्ति है, मन के भीतर जितनी भी सृजनशील मनोवृत्तियां हैं, वे सब अपने रूप परिवर्तित कर मात्र शारीरिक अग्नि की शक्ति की धारा में बहती हुई पैरों की उछाल भवों की तनावट, कनपटी की गरमाहट और लाठियों के इन पैंतरों में दिखाई देती हैं।' (6/46)

पूरा गद्यांश एक ही वाक्य है। आप पाएंगे इसमें भावों की कलात्मक व्यंजना अपने प्रवाह में वाक्यांशों को मानो ठेलते हुए लंबा कर रही हो। वे भावों को पूर्णता में मूर्त्त करना चाहते हैं। शब्द बेहद मुखर हैं। अगर आप इजाजत दें और मैं भोजपुरी का एक शब्द उधार लूं तो उनके गद्य में बड़े ही 'अंखिगर' शब्द आए हैं। गद्य-पटल पर वे किसी अंकुरित बीज की तरह अंखुआए हुए दीख पड़ते हैं। जीवन-प्रसंगों की संश्लिष्ट गत्यात्मकता अपने अतीत और वर्तमान के संपूर्णत्व में मूर्त्त हो उठती है। इस आसंग में मुक्तिबोध के गद्य के भिन्न और गहरे स्तरों की तलाश में हम फिर उनकी कहानियों की ओर वापस आएं। 'विपात्र' में एक अंश आया है— 'बायीं ओर अस्पताल की पीली दीवार चली गई थी, जिसके खत्म होते ही छोटे-छोटे मकान, छोटे-छोटे घर, मिट्टी के घर चले गए थे। निःसंदेह अस्पताल के पिछवाड़े की यह गली थी। दाहिनी ओर खुला मैदान था जिसमें इमली और नीम के पेड़ों के अलावा छोटे-छोटे खेत थे। एक खेत के बाद

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दूसरा खेत। ये तरकारियों के खेत थे। छोटी-छोटी मेड़ें बनीं हुई थीं। ऐसा लगता था कि ये खेत नहीं वरन कल्पनाशील चित्रकार द्वारा निकाले गए मानव-श्रम के हरे-भरे चित्र हों— सब कुछ चित्रात्मक था।'

मुक्तिबोध का तफसील में जाना गवाह है कि वह आपके साथ खुद को खेतों की मेड़ पर महसूस होते हैं। इस सूक्ष्म निरीक्षण से ऐसा लगता है जैसे वह तथ्यों में जासूस की तरह प्रवेश करते हों लेकिन तारीफ यहां है कि वह निकलते बिलकुल कवि की तरह हैं। पौधों वाले खेतों का सौंदर्य मानव-श्रम के हरे-भरे चित्रों के सदृश है। श्रम के प्रति सम्मान मुक्तिबोध ने इस तरह व्यक्त किया है— 'श्रम का कितना महान आध्यात्मिक मूल्य अवतरित होता है, वह वर्णनातीत है।' निर्मल वर्मा ने लिखा हैं कि उनके गद्य में वर्णित जीवन स्टिल है, मानो किसी घटना की प्रतीक्षा में। कुछ कहानियों को अपवाद मान मुख्य रूप से ऐसा सचमुच लगता है। जहां है वहां गद्य का शिल्प भी काफी उत्कर्ष पर है और गहरा है। 'सतह से उठता आदमी' का यह अंश देखें— 'रामनारायण के कमरे तक पहुंचने के लिए जीना हॉल पार करके जाना पड़ता। हॉल सजा हुआ है। उसकी छत से अभी भी फानूस लटक रहे थे। सबसे पुरानापन था। पुराने कांच लगे हुए थे, टेबिल लगी हुई थी, आदमकद आईने दीवारों से सटे थे, छत और दीवारों से तनकर एक कोण बनाते हुए अजीबोगरीब पुरखों की रंगीन तस्वीरें लगी हुई थीं। और सब पर सूनेपन की सांस जमी हुई थी।'

यहां अंतिम वाक्य पूर्ववर्णित परिवेश और उसकी जिन्दगी के यथार्थ को फ्रीज कर रहा है। वह एक गतांक हो चुके जीवन अतीत का सच है। उसमें पुरानेपन की स्पष्ट गंध है। कोण बनाती तस्वीरों तक चौकन्नी निगाह यह भी दर्ज करती है कि पुरखों की ये रंगीन तस्वीरें अजीबोगरीब हैं। सूनेपन की सांस का जमना बहुत ही संश्लिष्ट बिम्ब है क्योंकि वह कहानी के आसंग में विशेष अर्थवान है।

मुक्तिबोध के गद्य के स्तरों के विस्तार और वैविध्य के बीच उनकी जो एक तस्वीर उभरती है— वह है एक तीखी और गहरी निगाह वाले चिंतक की। इसलिए उनके इस पक्ष पर विचार अप्रासंगिक नहीं होगा। मुक्तिबोध के गद्य लेखन में चिंतनपरक गद्यांशों के जो बिखरे खंड हैं उनकी आंतरिक और तार्किक एकता पर विचार करें तो हम आसानी से इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि उनके विजन में संपूर्णत्व का बोध है। लिखते भी हैं— जब तक संपूर्ण मनुष्य को लेकर हम न चलेंगे, तब तक उसके किसी एक ही अंश को सर्वप्रधान बनाकर हम संपूर्ण को खंडित कर देंगे।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उनके बिखरे तमाम चिंतनपरक गद्यांशों में आंतरिक एकता का यही कारण है कि वह संपूर्णत्व के ही हिस्से हैं। निर्मल वर्मा इस बिखराव को अनुभवों की विशृंखलित अराजकता मानते हैं। तब वह यह क्यों नहीं कहते कि उनके बिखराव में दिशा बहुलता या दिशाहीनता है ? ऐसे बिखराव की उपस्थिति होती तो भेद-अभेद के विवेचन क्रम में उनके पांव-बार-बार उल्टा पड़ते। बिखराव की आंतरिक एकता उस संपूर्णत्व बोध का प्रमाण है जो किसी चिंतक को विश्व नागरिकता देता है। आप चाहें तो मान सकते हैं कि मुक्तिबोध का गद्य एक विश्व नागरिक का गद्य है।

इस संपूर्णत्व को लेकर ही सवाल का उठना स्वाभाविक है। वैसे प्रभात कुमार त्रिपाठी ने काफी पहले मुक्तिबोध पर लिखे अपने आलेख का शीर्षक ही दिया था— 'एक संपूर्ण शब्द की खोज'— यह सही था, सर्वथा उपयुक्त। अगर इसके केन्द्र में हम जीवन को रखें तो किसी विचार दर्शन या साहित्य के केन्द्र में जीवन की उपस्थिति को तो संभवत: सभी स्वीकार करेंगे। एक सवाल यह भी उठाया जा सकता है कि जीवन तो बड़ा ही वेग है। क्या इसकी दिशा व्यक्ति के स्व की एकांगी आकांक्षा या आस्था की रहस्यवादिता की ओर है ? या समाज की इकाई की शक्ल में कोई ठोस आधार भी है। मुक्तिबोध में कठोर आत्मालोचन की निर्मम वैयक्तिकता भी उनके पात्रों-चरित्रों की बहसों में लक्षित की जा सकती है। हम उनकी राय देखें। लिखते हैं— 'अपने अनुभव को ही मैं सत्य की कसौटी नहीं मान सकता, क्योंकि मेरे किसी भी अनुभव का एक हिस्सा मेरे अपने प्रकृति-स्वभाव से उत्पन्न हुआ है। हां, यदि यह अनुभव सार्वजनिक हो, आम हो, तो उसमें सत्यता की मात्रा बढ़ जाती है। फिर भी अनुभव की अंतिम कसौटी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह देशकाल निर्मित है।' (4/71)

निर्मल वर्मा इस बात को खींचकर इच्छित सोच तक ले जाते हैं कि वह स्वयं लेखक के निजी वैयक्तिक अनुभवों के सत्य में कभी विश्वास नहीं कर पाए। (कला का जोखिम, पृ. 84) 'कभी विश्वास नहीं कर पाए' अति है। मेरी समझ में वह शायद अनुभव की अखंड विश्वसनीयता के विवेकसम्मत निषेध पर जोर देते हैं, जो सामाजिक दायित्व बोध से निर्धारित होता है। वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण की एकांगिता के भी हिमायती न थे। वह मानते थे कि मनुष्यता के कारण ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी लक्ष्ययुक्त और आदर्शमय होता है। वह उसके जीवनव्यापी औचित्य की चर्चा करते हैं और यांत्रिकता का निषेध (4/219) लिखते हैं— 'वैज्ञानिक मनोभावों के अंकन मात्र से कला महान नहीं होती, जब तक कि उसमें सामाजिक तत्त्व का अभाव हो।' (5/38) वह बार-बार सामाजिक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

न्याय पर जोर देते हैं। इसके बिना चिंतन ही उन्हें दोषपूर्ण लगेगा। वह किसी सर्जक कलाकार के लिए जरूरी मानते हैं कि वह अपना तेज जनता से चैतन्यमय सहानुभूति द्वारा ही प्राप्त कर सकता है। वह मानते हैं कि जब साहित्य जीवन से प्रसूत होकर जीवन को ही प्रभावित करता है तो उसकी कसौटी भी निःसंदेह जीवन ही होनी चाहिए। लिखते हैं— 'यह जीवन वस्तुतः एक कॉम्पलेक्स चीज है। उसके विविध पक्ष और पहलू एक-दूसरे में समाहित, प्रविष्ट और परस्पर सन्निहित हैं। इस अंतिम स्तर पर बात करते हुए आप देखें कि साहित्य को हमें विविध पक्षीय दृष्टियों से देखना आवश्यक है और वस्तुतः साहित्य की कसौटी एक नहीं, न अनेक हैं, वरन अनेकों अभेद्य इकाई है।' (4/61)

'अनेकों अभेद्य इकाई' उसी संश्लिष्ट संपूर्णत्व का संकेत है। किसी एक को गिराकर समझना संभव नहीं। उनके लिए समाज एक पूर्ण और अभेद्य इकाई है। यह व्यापक शब्द भी है क्योंकि उसमें अनेक सभ्यताओं संस्कृतियों के युग समाहित हैं और अनेक का भविष्य उसी के गर्भ में पलता भी है। इसलिए समाज की अभेद्य इकाई का बोध एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। लिखते हैं— 'समाज रेत का वह ढेर नहीं जिसका प्रत्येक कण एक-दूसरे से घनिष्ठ संपर्क रखते हुए भी एक-दूसरे से विलग और स्वतंत्र रहता है। समाज एक वृक्ष की भांति है जिसका प्रत्येक भाग, प्रत्येक अंश, प्रत्येक कण और प्रत्येक बिन्दु एक-दूसरे से और अपने पूर्ण अखंड से आवयविक संबंध रखता है।' (4/193)

इसके बावजूद निर्मल वर्मा ने यह खतरनाक बात कही है और यह निष्कर्ष निकाला है कि मार्क्सवाद के अलावा कौन-सा दूसरा दर्शन हो सकता है, जो एक साथ वैज्ञानिक हो और मानव-मुक्ति के स्वप्न का वाहक भी।

मुक्तिबोध काफी दूर तक अपने इस बौद्धिक विश्वास को साथ लेकर चले थे, लेकिन इस तर्क के अंतिम छोर पर जाकर उनके सामने शंकाओं की अंधेरी खाइयां मुंह फाड़े खड़ी रही थीं। सबसे बड़ी खाई नैतिकता की थी। (कला का जोखिम, पृ. 87)

ऐसा लगता है कि मानो कोई अवैज्ञानिक दर्शन ही मानव-मुक्ति के स्वप्न का वाहक हो सकता है, जिसे निर्मल वर्मा वैज्ञानिक सभ्यता कहकर उसके वीभत्स अमानवीय और सर्वसंहारी चेहरे की चर्चा करते हैं और नैतिकता की खाई खोदते हैं, उसे मुक्तिबोध बिलकुल ठेठ और सीधे तरीके से बेहिचक पूंजीवादी और साम्राज्यवादी नाम देते हैं। वैज्ञानिक सभ्यता निर्मल वर्मा का 'टर्म' है।

मुक्तिबोध का चिंतन जीवन की जमीन पर खड़ा है। इसलिए वह मानव-

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मुक्ति के स्वप्न की तलाश में किसी भाववादी या रहस्यवादी कुंए में लुढ़क नहीं जाते जिसका आरोप स्वयं निर्मल वर्मा पर बड़े जोरदार ढंग से चिपकता है। निर्मल वर्मा ने मुक्तिबोध पर जब अपने आलेख का पाठ किया था तो कवि वेणु गोपाल ने आत्म-आरोपण की बात उठाई थी। निर्मल वर्मा को लगता है वह ऐसे मुक्तिकामी दर्शन की तलाश में अकेले हैं। उन्हें मुक्तिबोध हिन्दी साहित्य में सबसे अधिक अकेले लगते हैं। यही बात मार्क्सवादियों द्वारा अज्ञेय जी के बारे कही जाती है, वही बात निर्मल वर्मा मुक्तिबोध के बारे में कह रहे हैं। निर्मल वर्मा मुक्तिबोध की मैत्री आकुलता को मित्रविहीन मानते हैं। ऐसा करने से वह सामाजिकता, नैतिकता और निजी नैतिकता के संकट को आसानी से घालमेल कर एक कुहरीला निष्कर्ष देते हैं। मुक्तिबोध को निजी व्यक्ति-स्वातंत्र्य के सवाल से सजाकर फिर आत्मा की देहरी पर ले आते हैं—

'मुक्तिबोध ने अपने लेखन में आत्मा शब्द का सबसे अधिक प्रयोग किया है। आत्मा मनुष्य की सबसे आत्मीय चीज है और सबसे अंधेरी। वह व्यक्ति से बंधी होकर भी वैयक्तिक नहीं है, न ही किसी समूह के घेरे में आती है, क्योंकि वह मुड़कर हर व्यक्ति की निजी अंदरूनी प्राणवत्ता में वास करती है। आत्मा का एक अपना लैण्डस्केप है।' (कला का जोखिम, पृ. 88)

इस खूबसूरत गद्यांश में जो काव्यात्मकता है, उसके भीतर विचारों के खतरनाक बीज भी अंकुरित हो सकते हैं। इस निष्कर्ष से यह भी समझने की भूल हो सकती है कि मुक्तिबोध में रहस्यवादी भाववादी रूझान थी। अगर ऐसा मानें तो इसके सूत्र उनमें व्यक्तिवाद की तलाश तक जाएंगे। फिर यह भी अनदेखी कर दी जाएगी कि व्यक्तिवाद से घृणा और व्यक्ति स्वातंत्र्य का समर्थन मुक्तिबोध बिना किसी अंतर्विरोध के करते हैं। मलयज ने ठीक लिखा है, बहुत ठीक कि मुक्तिबोध का कमोबेश सभी इस्तेमाल ही करते हैं, यानी खींचतान करते हैं। गोकि निर्मल वर्मा आत्मा के प्रसंग में ऐसी खींचतान से एक सीमा के बाद बचे भी हैं। इस 'आत्मा' को लक्षित करने में वह रचना-प्रक्रिया और शिल्प पर जो टिप्पणी करते हैं तो स्वीकार करना चाहिए कि दूसरे अन्य किसी विचारक ने इस आसंग में अभी तक उनकी कहानियों को लेकर इतनी गंभीर और गहरी टिप्पणी शायद नहीं की है। लेकिन जब वह निर्मल वर्मा 'केन्द्रीय दर्शन' की तलाश और उसके भटकन की चर्चा करते हुए उसे खींचकर एक सार्वभौमिक सत्य तक ले ही जाते हैं। पूछिए ऐसी तलाश क्यों है? निर्मल वर्मा कहते हैं— शापग्रस्त, जर्जरित और सूनी जिन्दगी के कारण। अन्ततः असल सवाल को रोक भी नहीं पाते— जीवन का सार्वभौमिक सत्य क्या उन्हें मार्क्सवाद में मिल सका? निर्मल

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वर्मा की इस पूरी यात्रा का पड़ाव यही था। वह जब जीवन का सार्वभौमिक सत्य खोज ही नहीं रहे थे तो मिलने की बात ही क्या? अगर जीवन की सीमा 'स्व' है तो! मुक्तिबोध जीवन के सौंदर्य के लिए सामाजिक कुरूपताओं का खात्मा चाहते थे जिसके लिए वह विला-शक मार्क्सवाद पर ही भरोसा करते थे। इसके लिए प्रमाणों का अभाव नहीं। मुक्तिबोध संबंधी मार्क्सवादी आलोचना में काफी कुछ कहा गया है। वहां मामले का छोर दूसरी दिशा में कहीं ज्यादा बढ़ता है कि मुक्तिबोध सुसंगत मार्क्सवादी नहीं थे। मेरी समझ में यह बात बिलकुल नहीं आती कि जब आज तक मार्क्स, एंगेल्स और एक हद तक लेनिन के बाद कोई एक निर्विवाद रूप से सुसंगत मार्क्सवादी नहीं हुआ तो मुक्तिबोध को ही इसमें विवाद बलि क्यों दी जाए? कौन सुसंगतता का निर्विवाद दावा करेगा या निर्णय देगा? अगर कोई दूसरा उसकी सुसंगतता पर सवाल उठा देगा— तब क्या और कैसे निर्णय होगा? वह सुसंगत मार्क्सवादी नहीं थे या थे तो इस तथ्य के उजागर होने से उनके गद्य या कविता का कौन-सा अलक्षित वैशिष्ट्य प्रकट हो जाता है, जिसे हम जानना चाहेंगे। मुक्तिबोध इन खतरों से गाफिल नहीं थे। लिखते हैं— जड़वाद कई तरह से प्रकट होता है। वह अध्यात्म का जामा पहन कर आता है और भौतिकवाद का भी। व्यक्तित्व और ज्ञान नया कुछ सीखने से इनकार कर देता है।

मुक्तिबोध ने जिस भौतिकवादी जड़ता की चर्चा की है उसके प्रमाण उन पर लिखी कुछ मार्क्सवादी समीक्षाओं में आसानी से देखे जा सकते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि मुक्तिबोध संबंधी तमाम आलोचनाएं बिलकुल आधारहीन ही हैं। कई बातों से अहसहमति की भरपूर गुंजाइश बनती है जैसे उसका छायावाद संबंधी मूल्यांकन खासतौर से विवादास्पद रहा। छायावादी कवियों में 'जिंदगी' की 'असलियत' को 'लापता' (5/311) मानना या 'छायावाद' में भाव-पक्ष का चित्रण किया जाता है विभाव-पक्ष का नहीं। (4/269) ऐसा कहना कुछ ज्यादा कठोरपूर्ण रुख अपनाना होगा। जैसा स्वयं मुक्तिबोध का भी स्वभाव नहीं। मुक्तिबोध की प्रारंभिक कविताओं और कई गद्य-खंडों में छायावाद के स्पष्ट लेकिन सार्थक संकेत भी हैं। राजनीतिक विचारों में भी उनका यह मानना कि 'सामंती सभ्यता का विध्वंस हो चुका। नवीन पूंजीवादी समाज-रचना के भीतर राष्ट्रवाद अब जम चुका।' (4/239)

आज यह धारणा नए चिंतन के आलोक में लगभग खंडित है। ये तत्कालीन साम्यवादी विचारों की सीमाएं थीं। मुक्तिबोध मानते रहे कि सामंती व्यवस्था के लिए पूंजीवाद के देशी और विदेशी प्रहार 'प्रलय' के समान रहे। इन 'युगांतकारी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

शक्तियों' पर 'उसका कोई जोर न' रहा। सामंती व्यवस्था को वह 'विलास-भंगिमा की बारीकियों में ही डूबी हुई' मानते रहे। वह इस निष्कर्ष तक आए कि 'एकाएक बंदूकें चलने लगीं-तूफान चलने लगा, और सामंती शासन इस जल-प्रलय में सदा के लिए नष्ट-भ्रष्ट हो गया।' (4/229)

दरअसल यह विचार एम.एन.राय और रजनीपाम दत्त जैसों के प्रखर विचारों के निष्कपट प्रभाव और निर्दोष विश्वास के कारण बना। इसका भी आकलन हमें तत्कालीन समय की बोध संगति में ही करनी चाहिए।

मुक्तिबोध की राजनीतिक समझ का जो पक्ष समकालीन दलगत राजनीतिक परिदृश्य से जुड़ता है— उसमें या इतिहास के कतिपय मामलों में कहीं-कहीं नेहरू के समीप लगते हैं। उनके निधनोपरांत लिखे कुछ संस्मरणों में भी आखिरी समय वे नेहरू के प्रति सदय रहे। इसे समझने के लिए हमें उनके परिवेश का ख्याल करना होगा। वह नागपुर और राजनादगांव के जिन इलाकों में रहे, वे हिन्दूवादी गढ़ थे। वहां साम्यवादी प्रतिरोध काफी धीमा रहा और कांग्रेस अपेक्षाकृत सक्रिय प्रगतिशील ताकत रही। मध्यप्रदेश के राजघरानों की तुलना में कांग्रेस की राजनीति उनके ज्यादा करीब रही— यह स्वाभाविक है। दूसरी बात नेहरू की वैज्ञानिक और आधुनिकता भी आकर्षण का केंद्र रही। भाषा के मामले पर उनका 'विरोध' में लिखा आलेख देखा जा सकता है, जहां वह कांग्रेसी हुकूमत को गहरी आलोचनात्मकता से देखते हैं। परिवेश का यह प्रभाव स्थानिक तौर पर मुक्तिबोध जी पर अत्यंत गहरा था। वह अपने कॉलेज के जिस मकान में रहे, उसकी चक्करदार सीढ़ियां, बड़ा तालाब, नरकट के घने और फैले गुच्छे, बावड़ी, मैदान, बागीचे, सांप, साइकिल पर सांप— इन सबको देखने पर उनकी कविताओं में आई स्थानिकता समझ में आती है। अपने स्थानिक परिवेश से इतना सघन और गहरा लगाव निराला के बाद किसी दूसरे हिन्दी कवि में नहीं दिखता। एक हद तक केदारनाथ अग्रवाल में जरूर है लेकिन मुक्तिबोध में वह, उनकी चिंतन-प्रक्रिया से संपृक्त है और उनकी प्रकृति को उनकी संगति में ही प्रभावित करता है। यह स्थानिक परिवेश उनकी कविताओं में जिस तरह से आया— हम यहां उसकी सिर्फ चिंतन प्रक्रिया की संलग्नता की चर्चा करना चाहते हैं। स्थानिक का यह ध्रुव एक ओर जेनेवा से पेरिस तक, सार्त्र से दोस्तोवस्की तक फैला विश्वव्यापी दिगंत तो दूसरी ओर जाहिरा तौर पर वह एक बहुत बड़ा कैनवास रचते हैं। ऐसा दूसरों में भी संभव है मगर मुक्तिबोध का वैशिष्ट्य उसकी एकतानता में है। वे कहीं भी थोड़ी देर के लिए भी अगंभीर और कामचलाऊ नहीं होते। इसी कारण उनकी पत्रकारिता वाली रचनाएं भी उनकी असाधारण सूझ और विश्लेषण क्षमता

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

को प्रमाणित करती हैं। अपने समकालीन विश्व परिदृश्य पर इतनी सूक्ष्म और गहरी पकड़ हिन्दी लेखकों में प्रेमचंद के बाद संभवतः मुक्तिबोध की पत्रकारिता में ही दिखाई पड़ती है। पत्रकारिता की ऊंचाई उनके अन्य गद्य लेखन और कविता की ऊंचाई के समानान्तर है— इसमें दो मत नहीं। कहीं-कहीं तो उनमें अध्ययन और चिंतन की ऐसी ताकत देखने को मिलती है, जिसके निष्कर्ष का महत्त्व सहमति या असहमति पर निर्भर भी नहीं करता। उसकी टकराहट कहीं गहरे निष्कर्षों की ओर भी ले जाती है— जैसे भक्तिकाल पर लिखा उनका इकलौता लेख उनकी सघन विचारोत्तेजकता का प्रमाण है।

मेरा ख्याल है हमें आज के उलझाव, संक्रमण या ठहराव को समझने विश्लेषित करने और रचनात्मक राह को तय करने के लिए मुक्तिबोध के गद्य से गहरे और सघन संवाद कायम करने होंगे। उन्हें विश्लेषित करने, विचार करने के लिए ही नहीं बल्कि उसे स्वीकार करने और अपने बोध में शामिल करने की दिशा में भी प्रवृत्त होना चाहिए। शायद मुक्तिबोध के गद्य की हमारे समय में यह सबसे जरूरी और रचनात्मक सार्थकता है।

('पल-प्रतिपल', वर्ष 6, अंक 22, अक्टूबर-दिसंबर 1992)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जातीय परम्परा के क्लासिक कवि केदारनाथ अग्रवाल

किसी भाषा की जातीय परम्परा में ऐसे कम रचनाकार होते हैं जिन्हें जीते-जी क्लासिक गरिमा मिलती हो। सौभाग्य से हिन्दी में हमेशा ऐसा रहा है जब ऐसे रचनाकार मौजूद रहे हैं। यह बात अलग है कि इसकी परख-पहचान कभी-कभी सार्वजनीन नहीं होती और कुछ को कालांतर तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। केदारनाथ अग्रवाल हमारी भाषा के उन थोड़े से रचनाकारों में हैं, जिन्हें यह गरिमा मिली। यह सही है कि लंबे समय तक प्रगतिशील परम्परा के ही ओट में धकेल दिए जाने के कारण न सिर्फ केदारनाथ अग्रवाल बल्कि त्रिलोचन, नागार्जुन और डॉ. रामविलास शर्मा भी उपेक्षित रहे। तमाम तरह की रचनात्मक और गैर-रचनात्मक बाधाओं के साथ ऐसे रचनाकारों की एक समस्या भी रही कि उनके प्रभामंडल में ऐसे अनेक श्रद्धालु सामने आए, जिन्होंने अपनी परख क्षमता का कोई परिचय तो नहीं दिया लेकिन अपने तरीकों से कठोर पक्षधरता का प्रदर्शन जरूर किया। इन पर लिखे ऐसे लेखों की संख्या कम नहीं, जिसमें उन्हें समकालीनों के बरक्स रखकर मुठभेड़ शैली का द्वंद्व रचा गया, जिससे उनकी महत्ता सिद्ध हो सके। लेकिन उनके समकालीनों को ही लें तो इकलौते अज्ञेय जी के अलावा शायद और किसी को समय से स्वीकृति नहीं मिली। मुक्तिबोध जी को निधन के बाद और शमशेर जी को बिस्तर पर पहुंचने के बाद। त्रिलोचन, नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल की स्वीकृति प्रगतिशील काव्य परम्परा के प्रतिष्ठित होने के बाद ही संभव हो सकी। बेशक यह सब कुछ सिर्फ काल-क्षेप की विडंबनाएं ही नहीं हैं बल्कि साहित्य का समाज खुद इसका ठोस कारण रहा। अलग-अलग समय में अलग-अलग कवियों के विचार, विश्लेषण और स्वीकृति का जो भी रचनात्मक आशय हो लेकिन सच्चाई यह है कि हर कवि के क्लासिक होने के कारक एक ही नहीं होते। जिन तथ्यों से एक कवि बड़ा होता है कोई जरूरी नहीं उन्हीं तथ्यों से दूसरा भी हो। इसलिए समान गरिमा के कवियों की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

परख में परस्पर भिन्नता का सम्मान और समझ जरूरी है— तभी सार्थक निष्कर्ष निकलते हैं अन्यथा एक दूसरा अतिरेक उभरता है। एक क्लासिक रचनाकार, कभी दूसरे रचनाकार का विकल्प नहीं होता। भले ही दोनों एक ही जातीय परम्परा के रचनाकार क्यों न हों। इसलिए एक के स्वीकार में दूसरे के नकार की कोई गुंजाइश नहीं बनती। भाषा की परम्पराएं उसके रचनात्मक विस्तार और वैविध्य में ही फलीभूत होती हैं।

ऐसी बात नहीं कि केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं की परख से हिन्दी अपरिचित रही हो। कई विवेकशील कवियों और आलोचकों ने उन पर ऐसे लेख लिखे, जिससे उनके काव्य-मर्म की मार्मिक पहचान होती है। लेकिन आगे चलकर डॉ. रामविलास शर्मा के विस्तृत और बारीक तमाम अध्ययन विश्लेषणों से कुछ बातें बिलकुल साफ हैं कि उनके संपूर्ण कवि-व्यक्तित्व में सरलता और सादगी के साथ आस्था की स्थिरता और दृढ़ता है। लंबी उम्र के बावजूद मैंने कभी उन्हें झुककर चलते नहीं देखा है। वह सुदर्शन तो थे ही, उनकी गरदन अपनी राह चलते जाने वाले नायकों जैसा आत्मगौरव के हर्ष से भरी और तनी रहती है। एक खास तरह का दर्प जो उनकी आस्था से जुड़ा लगता है। लेकिन उस दर्प में एक सलीका और समझ है। उसमें अहंकार नहीं, स्वाभिमान है— एक अप्रतिहत नायकत्व का स्वाभिमान। यह उनके जीवन-व्यवहार में ही नहीं, सृजन में भी है।

दरअसल जीवन में आत्म-नियंत्रण और लेखन में वैचारिक अनुशासन से वह कभी विचलित नहीं होते। बिना डगमगाए स्थिर संकल्प और संयम के साथ उन्होंने रचनात्मक डगर की लंबी यात्रा पूरी की है। साहित्य के परिदृश्य की कोई परवाह किए बगैर बिना किसी लाग-लपेट के साहस से अपनी बात रखने में उन्होंने कभी परहेज नहीं किया। मुक्तिबोध या शमशेर पर अपनी प्रतिक्रिया बेहिचक रखने वाले केदारनाथ अग्रवाल ने निर्द्वंद्व रास्ता चुना, जिसके प्रति वह भी सशंकित या दुविधाग्रस्त नहीं हुए। डॉ. रामविलास शर्मा सहित बहुतों के लिए यह बात उनकी श्रेष्ठता का प्रमुख आधार रही, तो कुछ लोगों के लिए यही उनकी सीमा भी। वैचारिक प्रतिबद्धता और दृढ़ता के मामले में उन्होंने एकरेखीय होने के खतरे उठाए लेकिन परिवर्तन और विचलन कभी भी स्वीकार नहीं किया।

उनकी कविताओं में कुछ प्रवृत्तियां ऐसी हैं जो बड़ी प्रबलता से मुखर हुई हैं। खास तौर से मेहनतकश मजदूर और किसान की श्रम-शक्ति। उनकी कविताओं में जनशक्ति और जनसंघर्ष की प्रभावशाली अभिव्यक्तियां हुईं, जिसमें परिवर्तन के लिए अपेक्षित साहस, संकल्प और उल्लास के भी अनेक उदाहरण हैं। उनकी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

यह खूबी रही है कि वह समय के महत्त्वपूर्ण और केन्द्रीय प्रश्नों को जनता के ज्वलंत संदर्भों में उठाते हैं। ऐसा करते हुए वह विचारों को जनता के जीवन-प्रसंगों से काटकर कथन शैली नहीं अपनाते, न ही विचार-वर्णन करते हैं। वह तो बड़ी सहज मुद्रा और सरल भाषा में उस जन की पीड़ा और संघर्ष को स्वर देते हैं और बड़ी ही जोरदार साहसिकता के साथ उसके परिवर्तनकामी संकल्प से एकाकार होते हैं। यहां वह जन से जुड़कर जनता का आदमी नहीं होते बल्कि खुद जनता बनकर हंसिया-हथौड़ा उठाते हैं और विद्रोह का जयगान करते हैं। यही बात उनकी कविताओं को वैचारिकता-तार्किकता के शुष्क इकहरेपन से बचाती है। सिर्फ विचार की इकलौती राह पर अंत तक अविचलित चलते रह जाने का संयम अपने आप में न तो काव्योचित है, न ही कवियोचित। ऐसा करने वाले इतिहास की ओट से कभी बाहर नहीं आते लेकिन केदारनाथ अग्रवाल में देखें तो उनके विचार और उनकी आस्था अंदर से अर्जित भले न हो मगर उनकी चेतना से सहज स्वाभाविक रूप में अविच्छिन्न अवश्य है। आस्था, उसके प्रति निष्ठा, सायास वैचारिकता और अतिरिक्त सावधानता से नहीं आती। यहां उनकी सहज संवेदनशीलता, आस्था के प्रति अटूटपन और अनुभव की निष्कपटता ही उनकी कविताओं को दुर्लभ बनाती है। बावजूद इसके यह बात मैं विनम्रता से बेझिझक कहना चाहूंगा कि उनकी बिलकुल बाद की— अंतिम दौर की कविताओं में न तो वैसी गहरी संवेदनशीलता मिलती है, न ही जीवनानुभव में पगी अभिव्यक्ति। जिस तरह प्रारंभिक कविताओं में वह सहज जीवन प्रसंगों के बीच से भव्य और दुर्लभ बिम्ब रच जाते हैं— वह आखिरी दौर की कविताओं में नहीं दीख पड़ता। उनकी कविताओं में सहज आकर्षण वाली बारीक और विविध मार्मिकताएं भी अंत में मद्धिम पड़ गईं और वैचारिकता ही प्रमुख बन गई। तब कविता बिना बिम्ब की, नीरस और इकहरी होती गई। ध्यान देने वाली बात यह है कि ऐसा नागार्जुन के साथ नहीं हुआ। उनकी कविता में ताप या व्यंग्य बना रहा गोकि उनका प्रभाव भी पूर्व की तरह नहीं था। लेकिन केदारनाथ अग्रवाल के प्रसंग में एक बात माननी होगी कि वैचारिक स्थिरता के ऐसे उदाहरण शायद ही किसी और कवि में देखने को मिलते हैं।

केदारनाथ अग्रवाल में जातीय स्रोतों की तलाश करें तो उनकी स्थानिकता पर सबसे पहले निगाह टिकती है। ध्यान देने वाली बात यह है कि उनमें गाढ़ी स्थानिकता के बावजूद भाषा पर आंचलिकता की सघन छाप नहीं है। उनकी चेतना मूल रूप से लोकवादी है। वह बेहिचक मुक्तिबोध वाली जटिलता और दुरूहता का प्रतिकार करते हैं और सामान्यजन के मन-मस्तिष्क में उतरने वाली

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जनवादी भाषा के प्रति आग्रही होते हैं। उनका गांव, परिवेश, नदी, तालाब, कुएं या गोरी— ये सब उनकी स्मृतियों में किसी स्मारक की तरह नहीं हैं बल्कि उनकी चेतना में रच-बस कर सजल सजीव हैं। इसीलिए प्रकृति वाली कविताओं में उनकी संवेदनशीलता नए आयाम रखती है। चने या गेहूं की बालियां सुपरिचित चरित्रों की भंगिमाओं की तरह हरकतें करतीं सजीव रूप में सामने आती हैं— यह प्रकृति के मानवीकरण की सुपरिचित छायावादी शैली से बिलकुल भिन्न और नायाब बात थी। यह बिम्बों का नया विकास था— छायावादी कविता से जुड़कर भी उससे अलग और विकसित विस्तार। प्रकृति से ऐसे एकाकार अनुभवों को व्यक्त करने वाली कविताएं बहुत ज्यादा नहीं लिखी गईं। प्रकृति से सघन लगाव और संवाद की छायावादी शैली से भिन्न अनेकें दुर्लभ मिसालें उनके ही समकालीन शमशेर, त्रिलोचन और नागार्जुन में हैं लेकिन केदारनाथ अग्रवाल का रिश्ता संभवत: अपने मौलिकपन में सबसे अनूठा है।

केदारनाथ अग्रवाल ने प्रेम की कुछ ऐसी दुर्लभ कविताएं लिखीं जैसी उसके पूर्व नहीं लिखीं गईं। इस दृष्टि से अपनी पत्नी के प्रति लिखी कविताएं तो हिन्दी भाषा की मूल्यवान धरोहर हैं। परकीया प्रेम के अभ्यस्त लोगों को ये कविताएं चाहें जितनी अटपटी लगें लेकिन हमारे जातीय गृहस्थ की पारिवारिक पवित्रता और संस्कार में यकीन रखने वाले लोगों के लिए तो यह एक तरह की अनुपम भेंट हैं। शायद ही किसी कवि ने अपनी पत्नी को लेकर इतनी सजल और मर्मस्पर्शी कविताएं लिखी हों। केदारनाथ अग्रवाल हमारी जातीय परम्परा के अनुकूल बहुत खुले हृदय के रहे हैं इसलिए उनकी प्रेम संवेदना की अभिव्यक्ति में आत्म-विवृत्ति है। संस्कार और संयम ऐसा कि राग-रस की चरम अनुभूतियों की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति के बावजूद कहीं भी तनिक अराजक नहीं हुए। इन्द्रिय-भोग की तमाम उत्तेजनाओं का अतिक्रमण कर प्रेम के गहन और निष्कलुष भावों की ऐसी मनोरम अभिव्यक्तियां अन्यत्र देखने को नहीं मिलतीं। आधुनिकता के आवेग में बहकर अध्यात्म और यौनपरक कविताओं को लिखने वालों की तुलना में केदारनाथ अग्रवाल की ये कविताएं सचमुच एक आदर्श हैं।

एक विस्तृत और विविध काव्य-संसार की अनवरत और एकनिष्ठ सृजन में पूरी उम्र लगे रहने वाले केदारनाथ अग्रवाल तमाम तरह के प्रतिरोधों और उपेक्षाओं के बावजूद अविचल और अडिग रहे तो अपनी अटूट आस्था और समर्पण के ही बलबूते। वह बिना किसी समर्थन या प्रदर्शन के ही अपनी रचनाओं की बदौलत हिन्दी कविता की क्लासिक परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं— इसमें रंचमात्र मतभेद की गुंजाइश नहीं।

(दैनिक हिन्दुस्तान, 3 अप्रैल, 2000)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh Funded by IKS-MoE-2025 Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

लोकजन का सजल मन नागार्जुन

नागार्जुन प्रगतिवादी धारा के ऐसे अकेले रचनाकार हुए जिन्हें कविता और उपन्यास की परस्पर भिन्न धाराओं में एक साथ प्रतिष्ठा मिली। डॉ. रामविलास ने तो उन्हें यशस्वी उपन्यासकार से ही विशेषीकृत कर अपनी पुस्तक समर्पित की है। हिन्दी में जैसी सामान्यतया परिपाटी है, बृहद उपन्यासों की प्रतिष्ठा अपेक्षाकृत सहज हो जाती है। संयोग से नागार्जुन इस सुविधा से बरी हैं। बावजूद इसके, उन्हें प्रतिष्ठा मिली। 'बलचनमा' को तो हिन्दी के श्रेष्ठतम उपन्यासों में गिना गया। निम्न वर्ग की जिन्दगी की विपन्नता, करुणा और संघर्ष को उन्होंने स्वर दिया। किसान और कम्युनिस्ट आंदोलन के उत्कर्ष का वह लगभग दस्तावेज बन गया। बलचनमा का लड़ाकू चरित्र उसके नायकत्व को बनाए रखा। खगेन्द्र ठाकुर के संस्मरण में एक प्रसंग है— "एक दिन छात्र-लेखक ने पूछ लिया— बाबा, बलचनमा का दूसरा भाग कब लिखेंगे। बलचनमा से भेंट ही नहीं होती। इस पर बाबा ने कहा— अरे, वह एम.एल.ए. हो गया।" दरअसल कम्युनिस्ट आंदोलन के बिखराव और विभाजन ने उस प्रगतिवादी धारा को ही अवरुद्ध कर दिया जो बलचनमा के सामने आई थी। 'दुखमोचन' के बारे में नलिन जी ने टिप्पणी कर दी थी कि 'दुखमोचन कम्युनिस्ट' नागार्जुन का कांग्रेसी उपन्यास है। यह उपन्यास आकाशवाणी के आग्रह पर लिखा गया था जो धारावाहिक रूप में प्रसारित हुआ। उन्होंने खुद कहा कि अब वह ऐसी गलती नहीं करेंगे। खगेन्द्र जी के कारण पूछने पर बताया— "देखते नहीं, यह दुखमोचन कैसा चरित्र है ? आकाशवाणी की सीमाओं का ध्यान रखने के कारण यह सामुदायिक विकास योजना का नायक मेरी कलम पर सवार हो गया।" लेकिन बलचनमा, वरुण के बेटे और रतिनाथ की चाची उन्हें उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त थे।

एक उपन्यासकार के रूप में उन्हें जो सम्मान मिला उसके कारणों में मुख्य

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

था उनकी अनुभव संपन्नता। गांवों और उसके जीवन की जैसी व्यापक जानकारी और अनुभवों का जैसा विपुल भंडार नागार्जुन के पास है, वैसा कम उपन्यासकारों में मिलता है। उनके अनुभव न केवल व्यापक हैं बल्कि गहरे स्तर पर प्रामाणिक भी। यही कारण है कि अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद नागार्जुन के उपन्यास मिथिलांचल की आधुनिक जनकथाएं हैं।

नागार्जुन का नजरिया वर्गीय था इसलिए वह निम्न वर्गों और उच्च वर्गों के फर्क को चरित्रों का वर्णन से घालमेल नहीं करते, न ही गांवों को लेकर तनिक भी रोमांटिक होते हैं। बाबा बटेसरनाथ में एक कथन है— 'शहर आसमान में नहीं हुआ करते। गांव की तरह शहर भी इसी भूमि पर आबाद हैं। पढ़े-लिखे काफी ऐसे लोग हैं जो नासमझी के कारण गांवों और शहरों को परस्पर प्रतिकूल बतलाते हैं। खाना और कपड़ा की तंगी न रहे, सभी लिख-पढ़ जाएं, बाहर आने-जाने की सुविधा मिले, काम और आराम का बदस्तूर सिलसिला हो, मनोरंजन के साधन सुलभ रहें, तो फिर इन देहातों का ढांचा ही बदल जाएगा। आलस, पिछड़ापन, अभाव, अशिक्षा, अव्यवस्था, गंदगी आदि दुर्गुण हमेशा नहीं रहेंगे। अभी तो शहरों में भी नरक है और नगरों में भी। मुट्ठी-भर लोग होंगे जिनके लिए देहातों में भी स्वर्ग-सुख सुलभ है और नगरों में भी।' इस तरह वह बड़ी सहजता से साफ-साफ समाज के वर्गीय विभाजन को सामने रख देते हैं। उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनी वैचारिकता के कारण उन्हें रेणु से अलग कर देता है। सहज वर्णन शैली भी इसी कारण व्यक्त होती है। रेणु की खूबियां अलग हैं।'

तब यह जरूर है कि उनमें जितने समर्थ कथाकार की क्षमता के प्रमाण मिलते हैं, उसकी संगति में वह पूरे उपन्यास का संयोजन या संवर्द्धन नहीं कर पाए। पाए। फलतः वह अपनी ही संभाव्यता का संपूर्ण उत्कर्ष अर्जित नहीं कर पाए। अगर सूक्ष्म स्तर पर इसकी पड़ताल छोड़ दी जाए तो भी कहीं-कहीं यह लड़खड़ाहट स्पष्ट दिखाई पड़ती है। खास तौर से उनके राजनीतिक आग्रहों के आसंग में यह बात देखी जा सकती है। ऐसे प्रसंग ही विशेष तौर पर विवादास्पद हुए। यह अकारण भी नहीं। दरअसल जहां नागार्जुन दृश्यमान लोकजीवन के सजीव और जीवंत पक्षों को लेते हैं, वहां तो उनका सामाजिक यथार्थ अनुभूतिपरक रूप में व्यक्त होता है मगर जब वह सामाजिक यथार्थ को राजनीतिक यथार्थ में बदलते हैं तो उसका प्रभाव ही नष्ट हो जाता है। उनके राजनीतिक आग्रह इतने प्रबल होते हैं कि सैद्धांतिक विचारों की सरल अभिव्यक्ति में वे सामान्य कथन तक उतर आते हैं। वह उस सामाजिक जीवन के यथार्थ को अपनी मूल राजनीतिक दृष्टि से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रूपायित करने के बदले अपने पात्रों के मुंह से कहलवाने लगते हैं। यह कमजोरी 'वरुण के बेटे' में मोहन मांझी के 'भाषा' अथवा 'बाबा बटेसरनाथ' में स्वतंत्रता संबंधी संपूर्ण इतिहास के ब्यौरेवार कथन में स्पष्ट देखी जा सकती है। तब उपन्यास का कथ्य आरोपित-सा लगने लगता है। जबकि वह अन्यत्र इसी उपन्यास में लोकजीवन के सजीव चित्रण से ज्यादा प्रभावोत्पादकता पैदा कर चुके होते हैं। ऐसे अनेक स्थल उनके उपन्यासों में भरे पड़े हैं। परिवेश के सजीव चित्रण का प्रामाणिक यथार्थ और उसमें लोकजीवन का [redacted] भव्य प्रवाह सहज-स्वाभाविक रूप में व्यक्त हुआ है, न कि उनके राजनीतिक आग्रहों के सीधे कथन रूप में। इसीलिए नागार्जुन के पात्र अनेक स्थलों पर 'चरित्र' होते-होते रह गए हैं। पात्रों के विचार उनकी अपनी जीवन स्थितियों की उपज नहीं लगते। वह नागार्जुन के विचारों को वहन करते हैं। ये विचार अलग से महत्त्वपूर्ण या सही हो सकते हैं—मगर वे सच्चे स्वाभाविक नहीं लगते। इन्हें अनुभूति या जीवनानुषंगों के साथ ही व्यक्त होना चाहिए, जैसा प्रेमचंद और रेणु में होता है।

'वरुण के बेटे' को प्रभूत ख्याति मिली है और यह अकारण भी नहीं है। नि:संदेह यह उनका सबसे अधिक सशक्त उपन्यास है। यह मछुआरों के जीवन को लेकर लिखा गया है। मछुआरों के जीवन को ही लेकर तकषी शिवशंकर पिल्लै का 'चेम्मीन' उपन्यास भी है। तकषी ने करतम्मा और परी की प्रेमकथा की पृष्ठभूमि में उनके जीवन का यथार्थ चित्रित किया है। करतम्मा के अभिशप्त परिवार की जीवन गाथा में ही मछुआरों के जीवन यथार्थ को ज्यादा प्रभावशाली ढंग से देखा जा सकता है। 'वरुण के बेटे' मूल रूप में थोड़ा भिन्न है। इसमें मछुआरों के जीवन परिवर्तन की राजनीतिक कोशिश भी है, जो चेम्मीन में नहीं है। न ही उदयशंकर भट्ट की 'सागर, लहरें और मनुष्य' में आया समृद्ध, शिक्षित और आधुनिक बाजार बनते मछुआरों का समाज है। 'वरुण के बेटे' में मछुआरों के दैन्य और संघर्ष को प्रमुखता मिली है। 'चेम्मीन' छूंछा जीवन की यथार्थ पृष्ठभूमि को सामने रखता है। बावजूद इन दोनों उपन्यासों में रोचक समानता है।

इन दोनों उपन्यासों की नायिकाएं माधुरी और करतम्मा अपने ससुराल जाने के पूर्व अपने प्रेमी से एकांत में मिलती हैं। 'वरुण के बेटे' में मंगल और 'माधुरी के प्रेम की प्रगाढ़ता परिवेश की पार्थिवता के आसंग में सघन होती है। दोनों के भीतर की गहरी प्रेमानुभूतियां पूरे दृश्य में कलात्मक रूप से दीप्त हुई हैं। उसका स्पर्श भी निश्चय ही सजल और गहन है। वे निर्जन रात को अमराई में मिलते हैं। निश्चल, निष्पाप प्रेम स्तब्ध रात के एकांत में टपकते आमों से अत्यंत आत्मीय हो उठा है। धौली तेरस की गाढ़ी दूधिया चांदनी में सुनभोग आम की सघन छितनार

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

डाल और अंधेरे में मंगल-माधुरी के प्रेम-संवाद जितना व्यक्त रूप में हैं उससे कहीं ज्यादा अव्यक्त रूप में पतले अंधेरे की तरह चीरती उनकी मुस्कान जिस काव्यात्मक सूक्ष्मता से संवरती है उतना ही दीप्त होता है दोनों के भीतर का संतुलित प्रेमावेग। सहज और स्वाभाविक संकेतों में प्रकट इस प्रेम दृश्य का प्रभाव निं:संदेह अविस्मरणीय है।'

तकषी शिवशंकर पिल्लै की नायिका करतम्मा तय करके प्रेमी से मिलने नहीं जाती। शांत और एकांत समुद्र के किनारे 'परी' के प्रेमगीत उसके प्रेमावेग की ही अभिव्यक्ति हैं, जो करतम्मा को आधी रात में सागर तट की ओर ले जाते हैं। आधी रात की दुग्ध-धवल चांदनी रात में दोनों का यह मिलन दृश्य काव्यात्मक उत्कर्ष हासिल करता है। लेकिन तकषी का यह दृश्य-विधान पूरे उपन्यास में अलग से ध्यान आकृष्ट नहीं करता जबकि 'वरुण के बेटे' में नागार्जुन का यह दृश्य-विधान आपको बिलमा लेता है, पूरे उपन्यास में अलग से छनकर याद रहता है।

'वरुण के बेटे' का प्रारंभिक हिस्सा भी ऐसा ही प्रभावशाली अंश है जिसमें लोकजीवन की श्रमशक्ति, उसका जीवन-राग और उसके सौंदर्य का जीवंत चित्रण स्पष्ट 'महसूस' किया जा सकता है। अगर अंत तक ऐसी ही एकतानता बनी रहती तो उपन्यास असाधारण रूप से महत्त्व अर्जित कर लेता। लोकजीवन के मानवीय व्यापारों के वर्णन, नागार्जुन के जीवनानुभावों में पगे हैं इसमें संदेह नहीं। उनकी अभिव्यक्ति अंशों में अत्यंत सशक्त हुई है। यह भी सही है। मगर वह उठान के अनुकूल अंत नहीं कर पाते।

नागार्जुन की कविता में गद्यात्मकता पर कुछ लोग एतराज करते हैं। मगर नागार्जुन के गद्य में जो काव्यात्मक संवेदना और सूक्ष्मता है— उस पर शायद ही किसी को एतराज हो। वह वर्णन में सूक्ष्म से सूक्ष्म पर्यवेक्षण को अत्यन्त बारीकियों में जाकर पूरे तफसील से करते हैं। वहां उनका वर्णन-वैभव उनके अकूत अनुभव संसार को ही प्रमाणित करता है। खासकर लोक-अंचल के परिदृश्यों या मछली मारने जैसे व्यापारों के वर्णन-क्रम में वह न सिर्फ रमते हैं बल्कि बिहरते भी हैं। एक बार रामविलास जी ने मेरी उपस्थिति में नागार्जुन जी से मैथिलों के आम और मछली प्रेम को लेकर बड़ा ही आत्मीय मजाक किया था। सचमुच नागार्जुन में मिथिला की अमराइयां, कोयल की कूक से गुंजरित मिथिला मन और मिजाज को खोलती हैं। यहां आम लोक स्वाद से पगकर आए हैं। उनके विविध किस्मों के रूप-रंग और स्वाद के अनुभव हैं। वैसे ही जैसे मछलियों की जाति-उपजाति के साथ मछली के प्रति लोक-राग भी आया है। लालच ऐसा कि होंठ पर चिपके

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पोठी मछली के पोशता सरीखे दाने को भी वह आंखों से ओझल नहीं होने देते।

ताल-तलैया वाले इस जनपद में तालमखाना या ऐसे जी जलोत्पन्न अन्य पदार्थों के रागानुराग अपने पूरे यथार्थ और जीवंतता में रचे गए हैं। निश्चय ही ऐसे रमने-बिहरने वाले स्थल हैं, जो आपको नए अनुभवों से समृद्ध करते हैं। लेकिन फिर बात उसी पूर्व एकतानता की आती हैं। सब कुछ प्रायत्निक लगता है। कलात्मक भावन नहीं हो पाता।

नागार्जुन के उपन्यासों में आए तमाम प्रकृति चित्रणों को ध्यान में देखने पर एक बात स्पष्ट लगती है कि उनमें छायावादी भाव लालित्य है। लेकिन वे प्रगतिवादी होने के कारण रोमांटिक नहीं होते। वह प्रकृति वर्णन में बहकते नहीं इसीलिए इसमें अनावश्यक विस्तार नहीं होता। उनके ऐसे स्थलों के गद्य में छायावादी गद्य का प्रभाव और विकास दोनों देखा जा सकता है। 'बाबा बटेसरनाथ' में झींगुरों से झनझनाती रात के वर्णन को देखें। उनके ऐसे गद्य में आश्चर्यजनक रूप से प्रसाद जी जैसी प्रांजलता और निराला जैसा ऊबड़-खाबड़पन एक साथ मिलता है। यह गद्य वैविध्य जातीय गद्य परम्परा का ही विस्तार है। यह खूबी अलग से रेखांकित करने योग्य है। तत्सम और तद्भव दोनों तरह के शब्दों के सहज संतुलित प्रयोग से आत्मीय प्रभाव पड़ता है।

बाबा बटेसरनाथ में एक महत्त्वाकांक्षी कृति की तरह भव्य प्रस्तावना तो होती है मगर उसका विनियोग और पल्लवन नहीं हो पाता। निश्चय ही लोककथा का तत्त्व-रूप बरगद के पिता होने में था जिसकी गोद में गौरेए का अनाथ बच्चा भी पल रहा है। लेकिन गांव और देश के इतिहास को जिस तरह बरगद प्रवाचक रूप में व्यक्त करता है उसमें उसकी गरिमा ही नष्ट हो जाती है। बरगद की बातें इतिहास का ब्यौरेवार आकलन भर होकर रह गई हैं। नागार्जुन भी अपने पात्रों को लोकजीवन से ही उठाते हैं—मगर वह जीवनानुभव की बातें कम, किताब की बातें ज्यादा बोलते हैं। घटनात्मक सपाटता तिथिवार वर्णन न होकर अगर जीवन का जीवित साक्ष्य होता तो अतीत को अभिनित करता तो निःसंदेह बात ज्यादा प्रभाव छोड़ती। पौराणिक परम्परा-सी इस लोकरूपक कथा में निःसंदेह बड़ी रचना की बीज संभावना थी— बहुत बड़ी कृति की! मगर कुछ ही दूरी तक जाकर नागार्जुन पूरी तरह भिन्न राह पकड़ लेते हैं। बरगद अपने जन्म की जिस विस्तार में चर्चा करता है, मामूली बीज से अपार संभावना भरी इसकी जन्म-कथा में पूरा का पूरा लोक संस्कार रूपायित हो जाता है। बरगद के कुलगोत्र की विस्तृत चर्चा में रोचकता के साथ-साथ नई कथाभूमि के सृजन की सार्थक शुरुआत थी मगर वह फिर एकतानता खोकर सामाजिक प्रसंगों को अनमेल ढंग

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

से चिपकाते चलते हैं। उनका रचनात्मक कलाकार अनुपस्थित रह जाता है।

जैकिसुन का बरगद के प्रति मोह, पिता से प्राप्त परम्परागत ही नहीं है— स्वयं संपर्क बोध से भी पैदा हुआ है। गौरेए के बच्चे को मातृत्व सा दिया बरगद का आश्रय मन को छूता है। यहां तो नागार्जुन ने बरगद के मन को टटोला है। उसे संवेदना से मानवीय किया है। बरगद में जितनी दूर तक मन या संवेदन का प्रत्यारोपण है, उतनी ही दूर तक प्रभाव सफल होता है। मगर मस्तिष्क के समाते ही बरगद पढ़ा-लिखा मार्क्सवादी प्रवाचक बनकर अपनी सहानुभूति, संवेदनशीलता और प्रभाव की विश्वसनीयता खो देता है।

कहीं-कहीं तो वह पात्र पर अपनी पकड़ इतनी ढीली छोड़ देते हैं कि पात्र एक नाम भर रह जाता है, मनुष्य का व्यक्तित्व खो जाता है, जैसे करीमबख्श। यह मुसलमान नाम भीड़ में इसलिए गिनाया गया-सा आता है, जैसे जतलाने की कोशिश हो कि शोषितों में मुसलमान भी हैं, जो संघर्ष में शामिल हुआ। रेणु ऐसा नहीं करते। वह किसी पात्र-चरित्र की आइडेंटिटी खत्म नहीं करते बल्कि बनाते हैं। पुरुष, औरत, बच्चे, बूढ़े, युवक, युवती-सभी वय के लोग इस संघर्ष में शामिल हैं। यह बोध उपन्यास में वर्णित मानव-व्यापार के अनुषंग में नहीं बल्कि सामान्य और सपाट कथन में लाया गया है। प्रसंगानुकूल भाषा और अनुभूति आवेग का स्वाभाविक बदलता प्रवाह भी इस उपन्यास में दोषपूर्ण है। उदाहरण के लिए जैकिसुन के स्वप्न प्रसंग को लिया जा सकता है। जैकिसुन स्वप्न में बाबा बटेसरनाथ से मिलता है। मगर स्वप्न की अपनी स्वभावगत गतिमयता, अक्रमबद्धता या त्वरित प्रवाह वर्णन में आता ही नहीं। सिर्फ कथाकार के साफ-साफ लिखने के कारण ही यह बात पाठक जानता है कि यह सब कुछ स्वप्न में ही घटित हो रहा है। वर्णन, भाषा या गद्य कौशल से ऐसा प्रभाव पड़ता नहीं लगता।

ऐसे विचलनों से काफी अलग, नागार्जुन का उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' है। 'बाबा बटेसरनाथ' की तुलना में यह ज्यादा जीवंत और बेहतर उपन्यास है। एक वाक्य में कहा जाए तो 'रतिनाथ की चाची' मानो मिथिलांचल के लोकजीवन का जीवित कोश हो। इसमें रतिनाथ, जयनाथ और चाची सिर्फ पात्र नहीं, प्रभावशाली चरित्र हैं। मिथिला की मिट्टी की उपज जिनके जीवन व्यापारों में मैथिल रीति-रिवाज, शील-संस्कार, लालच और कुटिलता— मसलन लोकजीवन की संपूर्ण भाव-भंगिमा जीवंत हुई है। विधवा स्त्री की पीड़ा अपनी पूरी मार्मिकता के साथ उभरती है।

इसमें मिथिला की मिट्टी के प्रति जबरदस्त मोह है। मूल्यहंता जयनाथ ने बड़े ही सजल और मार्मिक ढंग से इस मोह को व्यक्त कर जो प्रभाव छोड़ा है,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वह अविस्मरणीय है। यथार्थ का आग्रह इतना प्रबल है कि वह काफी विस्तार में जाकर लोकजीवन की परत-दर-परत उकेरते हैं और भौगोलिक पहचान को भी प्रस्तुत करते हैं। यह यथार्थ के आसंग में महत्त्वपूर्ण है। मिथिलांचल के गुह्य-गह्वरों की जानकारी चकित करने वाली है। यहां यह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि ये तमाम बातें मूलकथा के अनुषंग में आई हैं। इन्हें आरोपित नहीं किया गया है। विधवा चाची के मार्मिक जीवन-प्रसंग में लोकजीवन की रूढ़ियों, अंधविश्वासों की जकड़न को वह परत-दर-परत खोलते हैं। यह सामाजिक यथार्थ-जीवन की ओर से व्यक्त होने के कारण ही एक करुण प्रभाव छोड़ता है। इसलिए नागार्जुन में जीवन जल, जहां जिस रूप या मात्रा में है, वह अत्यंत प्रभावशाली और प्रामाणिक है। जहां उनके आग्रह विचारों के प्रभाव में हैं, वहां वह प्रभावहीन लगते हैं। नागार्जुन के उपन्यासकार की मूल विसंगति यही है।

(1991 'सापेक्ष-34' जनवरी-मार्च 1995, नागार्जुन विशेषांक में संकलित)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

त्रिलोचन का गद्य

अपने समकालीन कवियों की तरह त्रिलोचन ने भी गद्य रचनाएं कम नहीं लिखीं, लेकिन बतौर संकलन सिर्फ देश-काल की कहानियां ही हैं। वैचारिक लेखों या डायरी अंशों का छिटपुट प्रकाशन जब भी हुआ, उसने लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। बावजूद इसके, उनका संकलन अभी तक नहीं छपा। कम से कम वे लोग इसे कतई महत्त्वहीन भी नहीं मान सकते, जो कवि त्रिलोचन को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। शायद इसका कारण समकालीन परिदृश्य में किसी कवि के कविता आकलन को ही संपूर्ण मान लेने से है। किसी कवि की गद्य रचनाओं की उपेक्षा कर सिर्फ उसकी कविता पर ध्यान केन्द्रित करना हमेशा उसके हित में नहीं हो सकता।

समकालीन कवियों में मुक्तिबोध, अज्ञेय, शमशेर और नागार्जुन के गद्य को छोड़कर किसी कवि का गद्य, अलग से महत्त्व हासिल नहीं कर सका। यह स्वाभाविक भी था। लेकिन उन कवियों जो उनकी कविता की तुलना में अपेक्षाकृत गौण हैं, ज्यादा ही उपेक्षित रहा। शमशेर का गद्य दिनों तक डॉ. रामविलास शर्मा के 'प्लाट का मोर्चा' की भूमिका से बोध में टंका रहा लेकिन उनकी गद्य रचनाओं के संकलन सामने आते ही स्थिति में परिवर्तन हुआ। मुक्तिबोध के साथ भी रचनावली प्रकाशन से स्थिति बदली। मैं यह नहीं कहता कि हर कवि का गद्य उसकी कविता की तुलना में या एक-दूसरे की तरह समान महत्त्व का होता है। लेकिन किसी भी महत्त्वपूर्ण कवि की अगर गद्य रचनाएं हैं तो उस कवि के सम्यक मूल्यांकन में उनकी भूमिका नजरअंदाज नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि अक्सर ही वे बड़े काम के सिद्ध होते हैं।

यह बात सही है कि मुक्तिबोध, अज्ञेय और नागार्जुन की कविता और गद्य का जितना समान महत्त्व है— वैसी बात त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल के साथ नहीं। इनकी कविता और गद्य के महत्त्व में फर्क अपेक्षाकृत् ज्यादा है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

इनकी केन्द्रीय पहचान पूरी तरह कविता पर ही निर्भर करती है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि जो है, जितना है— उसका महत्त्व कई दृष्टियों से अत्यन्त उपयोगी और जरूरी है। इस नाते उनका संकलन सुलभ होना चाहिए और इनके सम्यक मूल्यांकन में उसे शामिल करना चाहिए, तभी उनका आकलन संतुलित हो सकता है।

त्रिलोचन का गद्य सामान्य अर्थों में एक कवि का गद्य नहीं है। एक हद तक नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल का गद्य भी ऐसा ही है। तीनों के गद्य में उनकी कविताओं की तरह जातीय बोध की समानताएं हैं। अपनी निजी पहचान के बावजूद इनकी समानताएं अपने समकालीनों में इन्हें एक साथ करती हैं। बहरहाल! हम त्रिलोचन के गद्य को देखें तो एक बात स्पष्ट होती है कि उनके गद्य में सचेत लेखन की एक अलक्षित कोशिश है। उनका गद्य कहीं ऊबड़-खाबड़ या विषम नहीं है जैसा कि निराला या मुक्तिबोध के साथ है। लेकिन त्रिलोचन के गद्य का वैशिष्ट्य यह है कि इस सावधानता से कहीं भी कृत्रिमता नहीं आती। उनकी कविता में जो सहज प्रवाह या गतिमयता मिलती है, वहां वह इतने सिद्धहस्त हैं कि बाहरी तौर पर बेफिक्र लापरवाही भी दिख सकती है। बेफिक्र लापरवाही के ऐसे खूबसूरत संकेत उनके गद्य में प्रायः नहीं मिलते। गोकि राह छोड़ बहने वाली सहजता भी, कहीं-कहीं बंध-तोड़ प्रवाह के रूप में आती है लेकिन वहां भी वह अथाह की ओर नहीं बढ़ते। ज्यादा सच यह कि जल में तैरने की कला, हाथों पर भरोसा और सचेत कोशिश, उनके गद्य में अलक्षित रूप से मौजूद रहती है। कहीं-कहीं उनकी कोई शैली सार्थकता और सौन्दर्य पैदा करती है तो वहीं दूसरी जगह दोष! उदाहरण के लिए 'लय की लोक परम्परा' निबंध और उनकी अनेक कहानियों को भी देखें— लेख में गप की दिलचस्प और आत्मीय शैली सहज सौन्दर्य बनती है, कहानियों में ज्यादा या अनावश्यक लगने लगती है। त्रिलोचन में गद्य सधा है लेकिन वह जगह और जरूरत पर मुक्तिबोध की तरह अतिक्रमण नहीं करते। इसलिए गद्य में वैविध्य और भिन्न स्तरीयता नहीं मिलती।

त्रिलोचन की कविताओं को पढ़ते हुए अक्सर मेरे भीतर 'कविता का गद्य' जैसी कोई बात कौंधती है। उनकी कविताओं में चरित्र, घटना या वर्णन का जो विस्तार मिलता है, उन पर अगर ध्यान केन्द्रित करें तो अपनी अभिधा में वह बेहद सरल लगते हैं। लेकिन वह सरल नहीं होते। उनके भीतर सहज प्रवाह की गति और अर्थगुंफन की जटिलताएं मौजूद हैं। यहां हम मलयज की पहचान 'औसत भारतीयता' को शामिल करें। इस 'औसत भारतीयता' के साथ मैं भोजपुरी के और एक शब्द को जोड़ने की इजाजत चाहूंगा— खांटी! उनकी 'औसत भारतीयता'

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

खांटी है लेकिन परिष्कृत भी।

त्रिलोचन का गद्य एक गद्यकार का गद्य ज्यादा लगता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उनके गद्य में कवि एकदम अनुपस्थित है। वह भाषा के स्तर पर नहीं उतरकर भिन्न स्तरों पर दिखाई पड़ता है, जैसे 'संबंध' कहानी में। इसका चित्रकार अपनी नि:संगता को तोडकर जीवनचर्चा की विशेष घटनाओं से संबंध जोड़ता है। लेकिन फिर बदले हुए रूप में नि:संग होता है तो अपने जीवन की व्यर्थता का बखान करता है। उस समय उसकी अनुभूति प्रक्रिया एक कवि की हो जाती है। वह हल्का-सा भावुक होता है। अनुभूति या संवेदना में जो कवि-भाव हो, भाषा के स्तर पर ऐसा विचलन नहीं होता। वहां कविता अंतर्मुक्त है और दृष्टि में सूक्ष्मता से दीप्त हुई है। उदाहरण लें— 'जीवन ने सांसों से मौन की भाषा में चिल्लाकर पूछा था, कहां जाऊं, जहां संकट न हो। कहां जाऊं, जहां दबाव न हो? अथवा उसके अटूट मौन में गाढ़ संबंध का अनुमान निश्चित कर लिया।' ऐसे उदाहरण और हैं— दूसरी कहानियों में भी। जीवन का 'सांसों से मौन' की भाषा में चिल्लाकर पूछना अर्थगर्भी ही नहीं है, चाक्षुष भी है। यहां जो अलक्षित है उसका बिम्बन हुआ है। यहां गद्य में कविता की ऊंचाई आ जाती है, कविता ही आ जाती है। मुश्किल यह है कि पूरी कहानी यह ऊंचाई नहीं हासिल नहीं कर पाती जो उनकी ऐसी गद्य क्षमताओं को अद्वितीय बना सके।

त्रिलोचन बातूनी माने जाते हैं और उनसे मिलने वालों के पास उनके अनेक सुरक्षित संस्मरण होते हैं। न सिर्फ कहानियों में बल्कि लेखों में भी इसके लक्षण दिखाई पड़ते हैं। लोग निर्विवाद मानते हैं कि त्रिलोचन बातूनी इतने शानदार हैं कि अगर झूठे किस्से भी उनकी जुबान से गुजरें तो सच लगें। उनके आत्मीय, जीवन्त और चाक्षुष कथन में झूठ और सच का फर्क घुल-मिल जाता है। ये सुंदर और दिलचस्प सलीके उनके वैशिष्ट्य को ही नहीं, उनके स्वभाव को भी संकेतित करते हैं। लेकिन त्रिलोचन की ये कहानियां जिनमें बातूनीपन या गप के प्रभाव-संकेत हैं— झूठ नहीं हैं। ये आदमी के सच की कहानियां हैं। इसमें गप का हिसाब गड़बड़ नहीं होता क्योंकि समय और विषय का एहसास कहीं ओझल नहीं होता। संतुलित गद्यकार का समर्थ स्वभाव ही सामने आता है। यहां उनकी प्रतिबद्धता के प्रति सचेत होना भी बहुत काम आता है।

त्रिलोचन के गद्य का प्रभाव-संकेत कई रूपों में है। उनमें एक है बात-दर बात कातने का बारीक कौशल। देश-काल की पहली कहानी 'अपनी इज्जत आप करो' इसका स्पष्ट उदाहरण है। बात-दर-बात कातने का बारीक कौशल जैनेन्द्र जी की तरह विचार से विचार कातने वाला नहीं है। उसकी सार्थकता उद्देश्य की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रतिबद्धता के कारण है और यह कौशल चित्रण के जीवंत यथार्थ को मूर्त करने में दिखाई पड़ता है। उनमें वस्तुपरकता तो है लकिन ये बारीक अंकन अलग से असाधारण गद्य क्षमता के प्रमाण को रखते हैं, मगर अपनी रचना में संपूर्ण व संयोजन की संगति में श्रेष्ठता हासिल नहीं करते।

त्रिलोचन ने एंक बार कहा था कि तुलसीदास हिन्दी के सबसे पहले और बड़े गद्यकार हैं। यह अटपटी लगती स्थापना दरअसल त्रिलोचन के अपने स्वभाव का सच ही खोलती है। गद्य की वैसी तात्विकता के प्रति, वस्तुपरकता के प्रति त्रिलोचन खुद सचेत हैं। उनकी इन कहानियों को पढ़ते हुए भले आपको हिन्दी कहानी का कोई परिदृश्य या कोई प्रवृत्ति याद न आए, लेकिन आश्चर्य है उनकी कहानियां विजातीय हरगिज नहीं लगतीं। दरअसल त्रिलोचन गांव के जनसंकुल अलाव या बैठकों से आए बड़े ही चतुर सुजान लगते हैं। दूसरे को छलने वाला काईयांपन उनमें बिल्कुल नहीं है और न ही खुद छले जाने वाला भोलापन! उनकी अथाह अनुभव सपंन्नता में विपुल मानव-प्रसंग हैं, चरित्र हैं और है संस्मरणों, गपों, किस्सों कहावतों, कथाओं का जखीरा। शुरू हुए कि रोचक बतकहियों का सहज और आत्मीय सिलसिला रुक नहीं पाता, थक नहीं पाता और न ही खत्म होता है। वह समाज और जीवन के कोनों-अंतरों से जुटाए या जुड़े किस्से हैं जो भले काल्पनिक हों, होते सच हैं। इन्हीं अर्थों में त्रिलोचन का लेखन विशेष अर्थ में मुकम्मिल गद्य है— औसत भारतीयता का खांटी जातीय गद्य!

(ऋतुगंध, 9 अक्तूबर 1989)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रेणु की ग्रामीण संवेदना

हिन्दी के ग्राम्य जीवन पर लिखने वाले रचनाकारों के क्रम में 'रेणु' का नाम एक ऐसे समर्थ रचनाकार के रूप में लिया जाता है, जिन्होंने ग्रामीण जीवन को एक विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति दी है। एक ऐसी अभिव्यक्ति जिसमें गंवई आत्मीयता की जातीय गंध थी और यही सोंधी गंध रेणु को शेष ग्रामीण कथाकारों से भिन्न करती है और बहुत दूर तक विशिष्ट भी। उनकी यह मौलिकता सिर्फ शिल्प तक नहीं थी बल्कि अंतर्वस्तु के स्तर पर उन्होंने उस ग्रामीण समाज के यथार्थ को सामने रखा, जो अमूमन अब तक अनदेखा रहा था। जातिगत समाज की सोच और व्यवहार को उन्होंने अलग से छिपा कर नहीं देखा बल्कि सहज स्वाभाविक व्यवहार क्रम में ही रूपायित किया। इस दृष्टि से रेणु संभवतः हिन्दी ग्राम्य कथा-साहित्य के पहले रचनाकार हैं, जिनमें गांवों की परिवर्तित, अनगढ़ राजनीतिक चेतना का स्वरूप अपनी पूरी गत्यात्मकता में रूपायित हुआ और यही पक्ष रेणु को विशेष रूप से रेखांकित करता है। साथ ही उन्होंने भारतीय ग्रामीण समाज को किसी विचार विशेष से प्रभावित होकर नहीं देखा। वह वर्गीय नजरिया भी प्रचलित स्तर पर नहीं अपनाते। वह जातीय संरचना के जटिल यथार्थ को उघाड़ते हैं। यह एक ऐसा यथार्थ है, जो रेणु के पहले अपने वास्तविक रूप में कहीं नहीं आया था। यह रेणु के सामाजिक यथार्थ का एक नया आयाम था। लेकिन रेणु की आलोचना के क्रम में अक्सर यह चूक होती रही कि उनके आलोचक स्थूल दृश्य-विधान, छोटे-छोटे घटना क्रम और प्रकृति-परिवेश के यथार्थ चित्रण को ही अंतिम उपलब्धि मान लेते रहे, जबकि ये सारे तत्त्व तो शिल्प-संरचना के सौंदर्य भर हैं। रचना की आत्मा तो अव्यक्त मानवीय संवेदना में छिपी हुई है— चरित्रों के व्यवहार और बोध में है। दरअसल रेणु की यह ऐसी कलाकारोचित गीतात्मकता है, जो स्वभावतः पाठक को बिलमा लेती है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कोई रचनाकार सिर्फ इससे विशिष्ट नहीं हो जाता कि उसने कितना यथार्थ चित्रण किया है, क्योंकि यथार्थ चित्रण में रचनाकार का दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण होता है। यथार्थ का स्वरूप, उसकी प्रकृति भी इसी पर निर्भर करती है। यथार्थ चित्रण रचनाकार का अंतिम लक्ष्य नहीं होता। असल बात तो यथार्थ के पीछे छिपा अर्थबोध है, जिसमें मानवीय संवेदना का सारतत्त्व हो— भले ही उस रचनाकार की प्रतिबद्धता भिन्न हों। इसी से जुड़ी बात अभिव्यक्ति के स्तर पर उसकी अनुभूतिशीलता के सामर्थ्य की है। यह सब न तो सोच-विचार की प्रायत्निकता से संभव है, न ही इसका कोई सुज्ञात सरलीकरण वाला मार्ग होता है। यह सब अलक्षित रूप में रचनाकार की चेतना में ही आकार ले चुका होता है अथवा रचना-प्रक्रिया में आकार लेता चलता है। मानवीय संवेदना भी कोई अबूझ और अस्पष्ट तत्त्व नहीं है, उसका निर्धारण भी युग के सापेक्ष होता है क्योंकि वह परिवर्तन की सतत प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है। फलत: उसके मूल में ही नएपन का आग्रह जुड़ा रहता है। प्रख्यात रूसी विचारक बेलिंस्की ने एक अच्छी बात कही है कि 'साहित्य के लिए हमेशा एक नया मॉडल चाहिए और सबसे नया मॉडल है प्रकृति। प्रकृति में भी सर्वाधिक शुभ्र और नया मॉडल है मनुष्य!' प्रकृति और मनुष्य का यह संकेतित नयापन प्रतिपल परिवर्तित प्रक्रिया का प्रतिफलन है और यही प्रक्रिया मानवीय विकास को एक गति देती है।

आधुनिक समय में परिवर्तन की यह गति शहरी जीवन की अपेक्षा गांवों में ज्यादा गूढ़, गहरी और जटिल हुई है। शहर का यथार्थ ज्यादा जटिल और आधुनिक होता है तथा गांव का सरल और पिछड़ा। विवेक एक रचनाकार का नहीं होता। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण रेणु हैं। 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' का यथार्थ क्या सरल है ?— रेणु और निर्मल वर्मा को आमने-सामने रखकर इस पर रुचिकर बातें की जा सकती हैं। रेणु बेहद नफीस कलाकार थे, शिष्ट भी, नाजुक भी। यह अकारण नहीं था कि अज्ञेय और निर्मल वर्मा जैसे रचनाकार उन पर मुग्ध थे।

रेणु अपने यथार्थ चित्रण से विशिष्ट नहीं होते बल्कि गांवों की सतत परिवर्तित जीवनधारा की अभिव्यक्ति उन्हें विशिष्ट बनाती है। वह अपने चरित्रों को उनकी वैयक्तिक निजात में पूरी गरिमा से उठाते हैं और साथ-साथ उसे सामाजिक लोक व्यवहार में भी परखते चलते हैं। इससे उनकी निजी, जातीय और वर्गीय भूमिका भी स्पष्ट होती जाती है। यही कारण है कि उनकी दृष्टि पूरे समाज की यथार्थ संरचना तक विस्तार पाती है। उनके उपन्यासों में ऐसे ही मनुष्यों की छोटी-छोटी अनेक दुनिया हैं। वह उन सबको गूंथकर एक समुच्चय

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

खड़ा कर देते हैं। ये तमाम जिन्दगियां उनकी मोहक और मनोरम भाषा में सजीव हो उठती हैं। ऐसा लगता है मानो उनके चरित्र चलते-फिरते महसूस हो रहे हों। उनका गद्य हमें इसी कारण सहज ही आत्मीय बना लेता है।

इसमें दो राय नहीं हो सकती कि रेणु की सर्जनात्मक प्रतिभा अपना सर्वोत्तम ग्रामीण जीवन में ही हासिल करती है। उनमें एक तरह की शहरी रोमानियत भी थी— इससे इंकार नहीं किया जा सकता। लेकिन यह रोमानियत उन्हें गांवों के रूप-रंग तक ही सीमित नहीं करती। वह उन्हें गहरे आत्मसात कर लेती है। जानने वाले जानते थे कि गांव के लिए उनके भीतर कितनी विकलता थी। उनकी चेतना उसी गंवई मिट्टी से सनी और उसी पर पनपी थी वरना वह इतनी तरल, इतनी बारीक नहीं होती। उनके वर्णन में अक्रमबद्धता की तलाश करने वालों को अपनी निगाह उसके भीतर सूक्ष्म स्तर पर प्रवाहित जीवन पर ले जानी चाहिए, जहां रेणु ले जाते हैं। वह अपने सभी चरित्रों, घटनाओं और दृश्य-विधानों के पर्सनल गवाह होते हैं। वह प्रेमचंद से अलग राह पकड़ते हैं। इसी कारण उनकी संवेदना की तरलता अर्थवती भी होती है। निर्मल वर्मा ने उन्हें संत कलाकार कहा है। एक सचेत मूकदृष्टा और संत कलाकार का फर्क ही प्रेमचंद और रेणु का फर्क है।

प्रेमचंद की ग्रामीण चेतना रेणु की तरह उससे संपृक्त नहीं है। उनके चरित्र सामाजिक अंतर्विरोधों से अपना स्वरूप ग्रहण करते हैं। फलतः उनमें व्यक्ति और समाज का द्वंद्व एक संगति में अभिव्यक्त होता है। 'गोदान' में होरी का बांसों की बिक्री में बेईमानी करना और उसके भाई द्वारा होरी की गाय को जहर देना—ये दोनों स्खलित पात्रों के चारित्रिक नमूने हैं— लेकिन इनमें एक सूक्ष्म अंतर है। होरी के चरित्र स्खलन में अर्थ की भूमिका है जबकि उसके भाई में मानवीय दुष्प्रवृत्ति का। ये दोनों ग्रामीण चरित्र अपनी रूपात्मक पहचान में विजातीय नहीं होते, बल्कि सामान्य-सहज होते हुए सार्वजनीन पहचान बनाते हैं। जबकि रेणु सामाजिक प्रतिबद्धता के बावजूद चरित्रों को थोड़ा विशिष्ट करते हैं। दरअसल रेणु जिन चरित्रों को चुनते हैं— वे उनके पूरे कैनवास में रेयर होते हैं। वह चाहे 'मैला आंचल' का बावनदास हो या 'परती परिकथा' की ताजमनी या 'तीसरी कसम' का हीरामन अथवा 'ठेस' या 'रसप्रिया' का कलाकार। इतना ही नहीं उन चरित्रों से अपने लगाव के कारण ही रेणु उनकी सुरक्षा भी करते हैं। इसीलिए रेणु में सामाजिक अंतर्द्वंद्व चरित्रों की दृष्टि से प्रक्षेपित होता है। घटना, परिवेश या दृश्य-विधान से उत्पन्न आत्मीयता प्रकारान्तर से चरित्रों को ही पुष्ट करती है। इसलिए रेणु के कई चरित्र एक साथ बहुत ही प्रभावशाली लगते हैं और उनकी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

छाप भी गहरे उतरती है।

कथा-शिल्प की दृष्टि से रेणु की ग्रामीण संवेदना उनके दृश्य-विधानों के बाहुल्य में खुलती है। प्रेमचंद में ग्रामीण चेतना सपाट किस्सागोई का स्वरूप ग्रहण करती है और अर्थ-दर्शन का विस्फोट चरित्रों की आपसी टकराहट में होता है। रेणु में कथा प्रत्यक्षत: असंबद्ध होती है। वह कथा की चिंता नहीं करते गोकि अप्रत्यक्षत: उनमें एकता के तंतु मौजूद हैं, जिनका एक अपना क्रम होता है। इसलिए उनकी रचनाओं में मानव जीवन के प्रवाह पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। चित्रण का चटकीलापन प्रत्येक दृश्य-विधान में जो सौन्दर्य पैदा करता है, उसकी सबसे बड़ी खासियत यह है कि उनमें मानव जीवन के रंग की पुनरावृत्ति नहीं होती और ऐसे ही रंगों की अंतहीन समृद्धि रेणु के गद्य को आत्मीय बनाती है। इसलिए उन दृश्य-विधानों में रंगों की परत-दर-परत अपनी पूरी संपन्नता और सौंदर्य के साथ उनके गद्य को दुर्लभ बनाती है। प्रेमचंद से रेणु तक आते-आते गांवों में भारी बदलाव आए। राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर भी काफी फर्क आया। आर्थिक समीकरणों में भी बदलाव शुरू हुए। इन सबका असर मनुष्य के चरित्र पर पड़ा और आपसी व्यवहार पर भी। आप अगर ध्यान दें तो 'मैला आंचल' से 'परती परिकथा' तक के विस्तार में इस बदलाव को आसानी से पहचान सकते हैं। इन्हीं अर्थों में आंचलिकता के बावजूद रेणु की रचनाएं पूरे देश की ग्रामीण चेतना का जीवित दस्तावेज बन गईं।

रेणु की संवेदना की मौलिक प्रकृति की पहचान 'मैला आंचल' या 'परती परिकथा' से तो सहजतापूर्वक हो ही जाती है, लेकिन उनकी अपेक्षाकृत कम ख्यात दूसरी रचनाओं में भी यह संभव है। इससे उनके स्वभाव की विश्वसनीयता बनती है। हम उनकी लघु कृति 'जुलूस' को ही उठाकर देखें तो वहां भी उनकी वही विशिष्ट संवेदना मुखर हुई है। 'जुलूस' का पहला अंश है— "आज वह हल्दी चिरैया फिर आयी है? बरसात-भर यह रोज इसी तरह समय-असमय आएगी और किसी पेड़ की डाली पर भीगती हुई या पंख सुखाती हुई सुरीले स्वर में एक लंबी पंक्ति दुहराएगी— संस्कृत श्लोक की कड़ी का 'काकस्य परिवेदना...' पता नहीं क्या बोलती है।"

रेणु का दृश्य-विधान उन्हें पीछे-पीछे लिए चलता है। टॉलस्टाय ने अन्ना कारेनीना के बारे में एक खूबसूरत बात की थी— पता नहीं, अन्ना मुझे कहां लिए जाती है। हल्दी चिरैया की परिवेदना उनकी आत्मीयता बटोरती है— लेखक का विश्वास है— वह संस्कृत श्लोक की एक कड़ी दुहराएगी— काकस्य परिवेदना...। लेकिन खाली जगह (....) बन जाती है— 'पता नहीं क्या बोलती है चिरैया?'

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

यह खालीपन आगे चलकर नायिका पवित्रा के चरित्र को रूपायित करता है। लेखक की दृष्टि में चिरैया के सुरीले स्वर और भीगते पंख नहीं छूटते। यही कारण है कि नवीनगर के शरणार्थियों में शांत और सुशील और तटस्थ युवती पवित्रा से लेखक की आत्मीयता गहरे जुड़ जाती है— जयराम सिंघ ने बताया, "वही पाकिस्तानिया सब। कहते हैं कि रात में कॉलोनी में जाना मना है, बहुत बड़ा कानून है। लेकिन एक बात सवा सोलह आना ठीक है जो असली बंगालिन है उसको एड़ी तक केश हैं।"

ध्यातव्य है, एड़ी तक केश वाली बंगालिन पवित्रा। यह पवित्रा शारीरिक आकर्षण की केंद्र होकर विशिष्ट हो जाती है। आगे चलकर लेखक उसके भीतर प्रवेश करता है और पवित्रा एक विशिष्ट नायिका बनती है जिसकी पीड़ा में समझौते की बेबसी है। वह पाप और नैतिकता के प्रति तटस्थ होती है, बावजूद इसके उसकी मूक पीड़ा हमें झकझोरती है। बाहर-बाहर पत्रकार नरेश वर्मा के प्रेम प्रकरण की रोमांटिकता में घुलकर भी अतीत में दर्द में घुटती-सी है। अंदर ही अंदर कुछ टूट गए की कसक होती है जो रह-रहकर सालती है— जबकि बाहर से सब कुछ समतल दिखता है। पवित्रा स्कूटर के पीछे अतीत को छोड़ने का एक जबरन बहाना बनाती हुई अपने भीतर की आंधी को छुपाए रहती है। लेकिन लेखक की आत्मीयता के कारण वह कहीं-कहीं रेणु की पवित्रा भी बन बैठती है— जहां वह उसे मित्र धरातल पर लाने की कोशिश करता है।

पवित्रा को बस इसी एक बात का गहरा दुःख होता है कि गांव के लोगों का यहां की मिट्टी से मोह क्यों नहीं होता? वह कौन-सा दरवाजा है इनके दिल का जिसे खोलने के लिए पवित्रा कुंडी खटखटावे किस दरवाजे की?— दरवाजे की तलाश लेखक की है। प्रारंभ की मूल कथाधारा बदल जाती है और पवित्रा की यह पीड़ा— उसकी वैयक्तिक पीड़ा के सामने थोड़ा कम प्रभावशाली रह जाती है, क्योंकि पवित्रा की तलाश में समर्पण नहीं होता और न ही वह छटपटाहट मुखर होती है, जो गांवों की मिट्टी के प्रति लेखक पैदा करना चाहता है।

पवित्रा कोई जवाब दे— इसके पहले ही छिदामराय अपने पेट पर से गंजी हटाकर सटे हुए पेट पर हाथ फेरते हुए बोलता है— असली चीज है पेट, बेटा! ई साला पेट के वास्ते जो करना पड़े! हल्दी चिरैया फिर बोली— काकस्य परिवेदना..., ?"

छिदामराय का गंजी हटाकर पेट दिखाना सिर्फ प्रदर्शन नहीं है बल्कि इस नाटकीय प्रभाव से एक झटका-सा लगता है। ऐसे कारगर झटके रेणु में बहुतायत से मिलते हैं। कारगर इसलिए कि शैली की गीतात्मक कोमलता और ऐसे झटकों

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh. Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

की तीक्ष्णता के कंट्रास्ट में रचना गहरे मर्म को छू लेती है। सतह ही तरह संवेदित चटकीला रंगारंग प्रवाह अचानक खंडित हो जाता है और इस खंडित होने की मार्मिकता अपना पूरा प्रभाव छोड़ जाती है।

इस तरह रेणु की वैयक्तिकता सामाजिक प्रतिबद्धता के आड़े नहीं आती, क्योंकि वह यांत्रिक सामाजिकता की जंजीरों में समस्याओं को कसने की असफल और अनावश्यक कोशिश नहीं करते बल्कि पात्रों के मार्फत उस केन्द्रीय धुरी की तलाश करते हैं जो इन समस्याओं के मूल में होती है। यह तलाश ही रेणु की छटपटाहट है और इसकी कोशिश ही उनकी रचनाओं को गति देती है।

(फरवरी 1979, संकलित रेणु कृर्तत्व और कृतियां 1983)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जाति के बाहरी और भीतरी जगत को निर्निमेष ताकती रहती है और जिसकी पुतली पर अंकित सारी छवियां अमर-अमिट बन जाती हैं और यह आंख सघनतम की भी आंख है।

अद्‌भुत वैचारिक तेजस्विता और शोध-निष्ठा का समाहार करते हुए कर्मेन्दु शिशिर अपने सृजनशील चित्र की सहज प्रेरणा से हिन्दी की जातीय गद्य परम्परा का ऐसा मानचित्र प्रस्तुत करते हैं, जिसमें भारतेन्दु, प्रेमघन, राधाचरण गोस्वामी, सत्यभक्त, नवजादिक लाल श्रीवास्तव से लेकर शिवपूजन सहाय, बेनीपुरी, आचार्य नलिन जी, मुक्तिबोध, रेणु, नागार्जुन, त्रिलोचन और रामविलास शर्मा तक शामिल हैं। इस परम्परा के निर्माण में पीर मुहम्मद मूनिस, हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' तथा जगदीशचन्द्र माथुर सरीखे तपस्वियों का भी योगदान कम नहीं, जिन्हें कर्मेन्दु श्रद्धापूर्वक याद करते हैं। आज भी इस परम्परा को जाग्रत और देदीप्यमान रखने में कई लेखकों और विद्वानों का महत्त्वपूर्ण योग है।

इस पुस्तक को पढ़ना अपनी महान गौरवशाली जातीय परंपरा का, अपने वंश-वृक्ष की जड़ों का पावन स्पर्श करने जैसा अनुभव है। यह हिन्दी नवजागरण और गद्य परम्परा का 'सैरबीन' है और खुर्दबीन भी। निश्चय ही नवजागरण एक असमाप्त अध्याय है— एक ऐसा पाठ जिसकी रचना एक बार फिर आज आवश्यक और जीवनदायी है। अपनी अनुपम कथा-दृष्टि से कर्मेन्दु शिशिर ने हिन्दी जनपद के पिछले डेढ़ सौ वर्षों के आंदोलनों, स्वप्नों और बौद्धिक श्रम-संवेदों को इन पृष्ठों में अंकित कर दिया है। नवजागरण के वैचारिक घूर्णों और घात-प्रतिघात की गहन पड़ताल के लिए कर्मेन्दु शिशिर के पास तद्नुकूल भाषा भी है, तीक्ष्ण और मुहावरेदार।

यह पुस्तक नवजागरण में खुलती आंख पर पड़ने वाली प्रथम रश्मि को पहचानने का और बाद को खुलती धूप के ताप को मापने का महत्त्वपूर्ण उपक्रम है।

—अरुण कमल

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कर्मेन्दु शिशिर

ज्न्म : 4 जनवरी 1954 ई.

सम्प्रति : बी.डी. इव. कॉलेज, मीठापुर, पटना–1 में हिंदी प्राध्यापक

कृतियां: कोचान की धार (उपन्यास), कितने दिन अपने (कहानी–संग्रह), बची रहेगी ज़िंदगी (कहानी–संग्रह), नवजागरण और संस्कृति (आलोचना)

संपादनः मतवाले का मत, मतवाले की बहक, मतवाले की चक्की, मतवाले की होली, भोजपुरी होरी गीत (दो भाग), बसंत गीत, भोजपुरी चइता, समय की आवाज राधाचरण गोस्वामी की चुनी रचनाएं

पुस्तिकाएं : मतवाला–मंडल, साम्यवादी, सवाल सिर्फ भाषा का नहीं, हमारी भाषा

समीक्षा : राम की शक्ति–पूजा, मतवाले की पिटारी (प्रकाश्य), कुछ कहानियों का देशी–विदेशी भाषाओं में अनुवाद, कुछ लेखों का अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद।

आधार प्रकाशन प्रा. लि.
एस.सी.एफ. 267, सेक्टर–16
पंचकूला–134 113 (हरियाणा)

Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Fu